[illegible handwritten note]

dlimpse of countries and peoples who had much to teach them. Iore and more, too, wen to Britain and elsewhere overseas t tudy. Nigerians were transformed by this sudden wealth of n xperience of every kind.

Materially, too, the country was transformed, as roads, railway nd bridges opened up the interior. Thousands and thousands mall-scale farmers, relieved from the fear of war and the slave aid, learned how to profit from cash-crops, and their childre arned more formally in the schools that sprang up in every village Many acquired new trades and skills. Some became train or lorr drivers, some went to work in mines or factories. They began t ead newspapers, and, later, to listen to the radio. The more the ead and listened, the more they learned.

And gradually—very gradually—Hausas and Fulanis, Yorub and Ibos, Efiks and Ijaws and the tribes of the 'Middle Be became aware of an entirely new conception—the [illegible] at all hem belonged to a single country; that, regardless of tribe, Nigerians. With that realizat[illegible]

Chief Awolowo arrives at an election meeting by helicopter.

रट
क्लि
केवल १) रु०
स्तुत किया
है जिसमें
से
ध्वनि
केवल
न्य सभी प्रकरण,
लेङ्ग आदि का अत्यन्त
र किया गया है ।

विश्वनाथतर्कपञ्चानन-रचित

न्यायकारिकावली (भाषापरिच्छेद)

तथा उसकी टीका

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

का

हिन्दी अनुवाद और व्याख्या

दार्शनिक आलोचना और विवेचना सहित

लेखक

अध्यापक धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री

तर्कशिरोमणि, एम. ए., एम. ओ. एल.

अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, मेरठ कॉलिज

सन् १९५३ ई०

प्रकाशक :—
मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स
नेपाली खपड़ा, बनारस ।

प्रथम संस्करण—
मूल्य ५)
कपड़े की जिल्द ५।)

मुद्रक
सरस्वती प्रेस,
मेरठ ।

जिनके लिये यह पुस्तक तैयार की गई उन

अपने (१९५२–५३) एम. ए. श्रेणी के

प्रिय छात्रों —

कुमारी कणिका मित्र

श्री केशवराम पाल

श्री त्रिलोकीनाथ

श्री नारायणस्वरूप

श्री रणजित्

श्री अङ्गिरादेव

श्री कृष्णलाल

श्री कैलाशचन्द्र

श्री जगदीश

श्री रमाशङ्कर

श्री वेदप्रकाश

श्री सुरेन्द्रनाथ

को

प्राक्कथन

पिछले वर्ष मेरठ कॉलेज के एम॰ ए॰ के छात्रों को न्याय-शास्त्र का विशेष पत्र लेने के लिये प्रोत्साहित किया गया। उस पत्र के तीन ग्रन्थ थे :— न्यायवात्स्यायनभाष्य, धर्मकीर्त्ति का न्यायविन्दु और न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली प्राचीन न्याय का ग्रन्थ होते हुये भी नव्यन्याय की जटिल प्रक्रिया से परिपूर्ण है। छात्र घबराने लगे, उन्हें क्लास में आवश्यक नोट लिखाने आरम्भ किये गये। फिर यह ध्यान आया कि क्यों न इस जटिल ग्रन्थ की विशद व्याख्या हिन्दी में प्रकाशित की जाय। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली न केवल न्याय-वैशेषिक अपितु भारतीय-दर्शन-शास्त्र का द्वार है। उसका भारतीय-दर्शन में वही स्थान है जो व्याकरण में सिद्धान्तकौमुदी का। संस्कृत ग्रन्थों के विख्यात प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास फर्म के अध्यक्ष श्री सुन्दरलाल जी ने यह व्यवस्था की कि क्लास के अध्यापन के साथ-साथ पुस्तक छपती जावे। इस प्रकार छपा हुआ न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली का प्रत्यक्ष खण्ड हिन्दी व्याख्या सहित प्रकाशित किया जा रहा है। यों तो यह भाग 'प्रत्यक्ष खण्ड' कहलाता है परन्तु वह भ्रमपूर्ण है, क्योंकि प्रत्यक्ष निरूपण तो उसके केवल अन्तिम भाग में है। प्रारम्भ की पदार्थ-प्रस्तावना में न्याय-वैशेषिक का लगभग सारा ही विषय संक्षिप्त रूप से आ जाता है।

न्याय-वैशेषिक का मर्म समझने के लिये यह भी आवश्यक है कि सारे भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की रूपरेखा को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय, और न्याय-वैशेषिक के इतिहास और सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जाय। इसीलिये न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की व्याख्या के साथ साथ सामान्य रूप से भारतीय दर्शन-शास्त्र और विशेष रूप से न्याय-वैशेषिक शास्त्र की भूमिका के रूप में "भारतीय दर्शन-शास्त्र— न्याय-वैशेषिक" नामक ग्रन्थ इस ग्रन्थ के लेखक के द्वारा और इस ग्रन्थ

के प्रकाशक द्वारा इसी ग्रन्थ के साथ प्रकाशित किया जा रहा है।[1]

मुक्तावली के आधुनिक युरोपीय और आधुनिक भारतीय भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित हुये हैं, परन्तु दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या से विहीन केवल अनुवाद मात्र इस ग्रन्थ के समझने में उतने सहायक नहीं हो सकते। हिन्दी में दो तीन बार बहुत पहिले अनुवादों के साथ साथ कुछ व्याख्या भी प्रकाशित हुई थी; परन्तु उनमें अधिकतर 'पण्डिताऊ' ढंग का शब्द-विवेचन-मात्र था, दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन नहीं था।

यह ग्रन्थ एम. ए. श्रेणी के १९५२–५३ वर्ष के छात्रों को अर्पण किया गया है। यह उचित ही है क्योंकि उन्हीं के उद्देश्य से यह पुस्तक तैयार की गई थी। विश्वनाथ ने 'राजीव' नामक शिष्य के प्रति करुणायुक्त हो उसे न्याय-वैशेषिक का तत्त्व समझाने के लिये न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली की रचना की थी, वर्तमान लेखक को भी 'राजीव' के समान अपने प्रिय छात्रों के लिये यह ग्रन्थ लिखना पड़ा। इस पुस्तक के तैयार करने में मेरे प्राचीन छात्र तथा वर्तमान सहाध्यापक प्रो० शिवराज शास्त्री एम. ए. का तो लगातार साथ रहा ही है, परन्तु एम. ए. श्रेणी के सभी छात्रों ने, विशेषकर श्री रणजित् एम. ए. और श्री केशवराम पाल एम. ए. ने विशेष परिश्रम किया है।

प्राचीन पद्धति से पढ़ने वाले, विशेषकर प्रारम्भ में, दर्शन-शास्त्र जैसे विषय का भी अध्ययन रट कर ही करते पाये जाते हैं। उनमें दार्शनिक बुद्धि का विकास नहीं हो पाता। उस दिशा में छात्रों को कुछ लाभ हो, इस आशा से यह न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की हिन्दी व्याख्या लिखी गई है।

श्री गांधी जयन्ती २/१०/५३
कपिलवस्तु, मेरठ

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री

---

[1] भारतीय दर्शन-शास्त्र न्याय-वैशेषिक प्रो० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री रचित, मूल्य २।।) बढ़िया संस्करण ३) रु०, प्रकाशक — मैसर्स मोतीलाल बनारसीदास, नेपाली खपड़ा, बनारस।

विषय-सूची

		पृष्ठ
प्राक्कथन	....	v
विषय-सूची	....	vii
पाठकों के लिये कतिपय निर्देश	....	ix
शुद्धिपत्र	....	x

		पृष्ठ
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली टीका का मङ्गल	....	१
कारिकावली का मङ्गल	....	४
पदार्थों का विभाग	....	१७
शक्ति और सादृश्य को अलग पदार्थ मानने की शङ्का	....	१८
उपर्युक्त शङ्का का उत्तर	....	२१
द्रव्यों का विभाग	....	२४
दसवें द्रव्य तमस् को मानने की युक्ति का खण्डन	....	२८
गुणों का विभाग	....	३०
कर्मों का विभाग	....	३१
सामान्य का निरूपण	....	३२
जातिबाधक संग्रह	....	३५
पर और अपर जाति	....	४१
विशेष का निरूपण	....	४४
समवाय का निरूपण	....	५२
वैशिष्ट्य नामक सम्बन्ध मानने की शङ्का का उत्तर	....	५८
अभाव का विभाग	....	६४
पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य का कथन	....	७६
कारणता का निरूपण	....	९२
समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण के लक्षण	....	९५
असमवायिकारण का निरूपण	....	९६

	पृष्ठ
निमित्तकारण का निरूपण	.... ११०
अन्यथासिद्ध	.... १११
पुनः साधर्म्य वैधर्म्य निरूपण	.... ११२
पृथिवी का निरूपण	.... १५७
पृथिवी के नित्य और अनित्य दो प्रकार	.... १६७
अवयवी और परमाणु की सिद्धि	.... १६८
अनित्य पृथिवी के तीन प्रकार, देह, इन्द्रिय और विषय	.... १८२
जल का निरूपण	.... १९३
तेजस् का निरूपण	.... २०३
वायु का निरूपण	.... २१३
आकाश का निरूपण	.... २१८
काल का निरूपण	.... २२४
दिक् का निरूपण	.... २२६
आत्मा का निरूपण	.... २३२
विज्ञानवाद का खण्डन	.... २४४
अद्वैतवाद का खण्डन	.... २५६
सांख्यमत का खण्डन	.... २६७
ज्ञान के विभाग	.... २७८
प्रत्यक्ष निरूपण	.... २८६
निर्विकल्पक ज्ञान	.... ३००
प्रत्यक्ष के अन्य हेतु	.... ३०६
व्यापार (सन्निकर्ष) के छै प्रकार	.... ३१३
अलौकिक सन्निकर्ष (ज्ञानलक्षण, सामान्यलक्षण और योगज)	.... ३३३
सामान्यलक्षण सन्निकर्ष का निरूपण	.... ३३३
ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष का निरूपण	.... ३४२
योगज सन्निकर्ष का निरूपण	.... ३४७
नामानुक्रमणी	.... ३४९
आदर्श प्रश्न	.... ३५९

पाठकों के लिये कतिपय निर्देश

पुस्तक का क्रम यह रक्खा है कि पहिले मोटे टाइप में मूल संस्कृत, फिर उससे कुछ पतले टाइप में हिन्दी अनुवाद और फिर पतले टाइप में उसकी हिन्दी व्याख्या और कहीं कहीं उसके बाद आलोचना भी दी है। यह स्पष्ट है कि विद्यार्थियों को बिना व्याख्या पढ़े अनुवाद समझ में नहीं आयेगा। परन्तु फिर भी यह आवश्यक है कि पहिले अनुवाद पढ़ा जाये जिससे कि यह पता चल जाय कि यहाँ क्या विषय है। उसके बाद व्याख्या पढ़नी चाहिये और व्याख्या पढ़ने के बाद फिर अनुवाद पढ़ना चाहिये और तब वह ठीक-ठीक समझ में आयेगा। कहीं कहीं अनुवाद का विषय इतना जटिल और दुरूह प्रतीत होता है कि व्याख्या के बिना उसका कुछ भी अर्थ समझ में न आयेगा। ऐसे स्थलों पर लिख दिया है कि 'देखो व्याख्या'।

अनुवाद को स्पष्ट करने के लिये उसमें कुछ ऐसा अंश डालना पड़ता है जो कि मूल में नहीं है, ऐसे अंश को प्रायः कोष्ठक के भीतर दिया गया है; इसी प्रकार अनुवाद में कहीं यह दिखाने के लिये कि अमुक 'अर्थ' अमुक 'शब्द' का है उस 'शब्द' को भी कोष्ठक में डाल दिया है।

एक और बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है। कहीं कहीं एक ही शब्द दो भिन्न-भिन्न अर्थों में आया है, उसका ध्यान रखना आवश्यक है। उदाहरणार्थ— 'रूप' शब्द किसी पदार्थ के एक विशेष गुण के लिये आता है, जैसे घटरूप अर्थात् घट का 'रूप' नामक गुण। परन्तु 'रूप' शब्द किसी पदार्थ के स्वरूप निर्देश में भी आ जाता है जैसे 'घट का दण्ड रूप जो कारण' ऐसे स्थल पर यही अर्थ होता है कि 'दण्ड' स्वरूप अर्थात् 'दण्ड' नामक व्यक्ति 'घट' का कारण है, न कि दण्ड का 'रूप' नामक गुण। यह बातें ध्यान से पढ़ने पर प्रकरणवश स्वयमेव स्पष्ट हो जायेंगी।

———

शुद्धिपत्र

कृपया पुस्तक प्रारम्भ करने से पूर्व ही अशुद्धियों को शुद्ध करलें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४	११	आकश	आकाश
४७	१३	अणुओं में	अणुओं में तथा मनस्
५५	११	सम्नन्ध	सम्बन्ध
५६	१६, २२	बिना	विना
५८	२	सम्मन्ध	सम्बन्ध
६६	१२	ससर्गाभाव	संसर्गाभाव
६६	२१	बहुव्रीहि	बहुव्रीहि
७०	२१	ससर्गाभाव	संसर्गाभाव
७२	१	गभाव	प्रागभाव
७३	३	पटात्यान्ताभाव	पटात्यन्ताभाव
६०	१२	अनुमति	अनुमिति
६७	६	रहता हो	रहता हो और कारण हो
६७	१८	असवायिकारण	असमवायिकारण
६८	१	भिन्न वस्तु	भिन्न वस्तु है
६६	१	होंगे	होंगे, इस प्रकार ज्ञान आदि भी इच्छा आदि के असमवायिकारण होंगे।
१०३	२४	कारणै कार्थप्रत्यासत्ति	कारणैकार्थप्रत्यासत्ति
१०६	मानचित्र का ऊपरी सिरा	(तन्तु और पट का समवायिकारण)	(तन्तुरूप और पट का समवायिकारण)
११०	८	पं भिन्न	पर भिन्न

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११४	४	शब्द का आकाश के प्रति	आकाश का शब्द के प्रति
१२६	७	किया	क्रिया
१३६	११	अव्याप्यवृत्ति)	(अव्याप्यवृत्ति)
१३६	२३	नहीं	हैं
१४६	१०, ११	गुरूणी	गुरुणी
१४७	२३	तेजत्व	तेजस्त्व
१५१	१६	वाह्म	वाह्य
१५२	१४	ह वही हस्वत्व	है वहीं ह्रस्वत्व,
१५२	२३	'महत्परिमा'	'महत्परिमाण'
१५३	मानचित्र	अणुप रमाण	अणुपरिमाण
१६२	११	नानारूपवता	नानारूपवती
१६३	३	द्व्यत्व	द्रव्यत्व
१६५	७	व	एव
१६८	१३	माम्	मानम्
१६८	२४	परमाण	परमाणु
१७६	२	परमाण	परमाणु
१७६	२	सिद्ध	सिद्धि
१७६	३	त्र्यणक	त्र्यणुक
१७६	१२	ठक	ठीक
१९०	२५	क्यकि	क्योंकि
१९१	१०	हे वाभास	हेत्वाभास
१९१	२७	भा अभव्यञ्जक	भी अभिव्यञ्जक
१९१	२७	परतु	परन्तु
१९२	६	भा	भी
१९२	११	यदृष्टाधानं	यदृष्टाधीनं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६५	२२	वीररसादाबम्ला-द्युपलब्धेर-	जम्बीररसादावाम्ला-द्युपलब्धेरा-
१६६	१६	अभा वर	अभास्वर
१६७	१८	ह ने	होने
१६७	२७	'जलत्व'	'जन्य जलत्व'
१६७	२७	चाहिये	चाहिये और जन्यजलत्व से अवच्छिन्न जो जल (अर्थात् जन्य जल) उसकी जनकता का अवच्छेदक 'जलत्व' को समझना चाहिये।
१६८	६	हैं	हैं, घृत आदि में भी उसके अन्दर विद्यमान जल का ही स्नेह होता है, क्योंकि जल स्नेह का समवायिकारण है इस लिये जल में ही स्नेह है, यह मानना चाहिये। 'द्रव्यत्व' इस अंश की व्याख्या की जाती है।
१६६	१२	ताखे	तीखे
२०१	३	विषय	विषयं
२०६	२२	हाती	होती
२१०	३	हाने	होने
२१०	२५	तैजस्	तैजस
२१४	४	उत्पन्न	उत्पन्न न

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१८	१२	प्राणदि	प्राणादि
२१६	५	व्यभिचारवारणाया-	व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम् । पटरूपादौ व्यभिचारवारणाया-
२१६	१७	आकाश में शब्द के सिवाय)	(आकाश में शब्द के सिवाय)
२१६	२४	(द्रव्य	(द्रव्य)
२२०	६	समवायि कारण	समवायिकारण
२२१	१२	याग्य	योग्य
२२३	१८	कैो	कैसे
२२४	२०	तस्याश्रियत्वमपि	तस्याश्रयत्वमपि
२२६	६	उत्तरसंयागावच्छिन्नं	उत्तरसंयोगावच्छिन्नं
२२७	२	सयोग	संयोग
२२८	१३	द्वितीय	द्वितीय
२२८	१३	द्वारा	द्वारा
२२८	२०	प्रागभाव	प्रागभाव
२२८	२६	कवल	केवल
२२६	२४	दूरन्तिकादिधीहेतुरेका	दूरान्तिकादिधीहेतुरेका
२३१	१	प्राचीप्रत च्यादि	प्राचीप्रतीच्यादि
२३३	४	त्वीश्वरे	त्वीश्वरे
२३३	४	जातिनास्त्येव	जातिर्नास्त्येव
२३३	११	चक्षुराद नां	चक्षुरादीनां
२३३	१४	अधिष्टाता	अधिष्ठाता
२३४	११	बिना	विना
२३४	१४	समवायि कारण	समवायिकारण
२३४	१५	दुःख का	दुःख की

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३५	२५	विना	बिना
२३६	८	ज्ञानवत्व	ज्ञानवत्त्व
२३६	२१	चेत्र	चैत्र
२३६	२२	स्थाविरे	स्थविरे
२३७	१	तद्धेतुत्वात्तदानीभिष्ट-	तद्धेतुत्वात्तदानीमिष्ट-
२३८	१४, १५	उद्बोधक	उद्बोधक
२३८	१५	यहा	यहाँ
२३६	१८	सस्कारों	संस्कारों
२४०	१३	न्वाय	न्याय
२४१	२४	जीवन	जीव
२४५	१३	अतिरिक्ति	अतिरिक्त
२५०	५	न लत्वादि	नीलत्वादि
२५०	२२	(अपलाप	(अपलाप)
२५२	२१	बह्य	बाह्य
२५२	२५	'नील	'नील'
२५३	१०	बह्य	बाह्य
२५३	२८	चहिये	चाहिये
२५५	३	यदि	यदि
२५६	१८	अतिशय)	(अतिशय)
२५६	१८	पमाण	प्रमाण
२५६	२४	पड़ेगी	पड़ेंगी
२५६	२५	न्याय-वेशेषिक	न्याय-वैशेषिक
२५८	८	शरोर	शरीर
२५६	६	विषयत्वासंभवस्य	सविषयत्वासंभवस्य
२५६	१२	नही	नहीं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५६	२०	अद्वैत	अद्वैत
२६०	६	केवल	केवल
२६४	१०	निदु खत्वादिना	निदुःखत्वादिना
२६४	१०	साम्य	साम्यं
२६४	१७	संवृत्ता	संवृत्तौ
२६५	६	(अधिकरण	(अधिकरण)
२६५	२६	अच	अच्
२६७	११	असत्त्वा भ्यां	असत्त्वाभ्यां
२६६	५	प्रयत्न)	(प्रयत्न)
२६६	६	समान)	समान
२७३	१	क	के
२७३	२	काई	कोई
२७३	३	का हमें काई प्रताति	की हमें कोई प्रतीति
२७३	५	का	की
२७३	६	भा	भी
२७३	८	हा हा जायगा	ही हो जायेगी
२७६	३	प्रवृत्त्याद्यनुमयोऽयं	प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं
२७६	४	गाचरः	गोचरः
२७६	१७	हाता है	होता है
२८६	१२	करिकांश	कारिकांश
२८७	६	अथ	अर्थ
२८७	१६	श्रोत्रीन्द्रय	श्रोत्रेन्द्रिय
२८७	१६	तात्पय	तात्पर्य
२६०	१४	चक्षुर्ग्राह्मा	चक्षुग्राह्मा
२६१	२	चक्षूरिन्द्रिय	चक्षुरिन्द्रिय
२६१	४	प्रत्वक्ष	प्रत्यक्ष

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६२	६	कारणत्वे लालवमिति	कारणत्वे लाघवमिति
२६५	१६	स्मरणरुपं	स्मरणरूपं
२६६	६	अनुभवरुप	अनुभवरूप
२६७	२०	स्यत्	स्यात्
२६६	२०	अथ	अर्थ
३००	१	द्वेष	द्वेष
३००	६	तदतोन्द्रियमिष्यते	तदतीन्द्रियमिष्यते
३०६	२०	महत्वं	महत्त्वं
३०७	४	के	से
३०७	४	अर्थात	अर्थात्
३०८	२०	अर्थात	अर्थात्
३१६	२२	वशेषण	विशेषण
३१६	२	'महतू परिमाण'	'महत् परिमाण'
३१६	८	नीलरुप	नीलरूप
३१६	१४	पृथिवीत्व	पृथिवीत्व

———

❀ ॐ ❀

श्रीविश्वनाथरचित

न्यायकारिकावली (भाषापरिच्छेद)

तथा उसकी टीका

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या सहित

हिन्दी व्याख्याकार द्वारा मङ्गल-प्रस्तावना ।

यज्ज्योतिरान्तरं तत्त्वं येन बाह्यं विभासते ।
परस्तात्तमसो यच्च शाश्वतं तदुपास्महे ॥
गोतमस्य कणादस्य शास्त्रयोस्तत्त्वबोधिनी ।
विश्वनाथकृतिर्न्यायसिद्धान्तमौक्तिकावली ॥
व्याख्याता साऽऽर्यभाषायां धर्मेन्द्रनाथशास्त्रिणा ।
मयराष्ट्रमहाविद्यालयेऽध्यापयता सता ॥

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली टीका का मङ्गल

सि० मु०— चूड़ामणीकृतविधुर्वलयीकृतवासुकिः ।
भवो भवतु भव्याय लीलाताण्डवपण्डितः ॥१॥

निजनिर्मितकारिकावलीमतिसंक्षिप्तचिरन्तनोक्तिभिः ।
विशदीकरवाणि कौतुकान्ननु राजीवदयावशंवदः ॥२॥

सद्द्रव्या गुणगुम्फिता सुकृतिनां सत्कर्मणां ज्ञापिका
सत्सामान्यविशेषनित्यमिलिताभावप्रकर्षोज्ज्वला ।
विष्णोर्वक्षसि विश्वनाथकृतिना सिद्धान्तमुक्तावली
विन्यस्ता मनसो मुदं वितनुतां सद्युक्तिरेषा चिरम् ॥३॥

अनुवादः— जिसने चन्द्रमा को चूड़ा (सिर) की मणि के रूप में किया है, और वासुकि (नामक सर्पराज) को कङ्कण रूप किया है, जो लीला अर्थात् विनोद के लिए किये जाने वाले ताण्डव नामक नृत्य में प्रवीण है, वह महादेव कल्याण के लिये (अर्थात् कल्याण करने वाला) हो ॥१॥

अपनी बनाई हुई कारिकावली को मैं, यों ही (अनायास, कौतुकवश) केवल राजीव (नाम वाले अपने एक शिष्य) पर दया के कारण, प्राचीन आचार्यों के बहुत संक्षेप में दिये गये कथनों (विचारों) के द्वारा स्पष्ट करता हूं ॥२॥

द्रव्यों से सहित (अर्थात् जिसमें ६ द्रव्यों का वर्णन है), (चौबीस प्रकार के) गुणों से युक्त, सत् अर्थात् विद्यमान (ग्रन्थ में वर्णित) जो (पांच प्रकार के) कर्म उनको जताने वाली, सत् अर्थात विद्यमान (ग्रन्थ में वर्णित) जो सामान्य, विशेष, और नित्य सम्बन्ध (समवाय) उनसे युक्त, अभाव (नामक पदार्थ) का जो 'प्रकर्ष' अर्थात् (प्रागभावादि के रूप में) विस्तार उससे उज्ज्वल अर्थात् प्रकाशयुक्त (उसका वर्णन करने वाली) अच्छी २ युक्तियों वाली (सद्युक्तिः) यह "सिद्धान्तमुक्तावली" (नामक न्याय ग्रन्थ) न्याय के सिद्धान्तों की मोतियों की माला के समान [जो माला द्रव्य सहित अर्थात द्रव्य से साध्य है, जो 'गुण' अर्थात् सूत्र (धागे) से गुंथी हुई है (गुम्फिता), जो पुण्य कर्म वालों (सुकृतिनाम्) के अच्छे कर्मों को जताती है, जो सत् अर्थात् माला

में विद्यमान सामान्य और विशेष प्रकार के मोतियों से सदैव (नित्य) युक्त है, और जो (प्रकाश के) अभाव में अत्यन्त चमकने वाली होती है] पण्डित (कृती) विश्वनाथ के द्वारा विष्णु भगवान् के वक्षःस्थल पर अर्पण की गई पण्डितों के (सुकृतिनाम्) चित्त के हर्ष को चिर-काल तक बढ़ाती रहे ॥३॥

व्याख्या :— पौराणिक विचार के अनुसार चन्द्रमा महादेव के शिर में स्थित है, अर्थात् वह मानों उनके सिर के मणि के समान है; तथा यह भी माना जाता है कि वासुकि नामक सर्पराज महादेव के भुज में लिपटा रहता है, वह मानों उनका कङ्कण है ॥१॥

विश्वनाथ ने अपनी बनाई संक्षिप्त कारिकावली में प्राचीन आचार्यों के न्यायसम्बन्धी सिद्धान्तों को जोड़कर विस्तृत कर दिया है। ऐसा करने में उनका कोई विशेष प्रयोजन न था कि वे न्यायसम्बन्धी किसी विशेष ग्रन्थ को लिखकर कोई नया न्याय-मार्ग प्रस्तुत करें। प्रत्युत, उन्होंने केवल अपने राजीव नामक छात्र पर दया करके उसके लाभ के लिए यह ग्रन्थ अनायास ही लिख डाला ॥२॥

तृतीय कारिका में सातों पदार्थ गिनाए गए हैं, जिनका इस ग्रन्थ में वर्णन है। 'सत्कर्मणाम्' इस वाक्य में 'सत्' विशेषण का अर्थ 'सत्ता जाति युक्त' भी हो सकता है। परन्तु वही विशेषण सामान्य आदि के पूर्व भी (सत्सामान्य····) लग रहा है, और सामान्य आदि में सत्ता जाति नहीं रहती, इसलिए 'सत्' का अर्थ 'विद्यमान' करना ही ठीक है, जो दोनों जगह घट जायगा। 'कारिकावली' जिसका दूसरा नाम 'भाषापरिच्छेद' भी है, उसकी स्वयं ग्रन्थकार द्वारा रची गई टीका का नाम "सिद्धान्तमुक्तावली" है। लेकिन वेदान्त के एक ग्रन्थ का नाम भी 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' है, उसकी अपेक्षा से इस ग्रन्थ का नाम "न्यायसिद्धान्तमुक्तावली" हो गया है। मुक्तावली का शब्दार्थ है 'मोतियों की माला'। इसलिए ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया गया है जो कि दूसरा अर्थ करने से मोतियों की माला में

भी घट जाते हैं। वह दूसरा अर्थ कोष्ठक में दिखा दिया गया है। विश्वनाथ ने अपना यह ग्रन्थ विष्णु भगवान् को अर्पण किया है। ग्रन्थ को 'मोतियों की माला' के रूप मे मानकर "वक्षःस्थल" पर अर्पण करना रक्खा गया है। 'सुकृतिनाम्' का मुख्यार्थ में 'मनसः' के साथ अन्वय है, अर्थात् "सुकृतियों के चित्त के हर्ष को।" किन्तु माला के पक्ष में 'सत्कर्मणाम्' के साथ भी उसका अन्वय हो जाता है, अर्थात् "सुकृतियों के अच्छे कर्मों को जताने वाली।"

सि० मु०—विघ्नविघाताय कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै निबध्नाति–नूतनेति

अनु०—विघ्नों के विनाश के लिये (ग्रन्थकार द्वारा) किया गया मङ्गल शिष्यों (ग्रन्थ पढ़ने वालों) की शिक्षा के लिये (ग्रन्थकार यहां ग्रन्थ के प्रारम्भ में) देता है 'नूतन' इत्यादि कारिका में जो इस प्रकार है:—

का०-नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय॥१॥

अनु०—जिसकी नवीन बादल के समान कान्ति (रुचि) है, तथा जो गोपों की स्त्रियों के वस्त्र चुराने वाला है और संसार रूपी वृक्ष का कारण रूप (बीज) है उस (प्रसिद्ध) कृष्ण को नमस्कार हो।

व्याख्या :— श्री कृष्ण को नील मेघ के समान माना गया है। कृष्ण सम्बन्धी पौराणिक गाथाओं में यह भी कहा जाता है कि वे बाल्यसुलभ चञ्चलता के कारण गोपियों के वस्त्र (जब वे नहाती होती थीं) उड़ा ले जाते थे। बालकों की स्वाभाविक चञ्चलता को दिव्य रूप में देखने की प्रवृत्ति हिन्दु संस्कृति में पाई जाती है। टीकाकारों ने इसके अनेक प्रकार के आध्यात्मिक

अर्थ भी लगाये हैं। पर वे खींचातानी के रूप में होने के कारण ठीक प्रतीत

नहीं होते । श्री कृष्ण पौराणिक भावना में ईश्वर के स्वरूप हैं अतः जगत् के बीज अर्थात् कारण (निमित्तकारण) हैं ।

सि० मु०ः- ननु मङ्गलं न विघ्नध्वंसं प्रति न वा समाप्तिं प्रति कारणं विनाऽपि मङ्गलं नास्तिकादीनां ग्रन्थे निर्विघ्न-परिसमाप्तिदर्शनादिति चेत् ।

अनु०ः—यह शङ्का होती है (ननु) कि मङ्गल न तो विघ्नों के नाश का (नाश प्रति, नाश के प्रति अर्थात नाश का), और न (ग्रन्थ की) समाप्ति का ही कारण है क्योंकि मङ्गल के विना भी नास्तिक आदि के ग्रन्थों की विना विघ्न के समाप्ति देखी जाती है, यदि कोई ऐसी शङ्का करे (चेत) तो :-

व्याख्याः—नव्यनैयायिक मानते हैं कि मङ्गल विघ्नों के नाश का कारण है और प्राचीन नैयायिक मानते हैं कि मङ्गल ग्रन्थ की समाप्ति का कारण है, परन्तु नास्तिक आदि तो मङ्गल कभी नहीं करते उन के कार्यों में विघ्नों का नाश कैसे हो जाता है और ग्रन्थ की समाप्ति कैसे होती है ? ऐसी दशा में मङ्गल को न तो विघ्नों के नाश का और न ग्रन्थ की समाप्ति का कारण कहा जा सकता है इसका उत्तर देते हैं :-

सि० मु०ः—न, अविगीतशिष्टाचारविषयत्वेन मङ्गलस्य सफलत्वे सिद्धे तत्र च फलजिज्ञासायां, सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वाद् उपस्थितत्वाच्च समाप्तिरेव फलं कल्प्यते । इत्थं च यत्र मङ्गलं न दृश्यते तत्रापि जन्मान्तरीयं तत्कल्प्यते । यत्र च सत्यपि मङ्गले समाप्तिर्न दृश्यते तत्र बलवत्तरो विघ्नो विघ्नप्राचुर्यं वा बोध्यम् । प्रचुरस्यास्यैव बलवत्तरविघ्ननिराकरणकारणत्वम् । विघ्नध्वंसस्तु मङ्गलस्य द्वारमित्याहुः प्राञ्चः ।

अनु०—उपर्युक्त शङ्का ठीक नहीं (न) क्योंकि अनिन्दित (अविगीत) जो शिष्ट विद्वान् पुरुष उनके आचरण का विषय (object) होने के कारण मङ्गल का फलयुक्त होना (सफलत्व) निश्चित है, और ऐसी दशा में उस विषय मे (तत्र) क्या फल होगा, यह जानने की इच्छा होने पर, यदि दृष्ट (प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाला) फल सम्भव हो तो अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) फल की कल्पना अनुचित है, इस कारण तथा प्रस्तुत होने के कारण (उपस्थितत्वात्) ग्रन्थ की समाप्ति ही (मङ्गल का) फल मानी जाती है। इस प्रकार जहां (नास्तिक आदि के ग्रन्थों में) मङ्गल नहीं दीखता वहां पर भी पहले जन्म में किया हुआ वह (मङ्गल) माना जाता है और जहां मङ्गल के होने पर भी समाप्ति नहीं होती, वहां (मङ्गल की अपेक्षा) अधिक बलवान् विघ्न या विघ्नों का आधिक्य (प्राचुर्य) समझना चाहिये, क्योंकि वह (मङ्गल) जबकि अधिक मात्रा में हो तभी अधिक बलवान् विघ्न के नाश (निराकरण) का कारण होता है, (इस प्रकार मङ्गल से ग्रन्थ समाप्ति होती है) और विघ्नध्वंस तो मङ्गल का व्यापार (द्वार) है, (अर्थात मङ्गल विघ्नध्वंस के द्वारा समाप्ति रूप फल का कारण होता है) ऐसा प्राचीन नैयायिक कहते हैं।

व्याख्या :- शिष्ट का शब्दार्थ है सदाचारयुक्त विद्वान्, वे लोग मङ्गल का आचरण करते हैं और उनका यह आचरण अनिन्दित अर्थात् उत्तम समझा जाता है इसलिये मङ्गल का फल होता है यह बात निश्चित है। फल क्या हो इसके विषय में यह स्पष्ट है कि जब कोई प्रत्यक्ष फल हो सकता हो तो अप्रत्यक्ष फल की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि जहां यज्ञ आदि करने में प्रत्यक्ष फल (दृष्ट) दिखाई नहीं पड़ता वहीं अप्रत्यक्ष फल (अदृष्ट) स्वर्गादि की कल्पना की जाया करती है। प्राचीन नैयायिकों के मत में यहां प्रत्यक्ष फल जो कि प्रस्तुत (उपस्थित) है अर्थात् स्वभावतः सामने आता है वह ग्रन्थ की समाप्ति ही है क्योंकि किसी ग्रन्थ के पहिले किये गये मङ्गलाचरण का

प्रयोजन उस ग्रन्थ की समाप्ति ही हो सकता है। यहां पर शङ्का होती है कि मङ्गलाचरण और समाप्ति 'कारण' और 'कार्य' नहीं हो सकते, क्योंकि कारण का लक्षण (जैसा कि आगे किया जायगा) यही है कि जो नियमतः (आवश्यक रूपेण) कार्य के पूर्व हो अर्थात् जिसके होने पर कार्य हो और जिसके न होने पर कार्य न हो। परन्तु यह देखा जाता है कि मङ्गल के न होने पर भी (नास्तिक आदि के ग्रन्थों में) समाप्ति हो जाती है और कभी २ (जैसा कि बाण की कादम्बरी के विषय में कहा जाता है कि) मङ्गल के होने पर भी समाप्ति नहीं होती। इस प्रकार समाप्ति और मङ्गल का कार्यकारणभाव नहीं बनता। इस का उत्तर देते हैं कि नास्तिक आदि ग्रन्थों में जहां प्रत्यक्ष में समाप्तिरूप कार्य का मङ्गलरूप कारण नहीं दीखता वहां पर भी दूसरे जन्म में किया हुआ मङ्गलरूप कारण होता है, और जहां मङ्गलरूप कारण के होने पर भी समाप्तिरूप कार्य नहीं होता, वहां पर कल्पना होती है कि या तो (१) किए हुए मङ्गलरूप कारण से अधिक बलवान् अर्थात् उस कारण को, रोकने वाला कोई विघ्न आ गया या (२) विघ्नों का आधिक्य हो गया अर्थात् इतने अधिक विघ्न आ गये कि मङ्गल उनका नाश न कर सका और मङ्गल का कार्य (फल) समाप्ति न हो सकी, क्योंकि यह माना जाता है कि मङ्गल यदि बहुत अधिक मात्रा में हो तभी वह अधिक बलवान् विघ्न का (अथवा अधिक विघ्नों का) नाश कर सकता है, अर्थात् जहां समाप्ति नहीं हुई वहां पर मङ्गल इतना अधिक न था कि समाप्ति को रोकने वाले बलवान् विघ्न या अधिक विघ्नों का नाश कर सके। प्राचीन लोगों के मत में मङ्गल का कार्य (फल) तो ग्रन्थ की समाप्ति है परन्तु मङ्गल के द्वारा उस समाप्ति के होने में विघ्नों का नाश व्यापाररूप होता है (द्वार = व्यापार) साधन और फल के मध्यवर्ती को व्यापार कहते हैं, जैसे कुठार (कुल्हाड़ा) साधन है उसका फल लकड़ी का फटना (छिदा) है, कुठार और छिदा का मध्यवर्ती जो 'लकड़ी और कुल्हाड़े का संयोग' (कुठार-दारु-संयोग) है, वही व्यापार माना जाता है। यहां पर मङ्गल साधन है. उसका फल (कार्य) समाप्ति है और विघ्ननाश मध्यवर्ती व्यापार है (अर्थात् द्वार है)।

सि० मु० :— नव्यास्तु मङ्गलस्य विघ्नध्वंस एव फलं समाप्तिस्तु बुद्धिप्रतिभादिकारणकलापात्। न च स्वतः-सिद्धविघ्नविरहवता कृतस्य मङ्गलस्य निष्फलत्वापत्तिरिति वाच्यम्, इष्टापत्तेः। विघ्नशङ्कया तदाचरणात् तथैव शिष्टाचारात्, न च तस्य निष्फलत्वे तद्बोधकवेदाप्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम्, सति विघ्ने तन्नाशस्यैव वेदबोधितत्वात्। अतएव पाप-भ्रमेण कृतस्य प्रायश्चित्तस्य निष्फलत्वेऽपि न तद्बोधकवेदा-प्रामाण्यम्। मङ्गलं च विघ्नध्वंसविशेषे कारणं विघ्नध्वंसविशेषे च विनायकस्तवपाठादि। क्वचिच्च विघ्नात्यन्ताभाव एव समाप्तिसाधनं प्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्यैव कार्यजनकत्वात्। इत्थं च नास्तिकादीनां ग्रन्थेषु जन्मान्तरीयमङ्गलजन्यदुरित-ध्वंसः स्वतःसिद्धविघ्नात्यन्ताभावो वाऽस्ति इति न व्यभिचार इत्याहुः।

अनु०—नवीन नैयायिक तो ऐसा कहते हैं ('नव्यास्तु' का 'इत्याहुः' से अन्वय है) कि मङ्गल का फल (कार्य) विघ्नध्वंस ही है (न कि ग्रन्थ की समाप्ति)। (ग्रन्थ की) समाप्ति तो बुद्धि (शास्त्रादि के अभ्यास से उत्पन्न हुआ ज्ञान) और प्रतिभा (नवीन तत्त्वों की स्फूर्ति) आदि कारण समूहों से होती है। और न इस पर यह आक्षेप किया जा सकता है (न च) कि ऐसा होने पर (अर्थात् यदि विघ्न का नाश ही मङ्गल का फल है तो) स्वयमेव विघ्नों के अभाव वाले (विरह = अभाव) पुरुष के द्वारा किये गये मङ्गल की निष्फलता होगी (आपत्तिः = आ पड़ना), क्योंकि यह बात तो अभीष्ट ही है अर्थात ऐसे स्थल पर मङ्गलाचरण की निष्फलता मानते ही हैं। वहां विघ्न की शङ्का से इसका (मङ्गल का)

आचरण किया जाता है, और वैसे ही सदाचारी विद्वानों का आचरण भी है। और न यह आक्षेप किया जा सकता है (न च) कि उस (मङ्गल) के निष्फल होने पर उसके जताने वाले (बोधक) वेद की अप्रमाणता (प्रमाण न होना) आ पड़ेगी, क्योंकि विघ्नों के विद्यमान होने पर ही (मङ्गल द्वारा) उसका नाश वेद से बताया गया है। इस लिये पाप करने का भ्रम होने पर किया गया प्रायश्चित्त यद्यपि निष्फल होता है, तथापि उस प्रायश्चित्त के बताने वाले (विधान करने वाले) वेद की अप्रमाणता नहीं होती और (च) (यह भी जानना चाहिये कि) मङ्गल विघ्नों के एक विशेष प्रकार के नाश का कारण होता है और गणेश स्तुति का पाठ आदि विघ्नों के दूसरे प्रकार के नाश का कारण होता है। इसके सिवाय (च) कहीं २ विघ्नों का अत्यन्ताभाव ही समाप्ति का साधन होता है (अर्थात् ऐसे स्थल पर विघ्नों के नाश का प्रश्न ही पैदा नहीं होता) क्योंकि विघ्नों (प्रतिबन्धक = कार्य को उत्पन्न होने से रोकने वाले) का संसर्गाभाव (जिसके अन्दर विघ्नों का नाश और विघ्नों का अत्यन्ताभाव दोनों ही आ जाते हैं) ही (समाप्ति रूप) कार्य का कारण होता है। इस प्रकार नास्तिक आदि के बनाये ग्रन्थों में या तो दूसरे जन्म (पूर्व जन्म) में किये गये मङ्गल द्वारा उत्पन्न विघ्नों का नाश होता है, या (२) विघ्नों का स्वयंसिद्ध अत्यन्ताभाव होता है इस प्रकार वहां भी कोई दोष (व्यभिचार) नहीं आता।

व्याख्या :— जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है प्राचीन नैयायिक मङ्गल का फल ग्रन्थ की समाप्ति मानते हैं, परन्तु नवीन नैयायिकों के मत में विघ्नों का नाश होना ही मङ्गल का फल है और ग्रन्थ की समाप्ति बुद्धि प्रतिभा आदि कारण समूहों से होती है। बुद्धि का अर्थ है शास्त्रों के अध्ययन से उत्पन्न ज्ञान (बुद्धि = knowledge or intellect) और प्रतिभा का अर्थ है नवीन तत्त्वों की स्फूर्ति (प्रतिभा = genius or capacity for original thinking) 'आदि' शब्द से और कारण आ जाते हैं जिनमें

एक कारण विघ्नों का नाश भी हो सकता है। अर्थात् मङ्गल से विघ्नों का नाश होता है और फिर विघ्नों का नाश समाप्ति का कारण होता है। परन्तु नवीनों के इस सिद्धान्त को मानने से कि मङ्गल से केवल विघ्नों का नाश होता है यह प्रश्न पैदा होता है कि कोई कोई पुरुष ऐसे भी होते हैं कि जिनके कार्य में कोई विघ्न स्वयमेव ही नहीं होता, और जब वहां विघ्न है ही नहीं तो उस के नाश का प्रश्न ही पैदा नहीं होता, ऐसे स्थल पर किसी पुरुष के द्वारा किया गया मङ्गल निष्फल ही होगा। इसके उत्तर में कहते हैं कि यह बात तो नवीन नैयायिकों को भी अभीष्ट है अर्थात् वे भी ऐसे स्थल पर किये गये मङ्गलाचरण को निष्फल ही मानते हैं; रही यह बात कि ऐसे स्थल पर मङ्गलाचरण क्यों किया जाता है, उसका उत्तर यही है कि मनुष्य को यह पता नहीं होता कि उसके कार्य में विघ्न का सर्वथा अभाव है इसलिये वह विघ्न होने की शङ्का से मङ्गलाचरण करता है, क्योंकि वह देखता है कि सदाचारी विद्वान् ग्रन्थ के आरम्भ में सदैव मङ्गलाचरण करते हैं, उनके आचरण के अनुसार, इस दृष्टि से, यदि कदाचित् विघ्न हुवे तो इस मङ्गलाचरण से दूर हो जायेंगे, वह मङ्गलाचरण करता है। इस पर यह भी आक्षेप किया जा सकता है कि जब कि ऐसे स्थल पर (कि जहां विघ्नों का अत्यन्ताभाव हो) किया गया मङ्गलाचरण निष्फल है, तो उस मङ्गलाचरण को बताने वाला वेद का अंश अप्रमाण होगा अर्थात् वेद की प्रमाणता तभी हो सकती है जब कि वेद जो कुछ विधान करे उसका फल अवश्य हो, परन्तु ऐसे स्थल पर वेद का बताया मङ्गलाचरण निष्फल होता है, इसलिये उस अंश में वेद की भी अप्रमाणता आ जाती है। इसका उत्तर यही है कि वेद तो केवल यही बताता है कि *कहीं पर यदि विघ्न विद्यमान हो तो उनका नाश* मङ्गल द्वारा होता है और यदि विघ्न होते तो उनका नाश मङ्गल द्वारा अवश्य हो जाता, इसलिये वेद को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। जैसे, यदि किसी ने पाप किया हो तो उस का नाश प्रायश्चित्त द्वारा होता है, परन्तु यदि किसी ने पाप न किया हो, पर उसे पाप करने का भ्रम हो जाय और वह उस के लिये

प्रायश्चित्त कर डाले तो यद्यपि ऐसे स्थल पर प्रायश्चित्त निष्फल होगा, परन्तु फिर भी उस प्रायश्चित्त का प्रतिपादन करने वाला वेद का भाग अप्रमाण नहीं होता, क्योंकि वेद तो यही कहता है कि यदि पाप किया हो तो प्रायश्चित्त के द्वारा दूर हो जायगा। इसी प्रकार मङ्गल के द्वारा विघ्नों के नाश को भी समझना चाहिये। अर्थात् जहां विघ्न होंगे, वहां उनका नाश मङ्गल द्वारा हो जायगा, जहां विघ्न हैं ही नहीं, वहां उनका नाश तो वेद कहता नहीं, इसलिए वेद के प्रामाणिक होने में कोई दोष नहीं आता।

यहां एक प्रश्न किया जासकता है कि यदि मङ्गल ही विघ्नों के नाश का कारण है तो गणेश स्तुति पाठ को भी विघ्न नाश का कारण क्यों कहा गया है? यों तो गणेशस्तुति भी मङ्गल ही है, परन्तु गणेशस्तुति का (पाठ), जो मुख की एक शारीरिक क्रियामात्र है, मङ्गल से भिन्न वस्तु है। क्योंकि मङ्गल स्तुतिरूप है जो कि मानसिक होती है। इसलिये यह प्रश्न होता है कि विघ्ननाश का कारण मङ्गल ही है या गणेशस्तुति भी। इसका उत्तर दिया गया है कि विघ्नों का नाश भिन्न भिन्न प्रकारों का हो सकता है। एक प्रकार के विघ्न-नाश का कारण है मङ्गल, और दूसरे प्रकार के विघ्न नाश का कारण है गणेशस्तुति का पाठ।

ऊपर यह कहा गया है कि मङ्गल से विघ्ननाश होता है, और विघ्ननाश समाप्ति का कारण है। परन्तु साथ ही यह भी ऊपर आया है कि किसी किसी मनुष्य के काम में विघ्नों का अभाव स्वयं सिद्ध होता है, अर्थात् विघ्नों का वहां अत्यन्ताभाव है। जब विघ्न हैं ही नहीं तो विघ्नों का नाश वहां किस प्रकार होगा। और, यदि 'विघ्नों का नाश' भी समाप्ति में कारण है, तो उपर्युक्त स्थल पर समाप्ति ही न होगी। उसका उत्तर देते हैं कि कहीं विघ्ननाश समाप्ति का साधन है, और कहीं विघ्न का अत्यन्ताभाव भी समाप्ति का साधन होता है। इसलिये विघ्नों के संसर्गाभाव को ही कार्यजनक अर्थात् समाप्तिरूप कार्य का कारण (जनक) मानते हैं। अभाव प्रकरण में यह बताया जायगा कि अभाव दो प्रकार के होते हैं:—

I *संसर्गाभाव* और II *अन्योन्याभाव* । इनमें से *संसर्गाभाव* तीन प्रकार का होता है । १ *प्रागभाव*, २, *ध्वंसाभाव*, ३, *अत्यन्ताभाव*। ध्वंसाभाव को ही 'नाश' कहते हैं। इस प्रकार 'संसर्गाभाव' में नाश और अत्यन्ताभाव दोनों ही आजाते हैं (इसको विशद रूप से समझने के लिये अभाव की व्याख्या कारिका सं० १२ में देखो)। एवं, विघ्न-संसर्गाभाव को समाप्ति-साधन कहने से दोनों उसके अन्तर्गत आ जाएंगे; और कोई त्रुटि न होगी । इस प्रकार नास्तिकादि के ग्रन्थ के विषय में भी जहां विघ्न हैं, वहां पूर्वजन्म के किये मङ्गल से विघ्न का नाश मान लिया जायगा। अथवा, विघ्न का स्वतःसिद्ध अत्यन्ताभाव होगा और इस प्रकार विना मङ्गल के भी नास्तिकादि के ग्रन्थ की समाप्ति का समाधान हो जाता है।

सि० मु० संसारेति । संसार एव महीरुहो वृक्षस्तस्य बीजाय, निमित्तकारणायेत्यर्थः । एतेन ईश्वरे प्रमाणमपि दर्शितं भवति, तथाहि—यथा घटादिकार्यं कर्तृजन्यं तथा क्षित्यङ्कुरादिकमपि । न च तत्कर्तृत्वमस्मदादीनां सभंवतीत्यतस्तत्कर्तृत्वेनेश्वरसिद्धिः । न च शरीराजन्यत्वेन कर्त्रजन्यत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्ष इति वाच्यम् । अप्रयोजकत्वात् । मम तु कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभाव एव अनुकूलस्तर्कः "द्यावाभूमी जनयन्देव एकः" "विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता" इत्यादय आगमा अप्यनुसन्धेयाः ॥

अनुवादः—'संसार' इत्यादि अंश की व्याख्याः— संसार ही 'महीरुह' अर्थात वृक्ष है उसके निमित्त कारण के लिये (नमस्कार हो)। इस (कथन) से ईश्वर में प्रमाण भी दिखा दिया गया। वह इस प्रकार (तथाहि):—जैसे घट आदि उत्पन्न वस्तु (कार्य) कर्ता से उत्पन्न होती है उसी प्रकार पृथ्वी अङ्कुर आदि भी (कर्ता से उत्पन्न

हुए हैं)। और उनका कर्त्ता होना हमारे जैसे (शरीरधारियों) का सम्भव नहीं, इसलिये उन (पृथ्वी अङ्कुरादि) के कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि हो जाती है। और न ऐसा कहना चाहिये कि (शङ्का) 'शरीर से उत्पन्न न होना' कर्त्रजन्यत्व का साधक है; और इस प्रकार (ईश्वर के कर्तृत्व की सिद्धि में) सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास हो जायेगा, क्योंकि (उत्तर) यहां (शरीराजन्यत्व हेतु से कर्त्रजन्यत्व सिद्ध करने में) अनुकूल तर्क का अभाव है (अप्रयोजकत्व= अनुकूलतर्काभाव)। और मेरे (नैयायिक के) अनुमान में तो कर्तृत्व के रूप में और कार्यत्व के रूप में (अर्थात् कर्तृत्वावच्छिन्न और कार्यत्वावच्छिन्न में) कार्यकारणभाव ही अनुकूल तर्क है (देखो व्याख्या)। इसके सिवाय (अपि), "द्युलोक और पृथ्वी लोक को उत्पन्न करता हुआ एकमात्र ईश्वर" तथा "विश्व का बनाने वाला और संसार का रक्षक" इत्यादि वेदवाक्य (आगम) भी इस विषय में (अत्र) (अर्थात् ईश्वर की सिद्धि में) ध्यान देने योग्य हैं।

व्याख्या:—इस मङ्गलाचरण की कारिका में ईश्वर को संसार रूपी वृक्ष का बीज अर्थात् कारण कहा गया है। यद्यपि बीज अङ्कुर (वृक्ष) का समवायिकारण (उपादान कारण) होता है, परन्तु न्याय सिद्धान्त में ईश्वर संसार का निमित्त कारण है न कि समवायिकारण (क्योंकि संसार के समवायिकारण तो पृथ्वी आदि के परमाणु हैं)। इसलिये यहां 'बीज' का अर्थ कारण, और कारणों में भी निमित्त कारण समझना चाहिये। इस प्रकार ईश्वर को संसार का निमित्त कारण कहा गया, और ऐसा कहने में ईश्वर की सिद्धि में अनुमान प्रमाण भी दिखा दिया गया। और वह अनुमान इस प्रकार का होता है:—

प्रतिज्ञा—पृथिवी अङ्कुर आदि कर्त्ता से उत्पन्न हुए हैं।

हेतु—कार्य होने से।

उदाहरण (व्याप्ति सहित)—जो जो कार्य होता है, वह २ कर्त्ता से उत्पन्न होता है। जैसे, घट।

इस अनुमान में 'कर्त्ता से उत्पन्न होना' (कर्तृजन्यत्व) साध्य है, और 'कार्य होना' (कार्यत्व) हेतु है। इस हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति है, क्योंकि जो जो कार्य होता है वह वह कर्त्ता से उत्पन्न (कर्तृजन्य) होता है। इस अनुमान से इतना सिद्ध हुआ कि पृथिवी आदि का भी कर्त्ता होना चाहिए, और यह स्पष्ट है कि हमारे जैसे (शरीरधारी) पृथ्वी के कर्त्ता नहीं हो सकते। इसलिये हमारे जैसे शरीरधारियों से अतिरिक्त और बढ़ कर शक्ति रखने वाला ही कोई पृथ्वी आदि का कर्त्ता हो सकता है, और उसी 'कर्त्ता' का नाम ईश्वर है। इस प्रकार ईश्वर की सिद्धि हो जाती है।

अनुमान करने में जो हेतु (साधन) दिये जाते हैं, यदि उन साधनों में कोई दोष हो तो उस दोष को या दोषयुक्त साधनों को हेत्वाभास कहते हैं। ये हेत्वाभास पांच प्रकार के होते हैं। उनका निरूपण इस ग्रन्थ के अनुमान खण्ड में किया गया है। उनमें से एक हेत्वाभास 'सत्प्रतिपक्ष' नामक है। सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास वहां होता है जहां एक हेतु एक बात को सिद्ध करे और दूसरा हेतु उससे विपरीत बात को सिद्ध करे। जैसे, किसी ने कहा :—

"शब्द अनित्य है, नित्य धर्म रहित होने से।"

दूसरा प्रतिपक्षी कहता है:—

"शब्द नित्य है; अनित्य धर्म रहित होने से।"

यहां एक हेतु शब्द के 'अनित्यत्व' को सिद्ध करता है, और दूसरा हेतु उससे विपरीत शब्द के 'नित्यत्व' को सिद्ध करता है। जब तक पिछला हेतु निर्बल होने से हट न जाय, तब तक वह पहिले हेतु को सत्प्रतिपक्ष नामक दोष से युक्त बनाए रक्खेगा। ऐसे स्थल पर, जहां सत्प्रतिपक्ष दोष आए, यह देखना होता है कि दोनों हेतुओं में से अनुकूल तर्क किसके पक्ष में है। जिसके पक्ष में अनुकूल तर्क होता है, वह हेतु ठहर जाता है; और जिसके पक्ष में अनुकूल तर्क नहीं होता, वह गिर जाता है।

कर्तृत्व के रूप में और कार्यत्व के रूप में कार्य कारण भाव है अर्थात् कर्तृत्वावच्छिन्न कार्यत्वावच्छिन्न का कारण है। यहां पर तर्क का रूप यह होगा कि यदि किसी वस्तु में सकर्तृत्व नहीं तो वहां कार्यत्व भी न होगा। यही अनुकूल तर्क का स्वरूप है। इस प्रकार कार्य कारण भाव रूप अनुकूल तर्क के होने से व्याप्ति में व्यभिचार शङ्का नहीं हो सकती। अतएव नैयायिक कहता है कि उसका हेतु अधिक बलवान् है और प्रतिपक्षी के अनुकूल - तर्क - हीन हेतु से नैयायिक के हेतु में सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास का दोष नहीं आ सकता।

सि० मु०:—पदार्थान् विभजते — द्रव्यमिति।

कारिका:—द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।
समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः ॥२॥

अनु०--'द्रव्यं गुणः' इत्यादि कारिका में पदार्थों का विभाग किया जाता है:—

'द्रव्य, गुण, तथा कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव ये सात पदार्थ हैं।"

सि० मु०:— अत्र सप्तमस्याभावत्वकथनादेव षण्णां भावत्वं प्राप्तम्, तेन भावत्वेन पृथगुपन्यासो न कृतः। एते च पदार्था वैशेषिकनये प्रसिद्धाः, नैयायिकानामप्यविरुद्धाः। प्रतिपादितं चैवमेव भाष्ये।

अनु०:—यहाँ सातवें पदार्थ को 'अभाव' के रूप में कहने ही से (पहले कहे गये द्रव्य आदि) छः पदार्थों का 'भाव' रुप होना (स्वयं) आगया, इसलिये उनका 'भाव' रूप होना पृथक् नहीं कहा गया। ये सात (पदार्थ) वैशेषिक शास्त्र में प्रसिद्ध है और नैयायिकों के भी विरुद्ध नहीं है, तथा भाष्य में भी ऐसा ही प्रतिपादन किया गया है।

व्याख्या:-- न्याय-वैशेषिक में माने सात पदार्थों को कभी कभी इस

प्रकार वर्णन किया जाता है कि पदार्थ दो प्रकार के हैं:—एक भाव और द्वितीय अभाव। फिर भाव को छः प्रकार का बताया जाता है उदाहरणार्थ, उदयनाचार्य की लक्षणावली में पदार्थों का भाव और अभाव के रुप में विभाग किया गया है। यहां पर यद्यपि भाव और अभाव- इस प्रकार का प्रारम्भिक विभाग नहीं किया गया, परन्तु सप्तम पदार्थ को अभाव कहा है, इससे स्वयमेव आगया कि पहले ६ पदार्थ भावरूप हैं।

साधारणतया ये सात पदार्थ वैशेषिक शास्त्र में माने गये हैं। यद्यपि वैशेषिक सूत्रों में द्रव्य से लेकर समवाय तक ६ पदार्थों का ही वर्णन है, तथापि पीछे उन्हीं में 'अभाव' नामक पदार्थ भी जोड़ दिया गया। न्याय में प्रमाण, प्रमेय, संशय आदि १६ पदार्थों का वर्णन है। इस प्रकार मुख्यतया द्रव्यादि सात पदार्थ वैशेषिक शास्त्र में ही माने गये हैं। परन्तु न्याय-शास्त्र भी इन सात पदार्थों को मानता है। न्याय के अनुमानविद्या होने की दृष्टि से उसमें प्रमाण, प्रमेय आदि १६ पदार्थ, जो अनुमान के विस्तृत वर्णन से सम्बन्ध रखते हैं, विशेष रूप से बताये गए हैं। परन्तु न्यायशास्त्र के मानने वाले इन सात पदार्थों को भी स्वीकार करते हैं। उनके माने १६ पदार्थों को इन सात के अन्तर्भूत किया जा सकता है, और इन सात पदार्थों को भी न्याय के माने 'प्रमेय' के अन्तर्भूत किया जा सकता है। भाष्य से तात्पर्य न्यायसूत्र के वात्स्यायनभाष्य से है। प्रमेय विषयक सूत्र (न्यायसूत्र, अ० १ आ० १ सू० ९) के वात्स्यायनभाष्य में यह आया है कि : 'अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्'।

सि० मु०:—अतएवोपमानचिन्तामणौ सप्तपदार्थभिन्नतया शक्तिसादृश्यादीनामप्यतिरिक्तपदार्थत्वमाशङ्कितम्। ननु कथमेत एव पदार्थाः शक्तिसादृश्यादीनामप्यतिरिक्तपदार्थत्वात्? तथाहि—मण्यादिसमवहितेन वह्निना दाहो न जन्यते, तच्छून्येन तु जन्यते। तत्र मण्यादिना वह्नौ दाहानुकूला शक्तिर्ना-

श्यते, उत्तेजकेन मण्याद्यपसारणेन च जन्यत इति कल्प्यते। एवं सादृश्यमप्यतिरिक्तः पदार्थः, तद्धि न षट्सु भावेष्वन्तर्भवति, सामान्येऽपि सत्त्वात्, यथा गोत्वं नित्यं तथाऽश्वत्यमपीति सादृश्य प्रतीतेः। नाप्यभावे। सत्त्वेन प्रतीयमानत्वादितिचेत् ?

अनु० :— इसलिए (क्योंकि न्याय-वैशेषिक शास्त्र सात पदार्थ मानता है) 'न्याय-तत्त्व चिन्तामणि' के उपमान खण्ड में (मीमांसक प्रभाकर के मत से) सात पदार्थों से भिन्न होने के कारण 'शक्ति' और 'सादृश्य' आदि के भी अलग (अधिक) पदार्थ होने की शङ्का उठाई है। वह इस प्रकार है "कि 'शक्ति', 'सादृश्य' आदि के भी अलग पदार्थ होने पर पर ये (सात) ही पदार्थ कैसे माने जा सकते हैं ? क्योंकि चन्द्रकान्तमणि आदि से संयुक्त आग से जलाने का काम नहीं होता। परन्तु चन्द्रकान्त मणि से रहित आग से जलाने का काम हो जाता है। ऐसी दशा में यह कल्पना की जाती है कि चन्द्रकान्त मणि आदि के द्वारा आग में जलाने की शक्ति नष्ट हो जाती है और (चन्द्रकान्तमणि के होने पर भी) आग को उत्तेजित करने वाले (सूर्यकान्त मणि) से, अथवा (केवल) चन्द्रकान्तमणि आदि के हटा लेने से वह 'शक्ति' उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार 'सादृश्य' भी अतिरिक्त (अलग) पदार्थ है। वह छः भाव पदार्थों के अन्तर्गत नहीं हो सकता क्योंकि (वह सादृश्य) 'सामान्य' (नामक पदार्थ) में भी विद्यमान है। क्योंकि जैसे 'गोत्व' नित्य है इसी प्रकार 'अश्वत्व' भी (नित्य है)"; इस प्रकार (सामन्य=जाति में भी) सादृश्य की प्रतीति होती है। और न वह (सादृश्य) 'अभाव' के अन्तर्गत हो सकता है; क्योंकि (सादृश्य का) अनुभव 'सत्त्व' (भाव पदार्थ) के रूप में होता है।' यदि ऐसी शङ्का हो तो (चेत्) ?

व्याख्या :— मीमांसा के (कुमारिल और प्रभाकर के) दोनों सम्प्रदाय

साधारणतया न्याय-वैशेषिक के अनुसार ही बाह्यवस्तुवादी (Realist) हैं, और द्रव्यादि पदार्थों को मानते हैं। परन्तु किसी किसी अंश में उनका न्याय-वैशेषिक से मतभेद है। जैसे, प्रभाकर 'शक्ति' और 'सादृश्य' आदि को अतिरिक्त पदार्थ मानता है। उसी के मत का खण्डन करने के लिये 'तत्त्व-चिन्तामणि' कार गङ्गेश ने शक्ति और सादृश्य के अतिरिक्त पदार्थ होने का पूर्वपक्ष उठाकर उसका खण्डन किया है। किसी वस्तु की 'शक्ति' को उस पदार्थ से अतिरिक्त मानने के पक्ष में प्रभाकर मत वाले यह युक्ति देते हैं:— अग्नि पदार्थों को जलाता है। परन्तु उसमें 'जलाने की शक्ति' अग्नि से अतिरिक्त वस्तु है। क्योंकि यह देखा जाता है कि चन्द्रकान्तमणि को यदि अग्नि के साथ रख दिया जाय तो फिर वह अग्नि जलाने का काम नहीं करता। और यदि चन्द्रकान्तमणि को हटा लिया जाय तो आग फिर जलने लगती है। [नोट :-आजकल यह मालूम नहीं कि यह चन्द्रकान्तमणि किस प्रकार का मणि होता था, जिसके आते ही आग की जलने की शक्ति नष्ट हो जाती थी। आजकल ऐसी कोई वस्तु नहीं पाई जाती, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों में चन्द्रकान्तमणि और उसके द्वारा आग की जलाने की शक्ति का नष्ट होना सुना जाता है। उसीके आधार पर यहां प्रश्न उठाया गया है।] चन्द्रकान्तमणि के पास आने से आग में जलाने की शक्ति नष्ट हो जाने और उसके हटाने पर आग में जलाने की शक्ति के फिर आजाने से यह कल्पना की जाती है कि आग की 'जलाने की शक्ति' आग से अतिरिक्त पदार्थ है, तथा वह 'शक्ति' कभी आग में आ जाती है और कभी आग में से नष्ट हो जाती है। यदि 'शक्ति' अलग पदार्थ न हो तो आग के होने पर (चन्द्रकान्तमणि के आने पर भी) जलाने का कार्य अवश्य होना चाहिये। साथ ही यह बात भी प्राचीन समय से चली आती है कि चन्द्रकान्तमणि के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार का मणि सूर्यकान्त नामक होता है। यह आग की शक्ति का उत्तेजक है। इसलिए यदि चन्द्रकान्तमणि के पास आने से आग की जलाने की शक्ति नष्ट भी होगई हो तो सूर्यकान्त-मणि के पास लाने से चन्द्रकान्तमणि के बने रहने पर भी आग में जलाने की शक्ति फिर से आजाती है। अर्थात् चन्द्रकान्तमणि के रहने पर तो वह

शक्ति सूर्यकान्तमणि के पास लाने से आ जाती है, अथवा चन्द्रकान्तमणि के आग के पास से हटाने मात्र से आजाती है। इस प्रकार आग में कभी 'शक्ति' के आजाने और कभी 'शक्ति' के नष्ट हो जाने से यह सिद्ध होता है कि आग में 'जलाने की शक्ति' आग से भिन्न पदार्थ है।

इसी प्रकार 'सादृश्य' भी सात पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ है। क्योंकि 'सादृश्य' द्रव्य, गुण और कर्म में तो रहता ही है, पर साथ ही वह 'सामान्य' (जाति) में भी रहता है। परन्तु 'सामान्य' में कोई भाव पदार्थ नहीं रह सकता, क्योंकि सामान्य में न तो द्रव्य, गुण और कर्म रहते हैं और न 'सामान्य' ही रहता है (देखो कारिका सं० ८), तथा न विशेष और समवाय ही रहते हैं। इस प्रकार जो भी पदार्थ 'सामान्य' में रहेगा, वह छः भाव पदार्थों से भिन्न होगा। और, न 'सादृश्य' 'अभाव' रूप ही हो सकता है, क्योंकि उसकी भावात्मक अर्थात् 'वह है' इस प्रकार की प्रतीति होती है न कि अभावात्मक अर्थात् न होने के रूप में। इस प्रकार 'सादृश्य' को सात पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ मानना चाहिये।

उपर्युक्त शङ्का का उत्तर देते हैं:—

सि० मु०— न, मण्याद्यभावविशिष्टवह्नादे र्दाहादिकं प्रति स्वातन्त्र्येण मण्यभावादेरेव वा हेतुत्वं कल्प्यते। अनेनैव सामञ्जस्येऽनन्तशक्तितत्प्रागभावध्वंसकल्पनाऽनौचित्यात्। न चोत्तेजके सति प्रतिबन्धकसद्भावेऽपि कथं दाह इति वाच्यम्। उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य हेतुत्वात्। सादृश्यमपि न पदार्थान्तरम्, किन्तु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्। यथा चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वादिमत्त्वं मुखे चन्द्रसादृश्यमिति।

अनु०:—यह ठीक नहीं (न), चन्द्रकान्तमणि आदि के अभाव

से युक्त अग्नि को, अथवा स्वतन्त्ररूप से चन्द्रकान्तमणि के अभाव आदि को ही कारण मानने से सब काम ठीक हो जाता है (सामञ्जस्ये), इसलिये अनन्त शक्तियां, उनके प्रागभाव और उनके ध्वंस की कल्पना करना अनुचित है। और यह शङ्का भी ठीक नहीं है कि यदि उत्तेजक (सूर्यकान्तमणि) विद्यमान हो तो प्रतिबन्धक (चन्द्रकान्तमणि) के होने पर भी क्यों दाह हो जाता है, क्योंकि उत्तेजक (सूर्यकान्त मणि) के अभाव से विशिष्ट ही चन्द्रकान्तमणि का अभाव दाह का कारण है। और, सादृश्य भी (सात पदार्थों से भिन्न) कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। किन्तु 'किसी वस्तु से भिन्न होने पर भी उस वस्तु में रहने वाले बहुत से धर्मों से युक्त होना' ही (उस वस्तु का) सादृश्य कहलाता है। जैसे, चन्द्रमा से भिन्न होने पर भी (मुख में) चन्द्र में रहने वाले 'आह्लादकत्व' आदि होना ही मुख में चन्द्र का सादृश्य कहलाता है।

व्याख्या:— शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ मानने में जो युक्ति दी गई थी, उसका खण्डन करते हैं। यदि शक्ति अलग पदार्थ है तो किसी वस्तु के समीप होने से या न होने से शक्ति का बार बार उत्पन्न होना और नाश होना मानना पड़ेगा। इस प्रकार अनन्त शक्तियां माननी पड़ेंगी, और उन शक्तियों के उत्पन्न होने से पहिले होने वाले उनके अनन्त प्रागभावों को भी मानना पड़ेगा। इसी प्रकार उन शक्तियों के नाश होने के कारण से उनके अनन्त ध्वंसाभावों को भी मानना पड़ेगा। इस प्रकार तरह तरह के अनन्त पदार्थों की कल्पना करने की अपेक्षा इसमें न्यून कल्पना करनी पड़ेगी कि अग्नि को सामान्यरुपेण अर्थात् अग्नि मात्र को दाह का कारण न मान कर केवल चन्द्रकान्तमणि आदि के *अभाव से विशिष्ट* अग्नि को दाह का कारण माना जाय। इस प्रकार जब चन्द्रकान्तमणि आ जाता है तो उस समय अग्नि चन्द्रकान्तमणि के अभाव से युक्त नहीं होती, इसलिये वह दाह नहीं कर पाती। अथवा यह भी माना जा सकता है कि दाह में अग्नि के साथ

साथ चन्द्रकान्त मणि का अभाव भी स्वतंत्र रूप से (अर्थात् अग्नि के साथ २ दूसरा) कारण है, अर्थात् 'अग्नि' और 'चन्द्रकान्तमणि का अभाव' ये दोनों मिल कर दाह करते हैं। चन्द्रकान्तमणि के आने पर उसका अभाव नहीं रहता; अतः दाह नहीं होता।

इस पर यह शङ्का होती है कि यदि 'चन्द्रकान्तमणि के अभाव से युक्त अग्नि' या स्वतन्त्र रूप से 'चन्द्रकान्तमणि का अभाव' भी दाह का कारण है, तो उत्तेजक (सूर्यकान्त) मणि के होने पर चन्द्रकान्तमणि के होते हुए भी दाह क्यों हो जाता है। क्योंकि वहां पर दाह का कारण 'चन्द्रकान्तमणि का अभाव' तो विद्यमान नहीं है। फिर उस कारण के बिना दाह कैसे हो गया? इसका उत्तर देते हैं कि हम केवल (शुद्ध, अविशिष्ट) 'चन्द्रकान्तमणि के अभाव' को दाह का कारण नहीं मानते हैं, प्रत्युत उत्तेजक के अभाव से *विशिष्ट चन्द्रकान्तमणि के अभाव* को दाह का कारण मानते हैं। यहां पर यद्यपि चन्द्रकान्तमणि विद्यमान है, तथापि उत्तेजक (सूर्यकान्त) मणि के *अभाव से विशिष्ट चन्द्रकान्तमणि नहीं है* (क्योंकि उत्तेजक यहां विद्यमान है)। ऐसी दशा में 'उत्तेजक मणि के अभाव से विशिष्ट चन्द्रकान्तमणि का अभाव' यहां विद्यमान ही है, और वही दाह का कारण माना जाता है। इसलिये यहां पर दाह के कारण विद्यमान होने से दाह हो जाता है। वस्तुतः अविशिष्ट (सामान्य) वस्तु से विशिष्ट वस्तु अलग होती है। 'देवदत्त' और 'दण्ड वाले देवदत्त' में अन्तर है। उपर्युक्त स्थल में सामान्य रूपेण चन्द्रकान्तमणि का अभाव तो नहीं है, परन्तु सूर्यकान्त मणि से रहित चन्द्रकान्तमणि एक विशिष्ट प्रकार का मणि हुआ, वैसा विशिष्ट चन्द्रकान्तमणि वहां पर नहीं है अर्थात् विशिष्ट प्रकार के चन्द्रकान्तमणि का अभाव ही है। और विशिष्ट प्रकार के चन्द्रकान्तमणि के अभाव को ही हम दाह का कारण मानते हैं। इसलिए कोई दोष नहीं आता।

इसी प्रकार 'सादृश्य' को यदि कोई 'पदार्थ' माना जाय, तब तो यह प्रश्न उठता है कि सातों पदार्थों के अन्तर्गत नहीं आ सकता अतः एक

अलग पदार्थ होगा। परन्तु 'सादृश्य' कोई पदार्थ नहीं है। प्रत्युत किसी पदार्थ के भिन्न होने पर भी उस पदार्थ के बहुत से धर्म दूसरे पदार्थ में पाए जायं, तो उसे ही 'सादृश्य' कहते हैं। जैसे, मुख चन्द्र से भिन्न है तो भी उसमें चन्द्रमा के धर्म 'आह्लादकत्व' आदि पाये जाते हैं। इन्हीं समान धर्मों का पाया जाना 'सादृश्य' है। ये समान धर्म द्रव्य, गुण, कर्म, आदि के ही अन्तर्गत होते हैं। इसलिये सादृश्य कोई पृथक् पदार्थ नहीं है।

सि० मु०:– द्रव्याणि विभजते—

का०– क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः।
द्रव्याणि, ...

अनु०:— द्रव्यों का विभाग किया जाता है:—

पृथिवी, जल, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मनस् द्रव्य हैं।

सि० मु०:– क्षितिः पृथिवी, आपो जलानि, तेजो वह्निः, मरुद् वायुः, व्योम आकाशः, कालः समयः, दिग् आशा, देही आत्मा, मनः एतानि नव द्रव्याणीत्यर्थः।

अनु०:—क्षिति अर्थात् पृथिवी, आपः अर्थात् जल, तेजस् अर्थात् अग्नि, मरुत् अर्थात् वायु, व्योमन् अर्थात् आकाश, काल अर्थात् समय, दिक् अर्थात् दिशा (आशा), देहिन् अर्थात् आत्मा, और मनस् ये नौ द्रव्य हैं—यह (कारिका का) अर्थ है।

सि० मु०:—ननु द्रव्यत्वजातौ किं मानम्? न हि तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं, घृतजतुप्रभृतिषु द्रव्यत्वाग्रहादिति चेत्? न, कार्यसमवायिकारणतावच्छेदकतया, संयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणतावच्छेदकतया तत्सिद्धेरिति।

अनु०:—यह शङ्का होती है (ननु) कि 'द्रव्यत्व' जाति में क्या प्रमाण है? उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण तो है नहीं, क्योंकि घृत और लाख (जतु) आदि में (साधारण लोगों को) 'द्रव्यत्व' की प्रतीति नहीं होती। (उत्तर देते हैं कि) यह शङ्का नहीं करनी चाहिये (न), क्योंकि कार्यमात्र की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में अथवा संयोग या विभाग की समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप में द्रव्यत्व जाति की सिद्धि होती है। (देखो व्याख्या)।

व्याख्या:—न्याय-वैशेषिक शास्त्र में 'द्रव्य' (Substance) उस वस्तु को कहते हैं, जिसमें गुण और कर्म रहते हैं। यह शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है। परन्तु साधारण (अदार्शनिक) मनुष्य कभी कभी बहुमूल्य वस्तु को ही द्रव्य कहते हैं। और कभी कभी वे किसी ठोस वस्तु को ही द्रव्य समझते हैं। एवम् लोक-व्यवहार में द्रव्य शब्द का प्रयोग शास्त्र में माने हुए 'द्रव्य' पदार्थ के लिये प्रायः नहीं किया जाता। जैसे, 'गौ' इस शब्द का प्रयोग लोक और शास्त्र दोनों में ही गायों के लिये होता है। इस लिये 'गोत्व' जाति के विषय में कोई सन्देह नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि सब गायों में 'गोत्व' जाति रहती है। परन्तु 'द्रव्य' शब्द के प्रयोग के विषय में, जैसा ऊपर कहा गया है, लोक और शास्त्र में अन्तर है। लोक-व्यवहार में अशास्त्रीय लोग 'घृत' और 'लाख' को द्रव्य नहीं कहते। (घृत और लाख को उदाहरण के तौर पर क्यों रखा गया, इसका कारण यह प्रतीत होता है कि ये दोनों ही ठोस वस्तु नहीं है। इस लिये साधारण लोग इन्हें द्रव्य नहीं कहते। 'घृत' के साथ 'जतु' (लाख) को कदाचित् इसलिये जोड़ा है कि दोनों शब्दों का अन्त एकसा है। जैसे प्रायः 'घट और पट' को साथ साथ उदाहरण के लिये काम में लाते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से 'द्रव्य' का स्वरूप स्थापित करना आवश्यक है, जिससे 'द्रव्यत्व' जाति सिद्ध हो सके। इसलिये कहते हैं कि कार्यमात्र का जो समवायिकारण है, वह द्रव्य है। दूसरे शब्दों में, कार्यमात्र की समवायि-

कारणता की अवच्छेदक द्रव्यत्व जाति है, अर्थात् जिस जिस वस्तु में कार्य की समवायिकारणता पाई जायगी, वह द्रव्य होगा। नवीन न्याय में 'अवच्छेदक' और 'अवच्छिन्न' आदि शब्दों का प्रयोग बहुतायत से होता है। अवच्छेदक का शब्दार्थ है 'सब ओर से काटने वाला' (छेदक=काटने वाला) अर्थात् और सब पदार्थों से अलग करने वाला। जैसे 'घटत्व' जाति घट की 'अवच्छेदक' है, इसका अर्थ यह है कि वह घट को संसार के अन्य पदार्थों से अलग कर देती है। एक और भी बात ध्यान देने योग्य है। जब हम 'घट' शब्द को बोलते या 'घट' वस्तु को देखते हैं तो हम उसे 'द्रव्य' 'पृथिवी' आदि अनेक रूपों में देख सकते हैं क्योंकि घट द्रव्य भी है और पृथिवी भी है। परन्तु 'घटत्वावच्छिन्न' घट का अर्थ यह है कि घटत्व उसका अवच्छेदक है, दूसरे शब्दों में हम उसे केवल 'घट' के रूप में कहते हैं या देखते हैं। द्रव्य या पृथिवी के रूप में नहीं; यहाँ पर समवायिकारणता की अवच्छेदक द्रव्यत्व जाति है, इसका अर्थ यह है कि द्रव्यत्व के रूप में कोई वस्तु समवायिकारण होती है अर्थात् जो जो द्रव्य है वह वह समवायिकारण होता है और द्रव्य के अतिरिक्त गुण आदि कोई पदार्थ समवायिकारण नहीं होता। नौ द्रव्य माने गये हैं। वे किसी न किसी कार्य (द्रव्य, गुण या कर्म) के समवायिकारण होते हैं। पृथिवी जल, तेजस्, वायु और ये चार मूर्त्त द्रव्य तो द्रव्य गुण कर्म तीनों के ही समवायिकारण होते हैं, बाकी आकाश आदि नित्य द्रव्य भी अपने २ गुणों के समवायिकारण होते हैं। और, 'द्रव्य' के अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ गुण आदि समवायिकारण हो ही नहीं सकता। इसलिए द्रव्यत्व जाति द्रव्य मात्र की समवायिकारणता की अवच्छेदक होने से सिद्ध हो जाती है।

कार्यमात्र के प्रति समवायिकारणता का अवच्छेदक कहने में कुछ गौरव (आधिक्य) आता है, क्योंकि इसमें कार्यत्व' कोई जाति नहीं, प्रत्युत 'उपाधि' है। उसका स्वरूप समझना आवश्यक होगा। (जाति और उपाधि का अन्तर समझने के लिए देखो 'सामान्य' का लक्षण करने वाली कारिका सं० ८)। और फिर 'कार्य' में भी यावत् संसार के सारे कार्य आ जाएंगे।

इसलिए यदि 'लघु' स्वरूप वाले लक्षण से काम चल सके तो गौरवयुक्त (आधिक्यपूर्ण) लक्षण को छोड़ दिया जाता है। इसलिए लघु स्वरूप वाले लक्षण करने के लिए कहा गया कि जो 'संयोग' का समवायिकारण हो, वह द्रव्य है। अर्थात् संयोग की समवायिकारणता की अवच्छेदक द्रव्यत्व जाति है। 'कार्य' के बदले केवल 'संयोग' डालने से दो प्रकार का लाघव होगया। एक तो 'कार्य' व्यापक वस्तु है और 'संयोग' उसका अंशमात्र है; और द्वितीय यह कि 'कार्य' में रहने वाली 'कार्यत्व' कोई जाति नहीं, और 'संयोग' में रहने वाली 'संयोगत्व' जाति है। और वह कार्यता की अवच्छेदक हो जाएगी। इस प्रकार 'संयोगत्व' से अवच्छिन्न जो कार्यता उसकी समवायिकारणता की अवच्छेदक द्रव्यत्व जाति हो जायगी। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि 'कार्यत्व' का तो स्वरूप समझना पड़ता है क्योंकि वह उपाधि है अर्थात् मानसिक वस्तु है, परन्तु 'संयोगत्व' एक निश्चित बाह्य वस्तु है। इसलिए 'जाति को 'उपाधि' की अपेक्षा सदा लघु माना जाता है।

परन्तु उपर्युक्त लक्षण में भी एक दोष आता है। कुछ नैयायिक नित्य संयोग मानते हैं। उनके सिद्धान्त में दो विभु पदार्थों में, जैसे आकाश और काल में नित्य संयोग सम्बन्ध रहता है। यद्यपि नित्यसंयोग सब लोग नहीं मानते, तथापि जिनके मत में नित्यसंयोग स्वीकार किया गया है, उनकी दृष्टि से नित्यसंयोग तो कार्य होंगे नहीं, अर्थात् इस प्रकार सारे संयोग कार्य नहीं होंगे। ऐसी दशा में 'संयोगत्व' जाति कार्यता की अवच्छेदक नहीं होगी। इस प्रकार दोष आ जायगा। उसको दूर करने के लिए अन्तिम और सिद्धान्त रूप से माना गया 'द्रव्यत्व' का लक्षण इस प्रकार हुआ कि 'जो विभाग की समवायिकारणता का अवच्छेदक हो'। जैसे, विभु पदार्थों में 'नित्य संयोग' माना गया है, वैसे 'नित्य विभाग' तो स्वीकार ही नहीं किया जा सकता। क्योंकि विभाग संयोगपूर्वक होने से सदा अनित्य ही होता है। अतः 'विभागत्व' जाति से अवच्छिन्न कार्यता हो सकती है, उस कार्यता की समवायिकारणता की अवच्छेदक द्रव्यत्व जाति होगी।

सि० मु०:— ननु दशमं द्रव्यं तमः कुतो नोक्तम्? तद्धि प्रत्यक्षेण गृह्यते तस्य च रूपवत्त्वात् कर्मवत्त्वाच्च द्रव्यत्वम्। तद्धि गन्धशून्यत्वान्न पृथिवी, नीलरूपवत्त्वाच्च न जलादिकम्। तत्प्रत्यक्षे चाऽऽलोकनिरपेक्षं चक्षुः कारणमितिचेद्? न, आवश्यकतेजोऽभावेनैवोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। रूपवत्ता प्रतीतिस्तु भ्रमरूपा, कर्मवत्ता प्रतीतिरप्यालोकापसरणौपाधिकी भ्रान्तिरेव। तमसोऽतिरिक्तद्रव्यत्वेऽनन्तावयवादिकल्पनागौरवं च स्यात्। सुवर्णस्य यथा तेजस्यन्तर्भावस्तथाऽग्रेवक्ष्यते।

अनु०:— प्रश्न होता है (ननु) कि दसवें द्रव्य अन्धकार को क्यों नहीं कहा, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है, और क्योंकि रूप वाला और कर्म वाला होने से उसका द्रव्य होना भी सिद्ध है। वह गन्ध रहित होने से पृथिवी नहीं हो सकता, और नील रूप वाला होने से जल आदि भी नहीं हो सकता। और उसके प्रत्यक्ष में प्रकाश की अपेक्षा के बिना ही चक्षु कारण है। (इसका उत्तर देते हैं कि) यह ठीक नहीं (न), क्योंकि तेजस् (प्रकाश) के अभाव से ही जिस तेजोऽभाव का मानना आवश्यक है, जब काम चल सकता है तो दूसरे (अलग) द्रव्य की कल्पना उचित नहीं। (अन्धकार) के रूप वाले होने का ग्रहण भी एक भ्रान्तिमात्र है, और कर्म वाला होने की प्रतीति भी प्रकाश के हटने की उपाधि (अपेक्षा) से होती है और वह भी भ्रान्तिमात्र है। यदि अन्धकार को अतिरिक्त द्रव्य माना जाय तो उसके अनन्त अवयव आदि की कल्पना का गौरव भी होगा। सुवर्ण जिस प्रकार तेजस् के अन्दर आ जाता है, यह आगे बतायेंगे।

व्याख्या :— कतिपय मीमांसक 'अन्धकार' को भी नौ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य मानते हैं। वे कहते हैं कि जिसमें गुण और क्रिया (कर्म) हो, वह द्रव्य होता है। 'अन्धकार' में भी नील रूप (गुण) विद्यमान है, और 'अन्धकार चलता है' ऐसी प्रतीति भी होती है। इसलिए गुण व क्रिया (कर्म) वाला होने से 'अन्धकार' का 'द्रव्य' होना सिद्ध हो जाता है। द्रव्य होने पर भी वह नौ द्रव्यों में नहीं आता। क्योंकि, उसमें गन्ध नहीं है इसलिए पृथिवी नहीं हो सकता, और नील रूप होने के कारण वह पृथ्वी के अतिरिक्त जल आदि शेष द्रव्यों में से भी कोई नहीं हो सकता, क्योंकि जल और अग्नि का रूप 'श्वेत' होता है, नील नहीं; तथा शेष द्रव्यों (वायु, आकाश काल, दिक्, आत्मा और मनस्) का कोई भी रूप नहीं होता। इसलिए 'अन्धकार' उनसे भिन्न होगा। इसके अतिरिक्त अन्धकार का अन्य द्रव्यों से एक और भी भेद है। अन्य रूप वाले द्रव्यों का प्रत्यक्ष प्रकाश की सहायता से होता है, परन्तु अन्धकार का प्रत्यक्ष बिना प्रकाश की सहायता के ही होता है। इसलिए अन्धकार म.ने हुए नौ द्रव्यों से भिन्न (अलग) द्रव्य मानना चाहिए।

इसका उत्तर देते हैं कि अन्धकार प्रकाश के अभाव का ही नाम है। प्रकाश (तेजस्) को मानने से प्रकाश का अभाव भी मानना आवश्यक ही है। और अन्धकार को प्रकाश का अभावरूप मानने से जब काम चल सकता है, तो नए द्रव्य की कल्पना क्यों की जाय? परन्तु प्रश्न यह होगा कि अन्धकार यदि अभावरूप ही है तो उस में गुण और कर्म की प्रतीति कैसे होती है? इसका उत्तर यही है कि ये दोनों प्रतीतियाँ केवल भ्रम हैं। जैसे 'नीला आकाश है' यह प्रतीति भ्रम है, क्योंकि आकाश का कोई रूप नहीं, वैसे ही 'नीला अन्धकार है' यह प्रतीति भी भ्रम है। इसी प्रकार 'अन्धकार चलता है' यह प्रतीति भी प्रकाश के हटने से होती है, अर्थात् जब प्रकाश एक जगह से दूसरी जगह जाता है, तो प्रकाश के चलने के कारण अन्धकार भी चलता सा मालूम पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि यदि अन्धकार

को अलग द्रव्य माना जाय तो उसके अवयव आदि भी मानने पड़ेंगे, और इस प्रकार बहुत सी नई कल्पनाएँ करनी पड़ेंगी। इतनी अधिक कल्पनाओं की अपेक्षा यही उचित है कि अन्धकार को प्रकाश (तेजस्) का अभावरूप ही माना जाय।

कुछ लोगों ने सुवर्ण को भी ९ द्रव्यों के अतिरिक्त द्रव्य माना है, परन्तु वह भी ठीक नहीं। क्योंकि सुवर्ण 'अग्नि' (तेजस्) है, यह आगे बताया जायगा।

सि० मु०— गुणान् विभजते।

का० अथ गुणा रूपं रसो गन्धस्ततः परम् ॥३॥
स्पर्शः संख्या परिमितिः पृथक्त्वञ्च ततः परम्
संयोगश्च विभागश्च परत्वं चाऽपरत्वकम् ॥४॥
बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम्
द्रवत्वं स्नेहसंस्कारावदृष्टं शब्द एव च ॥५॥

अनु०: - गुणों का विभाग किया जाता है:--

गुण ये हैं (अथ गुणाः)--१ रूप, २ रस, ३ गन्ध, और उसके बाद ४ स्पर्श, ५ सङ्ख्या, ६ परिमाण, ७ पृथक्त्व, और उसके बाद ८ संयोग, ९ विभाग, १० परत्व, ११ अपरत्व, १२ बुद्धि, १३ सुख, १४ दुःख, १५ इच्छा, १६ द्वेष, १७ प्रयत्न, १८ गुरुत्व, १९ द्रवत्व, २० स्नेह, २१ संस्कार, २२-२३ अदृष्ट (=धर्म और अधर्म), तथा २४ शब्द।

सि० मु०:--एते गुणाश्चतुर्विंशतिसंख्याकाः कणादेन कण्ठतश्चशब्देन च दर्शिताः। तत्र गुणत्वजातिसिद्धिरग्रे वक्ष्यते।

अनु०:—ये २४ गुण कणाद ने (कुछ तो) कण्ठ से अर्थात् साक्षात् रूप से और (बाकी) 'च' शब्द से दिखाए हैं। गुणत्व जाति की सिद्धि आगे की जाएगी।

व्याख्या:—इन २४ गुणों में से कणाद ने अपने सूत्रों में केवल पहिले १७ गुण कहे हैं। अर्थात् 'रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये चार जो कि परमाणुयुक्त द्रव्यों के विशेष गुण हैं; तथा सङ्ख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व और अपरत्व—ये सात जो कि सामान्य गुण हैं, तथा बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न—ये छः जो कि आत्मा के विशेष गुण हैं'। केवल ये १७ गुण (४ + ७ + ६ = १७) कणाद ने वैशेषिक सूत्र में गिनाए हैं। सूत्र इस प्रकार है:- "रूपरसगन्धस्पर्शाः, संख्या, परिमाणानि, पृथक्त्वं, संयोगविभागौ, परत्वापरत्वे, बुद्धयः, सुखदुःखे, इच्छाद्वेषौ, प्रयत्नाश्च गुणाः"। कणाद के बाद प्रशस्तपाद ने वैशेषिक-शास्त्र के सम्प्रदाय में सात नए गुण, अर्थात् १ गुरुत्व, २ द्रवत्व, ३ स्नेह, ४ संस्कार, ५-६ धर्म और अधर्म (अदृष्ट), तथा ७ शब्द, बढ़ाए। प्राचीन ऋषियों के प्रति गौरव रखने की दृष्टि से यह नहीं कहा गया कि कणाद के सूत्र में कोई न्यूनता थी, जो दूर कर दी गई। प्रत्युत यह माना गया कि कणाद ने अपने उपर्युक्त सूत्र में 'प्रयत्नाश्च' यहाँ पर 'च' शब्द इन सात गुणों को भी गिनाने के लिये डाला है। यह स्पष्ट है कि साधारणतया 'च' अव्यय केवल समुच्चयार्थक है और सूत्र में गिनाए १७ गुणों को इकट्ठा करके कहने के लिए डाला गया है। इस 'च' शब्द से यह समझा जाय कि कणाद को अन्य अधिक गुण भी अभीष्ट थे, और वे अधिक गुण गुरुत्व आदि सात गुण हैं, अत्युक्ति ही है, जो कि ऋषि के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिये की गई है। (गुणों के स्वरूप के लिये गुण प्रकरण देखो)

सि० मु०:—कर्माणि विभजते।

का०:- उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा।
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च ॥६॥

अनुः—(अब) कर्मों का विभाग किया जाता है:—
१ ऊपर फेंकना, २ नीचे फेंकना, ३ सङ्कुचित करना, ४ फैलाना, और ५ गमन (चलना) ये पाँच कर्म हैं।

सि० मु०:—कर्मत्वजातिस्तु प्रत्यक्षसिद्धा। एवमुत्क्षेपणत्वादिकमपि। नन्वत्र भ्रमणादिकमपि पञ्चकर्माधिकतया कुतो नोक्तमत आह :—

अनु०:—कर्मत्व जाति तो प्रत्यक्ष सिद्ध है (अर्थात गुरुत्व जाति के समान उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है) इसी प्रकार 'उत्क्षेपणत्व' आदि (कर्म की अवान्तर जाति) भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। प्रश्न यह होता है (ननु) कि भ्रमण (चक्कर में घूमना) आदि को (उपर्युक्त) पाँचों कर्मों से अतिरिक्त रूप में क्यों नहीं कहा गया। अतः उत्तर देते हैं :—

का०:– भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥७॥

अनु०:— चक्कर में घूमना, किसी वस्तु का बाहर निकलना (जैसे, शरीर से मल आदि का) बहना, और ऊपर की ओर जलना, तथा तिरछा चलना-ये सब कर्म गमन से ही आ जाते हैं (अर्थात ये 'गमन' से भिन्न कर्म नहीं हैं)।

सि० मु०— सामान्यं निरूपयति:—

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सता परतयोच्यते ॥ ८ ॥

अनुः— अब सामान्य का निरूपण किया जाता है :—

'सामान्य' दो प्रकार का कहा गया है: पर और अपर। द्रव्य आदि तीनों (अर्थात द्रव्य, गुण और कर्म) में रहने वाली 'सत्ता'

(जाति) पर जाति (अर्थात् सबसे बड़ी जाति) कही जाती है।

सि० मु०:— तल्लक्षणं तु नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्। अनेकसमवेतत्वं संयोगादीनामप्यस्त्यत उक्तं— नित्यत्वे सतीति। नित्यत्वे सति समवेतत्वं गगनपरिमाणादीनामप्यस्त्यत उक्तम्- अनेकेति। नित्यत्वे सति अनेकवृत्तित्वमत्यन्ताऽभावेऽप्यस्त्यतो वृत्तिसामान्यं विहाय समवेतत्वमित्युक्तम्।

अनु०:— सामान्य का लक्षण है— 'जो नित्य हो और अनेकों में समवेत हो, (अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहता हो)।' अनेकों में (एक से अधिक में) समवेत होना संयोग आदि में भी पाया जाता है, इसलिये कहा गया कि 'जो नित्य हो'। नित्य होने के साथ साथ समवाय सम्बन्ध से रहना आकाश के परिमाण में भी पाया जाता है, इसलिए कहा गया कि 'अनेकों में रहना' (आकाश का परिमाण केवल एक ही वस्तु अर्थात् आकाश में रहता है)। नित्य होने के साथ साथ अनेकों में रहना अत्यन्ताभाव में भी पाया जाता है, इसलिए सामान्य रूप से रहना (वृत्तित्वसामान्य) न कह कर 'समवाय सम्बन्ध से रहना' (समवेतत्व) कहा गया।

व्याख्या:— यहाँ 'सामान्य' (जाति) का लक्षण किया गया है:— 'जो नित्य हो और अनेक (अर्थात् एक से अधिक) वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता हो।' इस 'सामान्य' के लक्षण में तीन बातें रक्खी गई हैं:— (१) नित्य होना, (२) अनेकों में रहना और (३) समवाय सम्बन्ध से रहना। इनमें से, यदि एक को भी हटा दिया जाय तो लक्षण दूषित हो जायगा। यही बात क्रमशः दिखाई गई है। अर्थात्—

पिछली दो बातें अर्थात् (१) अनेकों में रहना, और समवाय सम्बन्ध से रहना— यदि इतना ही लक्षण करें तो वह 'संयोग' नामक गुण में

भी चला जायगा, क्योंकि 'संयोग' का यह स्वभाव है कि वह उन दोनों वस्तुओं में रहता है, जिनका कि संयोग होता है। जैसे, दण्ड और पुरुष का 'संयोग' दण्ड और पुरुष दोनों में रहता है। इस प्रकार यदि 'सामान्य' के लक्षण में पिछली दो बातें ही रक्खी जाँय तो वह लक्षण 'संयोग' में भी चला जायगा, इसलिए लक्षण में 'नित्य होने' की शर्त डाल दी गई। 'संयोग' गुण नित्य नहीं, अपितु अनित्य है। इसलिए अब यह लक्षण 'संयोग' में नहीं घट सकता।

यदि दूसरी बात अर्थात् 'अनेकों में (रहना)' छोड़ दें अर्थात् केवल इतना ही लक्षण रक्खें कि 'जो नित्य हो और समवाय सम्बन्ध से रहे' तो 'सामान्य' का लक्षण 'आकाश के परिमाण' में भी चला जायगा। क्योंकि आकाश-परिमाण नित्य आकाश का गुण होने से स्वयं भी नित्य है, और वह आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहता है। परन्तु 'अनेकों में रहना' लक्षण में जोड़ने से सामान्य का लक्षण आकाश-परिमाण में नहीं जा सकता, क्योंकि आकाश-परिमाण केवल एक आकाश में रहता है, अनेकों में नहीं।

यदि तीसरी बात अर्थात् 'समवाय सम्बन्ध से रहना' छोड़ दें और लक्षण केवल इतना ही करदें कि 'जो नित्य हो और अनेकों में रहता हो', तो 'सामान्य' का लक्षण अत्यन्ताभाव में भी चला जायगा। क्योंकि न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार 'अत्यन्ताभाव' (जैसे भूतल में 'घटाभाव' नित्य है, और वह अनेक वस्तुओं में , अर्थात् जहां जहां घटाभाव है, उन सब में रहता है। परन्तु वह स्वरूप सम्बन्ध से रहता है, समवाय सम्बन्ध से नहीं। इसलिए यदि 'समवाय सम्बन्ध से रहना' इतना अंश छोड़कर केवल साधारण रूप से रहना कहा जाय तो 'सामान्य' का लक्षण 'अत्यन्ताभाव' में भी चला जायगा। अतः 'साधारणरूपेण रहना' न कहकर 'समवाय सम्बन्ध से रहना' कहा गया है, और क्योंकि 'अत्यन्ताभाव' अपने आधार में समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहता, इसलिए 'सामान्य' का लक्षण 'अत्यन्ताभाव' में नहीं घटेगा।

इस प्रकार तीनों अंशों से युक्त अर्थात् "(१) जो नित्य हो और

(२) अनेकों में (३) समवाय सम्बन्ध से रहे',— यह 'सामान्य' का निर्दोष लक्षण हुआ।

नोटः यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि न्याय–वैशेषिक के मत में जहाँ कहीं समानता की प्रतीति हो वहां सब जगह 'जाति' या 'सामान्य' नहीं माना जा सकता। अनेक गायों में या घटों में समानता की प्रतीति का कारण 'गोत्व' या 'घटत्व' नामक 'सामान्य' है। परन्तु सारे भारतवर्ष के निवासियों में भी हमें 'भारतीयत्व' की समानरूप से प्रतीति होती है, परन्तु 'भारतीयत्व' कोई जाति (सामान्य) नहीं है-- वह तो केवल 'उपाधि' मात्र है, जिसकी कल्पना हमने केवल अपने 'विचार' या 'बुद्धि' से की है। वह नित्य नहीं है, और वह केवल मानसिक है-- उसका बाह्य जगत् में कोई अस्तित्व नहीं। इसके विपरीत 'गोत्व' और 'घटत्व' नित्य जातियां हैं। उनका बाह्य जगत् में अस्तित्व है। वे केवल मानस वस्तुएं नहीं हैं। 'जाति' 'उपाधि' का यह भेद न्याय के छात्र को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

सि० मु०:— एकमात्रव्यक्तिवृत्तिस्तु न जातिः। तथा चोक्तम्-- "व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथाऽनवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः॥"

अनु०:— केवल एक व्यक्ति में रहने वाली जाति नहीं होती। और वही बात (प्राचीन आचार्य उदयनाचार्य द्वारा) कही भी गई है :— (i) व्यक्ति का एकत्व (अर्थात् केवल एक व्यक्ति में रहना); (ii) व्यक्तियों की तुल्यता; (iii) पारस्परिक सङ्कर; (iv)(जाति में जाति के मानने से) अनवस्था होना; (v) (जिस जाति के मानने से वह जाति जिस पदार्थ में रहे उसके) स्वरूप की हानि; और (vi) (जिस जाति के मानने से समवाय) सम्बन्ध का अभाव (अर्थात समवाय संबन्ध न बन सके)— इस प्रकार (इन छः रूपों में) जाति बाधकों का संग्रह हुआ।

व्याख्या:— जाति का निर्दोष लक्षण करने के बाद उस लक्षण को

व्यावहारिक रूप से समझने के लिये यह बताया गया कि जाति कभी भी एक व्यक्ति में नहीं रहती। लक्षण के अनुसार अनेक स्थलों पर, जहां किसी विशेष 'उपाधि' के कारण 'समानता' की प्रतीति हो, जाति नहीं मानी जा सकती। उदयनाचार्य ने अपने किरणावली नामक (प्रशस्तपाद रचित पदार्थ-धर्मसङ्ग्रह के भाष्य) ग्रन्थ में एक कारिका में यह दिखलाया है कि कितनी बातें किसी समानता की प्रतीति के स्थल में जाति की बाधक होती हैं, जिनके कारण वहां पर जाति या सामान्य नहीं माना जा सकता, अपितु केवल 'उपाधि' मानी जाती है। ये छः जाति को रोकने वाले (जातिबाधक) हैं, जिनका क्रमशः वर्णन किया जाता है:—

(i) *व्यक्ति का एकत्व* (अभेद) अर्थात् जो धर्म केवल एक ही व्यक्ति में रहता हो, एक से अधिक में नहीं; जैसे 'आकाशत्व' केवल एक आकाश में ही रहता है, इसलिये 'आकाशत्व' जाति नहीं प्रत्युत उपाधि है।

(ii) *व्यक्तियों की तुल्यता* अर्थात् यदि कोई दो धर्म अलग अलग से मालूम पड़ते हों, परन्तु वे जिन व्यक्तियों में रहते हों वे व्यक्ति यदि तुल्य हों अर्थात् एक ही हों तो वे दो अलग अलग सामान्य नहीं माने जाएंगे। जैसे 'घट' और 'कलश' पर्यायवाचो शब्द हैं। ऊपरी दृष्टि से देखने पर किसी को यह भ्रम हो सकता है कि 'घटत्व' और 'कलशत्व' ये कदाचित् दो अलग अलग सामान्य (जातियां) हों। परन्तु 'घट' और 'कलश' पर्यायवाची शब्द हैं। इसलिये (भूल से अलग अलग समझे जाने वाले) वे दोनों धर्म घटत्व और कलशत्व जिन व्यक्तियों में (घट और कलश नामक व्यक्तियों में) रहेंगे, वे व्यक्ति एक ही हैं अर्थात् घट और कलश कोई अलग अलग व्यक्ति नहीं हैं। इसलिये 'घटत्व' और 'कलशत्व' दो अलग अगल जातियां नहीं मानी जा सकतीं। प्रत्युत वह एक ही जाति है, जिसके 'घटत्व' और 'कलशत्व' दो पर्यायवाची नाम हैं। (वस्तुतः यह बात कि दो पर्यायवाची शब्दों से दो अलग अलग जातियां नहीं बन सकतीं, इतनी स्पष्ट है कि इसको जाति-बाधकों में गिनाने की कोई विशेष आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती)।

(iii) सङ्कर अर्थात् किसी वस्तु में पाए जाने वाले ऐसे दो धर्म जाति (सामान्य) नहीं बना सकते जिनमें परस्पर सङ्कर हो अर्थात् जहां उन दोनों में से एक धर्म न पाया जाय वहां दूसरा धर्म विद्यमान रहता हो। सङ्कर का निरूपण इस प्रकार किया गया है:—'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयो-धर्मयोरेकत्र समावेश:'। इसका अर्थ यह है कि ऐसे दो धर्म, जो एक दूसरे के अभाव के समानाधिकरण हों (अर्थात् "जहां उनमें से एक का अभाव पाया जाय वहां दूसरा धर्म रहता हो") यदि कुछ व्यक्तियों में पाए जायें तो ऐसे दो धर्म उन व्यक्तियों में रहने वाली 'जाति' नहीं माने जा सकते। जैसे:—भूतत्व और मूर्तत्व ऐसे दो धर्म हैं। क्योंकि भूतत्व धर्म पांच भूतों में अर्थात् पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु और आकाश में रहता है, और मूर्तत्व धर्म का अर्थ है कि अविभु (अर्थात् विभु=सर्वव्यापक, उसके अतिरिक्त) परिमाण, जो कि पृथिवी, जल, तेजस् और वायु—इन चार परमाणु वाले द्रव्यों में तथा 'मनस्' में रहता है, (क्योंकि बाकी चार द्रव्य अर्थात् आकाश, काल, दिक् और आत्मा विभु परिमाण वाले हैं)। इस प्रकार भूतत्व और मूर्तत्व ये दोनों धर्म पृथिवी, जल, तेजस् और वायु इन चार में पाए जाते हैं। ये दोनों अर्थात् भूतत्व और मूर्तत्व उपर्युक्त पृथ्वी आदि चारों में रहने वाले 'सामान्य' के रूप में नहीं माने जा सकते। क्योंकि ये दोनों धर्म 'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरण' हैं। अर्थात् जहां उनमें से एक धर्म का अभाव है, उसी अधिकरण में दूसरा धर्म रहता है, जैसे कि आकाश में 'भूतत्व' का अभाव है और उस अभाव के साथ साथ 'भूतत्व' धर्म पाया जाता है। इसी प्रकार 'मनस्' में भूतत्व का अभाव है, और उसके अभाव के साथ साथ 'मूर्तत्व' धर्म पाया जाता है, इसलिये पृथिवी आदि चार में रहने वाला 'भूतत्व-मूर्त्तत्व' सामान्य (जाति, नहीं माना जा सकता।

इसी बात को दूसरे शब्दों में यों रख सकते हैं कि छोटी बड़ी जातियां इस प्रकार भी नहीं होती कि वे एक दूसरे को काटें। उनमें पारस्पारिक छोटे बड़े का विभाग इस प्रकार होता है कि बड़ी जाति के अन्दर छोटी

जातियां आ जाती हैं । दो जातियों के क्षेत्र अर्थात् व्यक्ति इस प्रकार नहीं होते कि उनका कुछ क्षेत्र परस्पर समान हो और कुछ अलग अलग हो, अर्थात् जहां एक का न हो, वहां दूसरे का हो, अर्थात् वे एक दूसरे को काटती हों (उनका cross—division होता हो) । इस बात को कि एक बड़ी जाति के अन्तर्गत छोटी जातियां आ जाती हैं, वे एक दूसरे को काटती नहीं, एक बड़े वृत्त और उसके अन्तर्गत आने वाले वृत्तों के द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है:—

सत्ता जातिः— (सङ्कर का अभाव)
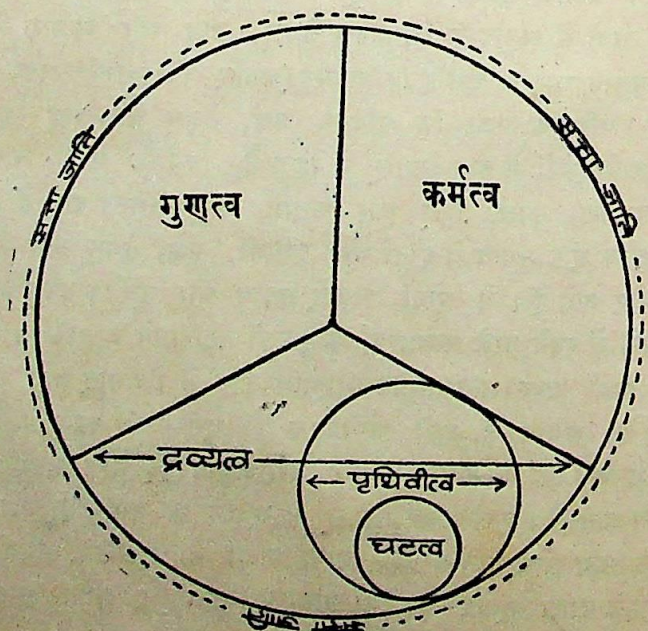
यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इन जातियों में से किसी का क्षेत्र एक दूसरे को नहीं काटता । परन्तु यदि 'भूतत्व-मूर्तत्व' नामक धर्म पृथ्वी आदि चार में रहने वाला 'सामान्य' मान लिया जाय, तो निम्न प्रकार से रहेगा:—

सङ्कर का उदाहरण
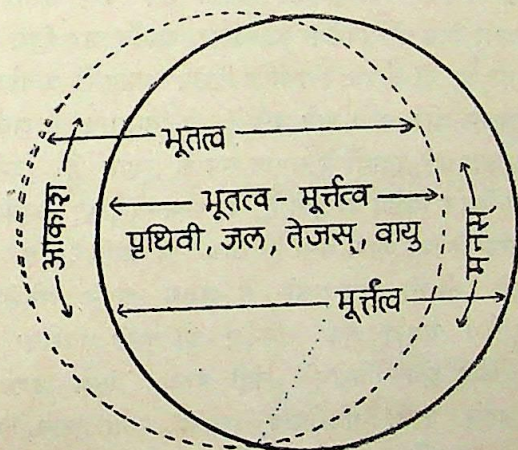
अर्थात् 'भूतत्व' और 'मूर्तत्व' का क्षेत्र एक दूसरे के अन्तर्गत नहीं आता, प्रत्युत एक दूसरे को काटता है। इसलिए 'भूतत्व-मूर्तत्व' नामक 'जाति' पृथ्वी आदि चार में रहने वाली नहीं मानी जा सकती।

(४) अनवस्थाः— जाति में भी रहने वाली यदि जाति मानी जाय, तो अनवस्था दोष आयगा। क्योंकि यदि 'सामान्य' में रहने वाली 'सामान्यत्व' नामक जाति मानी जाय अर्थात् सत्ता, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि जो 'सामान्य' माने गये हैं उनमें 'सत्तात्व' अथवा 'द्रव्यत्वत्व' या पृथिवीत्वत्व' आदि नाम की जातियां मानी जाँय, तो उसी प्रकार उनमें भी 'त्व' लगाकर और जातियों की कल्पना हो सकती है। इस प्रकार कहीं भी समाप्ति न होगी। इसलिए जाति में जाति नहीं मानी जाती, अर्थात् 'द्रव्यत्वत्व' आदि 'जाति' नहीं, प्रत्युत 'उपाधि' ही हैं।

(५) रूप हानिः— 'विशेष' (जिसका स्वरूप अगली कारिका में निरूपण किया जायगा) अनन्त माने गए हैं। क्योंकि 'विशेष' के द्वारा नित्य पदार्थ एक दूसरे से अलग किये जाते हैं। और परमाणु, आत्मा आदि के अनन्त होने के कारण 'विशेष' भी अनन्त हैं। यदि उनमें 'विशेषत्व' नामक जाति मानी जाय तो 'विशेष' का स्वरूप, अर्थात् वह जिस रूपमें माना जाता है वह, ही नष्ट हो जायगा। क्योंकि विशेष व्यावर्तक अर्थात् नित्यों को एक दूसरे से अलग करने वाले माने जाते हैं, वे 'सामान्य' से सर्वथा विपरीत हैं। जैसे 'सामान्य' कई पदार्थों में समान रूप से रहता है; विशेष' उससे सर्वथा विपरीत केवल विशेष ही होते हैं, वे 'सामान्य' रूप कदापि नहीं हो सकते। यहां तक कि यह माना गया है (जैसा कि आगे स्पष्ट होगा) कि 'विशेष' अपने को भी एक दूसरे से अलग अपने 'विशेष' स्वरूप से ही करते हैं। अर्थात् एक 'विशेष को दूसरे 'विशेष' से अलग करने वाला कोई और 'विशेष' नहीं होता। ऐसी दशा में यदि विशेषों में रहने वाली 'विशेषत्व' जाति मानी जाय, तो विशेषों का अलग करने का धर्म (व्यावर्तकत्व) उस 'विशेषत्व' जाति के द्वारा ही होगा। क्योंकि जहां 'सामान्य' रहता है, वहां पर वही अपने व्यक्ति को दूसरे पदार्थों से अलग करता है। इस प्रकार यदि 'विशेषत्व' जाति मानी जाय, तो 'व्यावर्त्तकत्व' धर्म उस 'विशेषत्व' जाति में ही रहेगा, और 'विशेष' पदार्थ को जो कल्पना ही 'व्यावर्त्तन' (अर्थात् नित्यों को एक दूसरे से अलग करने) के लिए की गई है, वह व्यर्थ हो जायगी। और इस प्रकार 'विशेष' पदार्थ का 'स्वरूप' ही नष्ट हो जायगा। इसलिए विशेषों में रहने वाली 'विशेषत्व' जाति नहीं मानी जा सकती, प्रत्युत 'विशेषत्व' को उपाधि ही माना जायगा।

(VI) असम्बन्ध :—अर्थात् सम्बन्ध का अभाव; यह 'समवाय' में 'समवायत्व, नामक जाति के मानने में बाधक है। क्यों कि यदि 'समवायत्व' जाति को माना जाय, तो वह समवाय में समवाय सम्बन्ध से ही रहेगी,

क्योंकि जाति अपने आश्रय में समवाय सम्बन्ध से ही रहती है। किन्तु समवाय में दूसरा समवाय रहे, यह सम्भव नहीं। इसलिए यदि समवाय में रहने वाली 'समवायत्व' जाति मानी जायगी, तो उस जाति का अपने व्यक्ति 'समवाय'– में रहने का कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता। इस प्रकार सम्बन्ध का न बन सकना (सम्बन्ध का अभाव) ही 'समवायत्व' नामक जाति के मानने में बाधक है। अतः 'समवायत्व' भी जाति नहीं, प्रत्युत उपाधि है।

सि० मु० :– द्रव्यादीति। परत्वमधिकदेशवृत्तित्वम्। अपरत्वमल्पदेशवृत्तित्वम्। सकलजात्यपेक्षयाऽधिकदेशवृत्तित्वात् सत्तायाः परत्वं, तदपेक्षया चाऽन्यासां जातीनामपरत्वम्॥

अनु० :— 'द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु' इत्यादि कारिकांश की व्याख्या करते हैं। 'परत्व' अधिक देश में रहने को कहते हैं और 'अपरत्व' थोड़े देश में रहने को। सारी जातियों की अपेक्षा अधिक देश में रहने के कारण 'सत्ता' जाति का 'परत्व' माना जाता है, और उसकी अपेक्षा अन्य जातियों का 'अपरत्व' है।

व्याख्या:— जिस जाति का देश=क्षेत्र (sphere) अर्थात् जिन व्यक्तियों में वह रहती है उन व्यक्तियों का क्षेत्र यदि अधिक हो अर्थात् दूसरे की अपेक्षा से अधिक हो, तो जिसकी अपेक्षा से क्षेत्र अधिक है उसकी अपेक्षा वह 'पर' जाति मानी जायगी। और जिस का देश (क्षेत्र) न्यून है, वह अपेक्षा से 'अपर' मानी जायगी। 'सत्ता' सब से बड़ी जाति मानी गई है। वह द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में रहती है। इन तीनों से अधिक अर्थात् सामान्य आदि सहित छः पदार्थों में या अभाव को भी मिलाकर सात पदार्थों में रहने वाली कोई जाति नहीं मानी जाती। क्योंकि ऊपर आ ही चुका है कि 'सामान्य' आदि पदार्थों में कोई जाति नहीं मानी जा सकती। इसलिए द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों पदार्थों में रहने वाली 'सत्ता' जाति सब से बड़ी जाति है। परन्तु 'सत्ता' शब्द का प्रयोग यहां पारिभाषिक (technical)

समझना चाहिए। साधारणतया 'सत्ता' शब्द 'अस्तित्व' (existence or being) के लिये आता है। और 'अस्तित्व' (existence) तो न्याय के अनुसार 'सामान्य' आदि में भी रहता है। यहां तक कि प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में साक्षात् रूप से यह कहा है कि 'अस्तित्व' द्रव्य आदि छहों पदार्थों में रहता है। यहां तक कि न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त में जब 'अभाव' नामक पदार्थ माना गया तो उसको भी सत् अर्थात् अस्तित्व से युक्त (real) पदार्थ माना गया, और उस 'अभाव' पदार्थ का सर्वथा 'असत्' (unreal, non-existent) शशशृङ्ग आदि पदार्थों से भेद किया जाता है। इस प्रकार 'अस्तित्व' को 'अभाव' में भी मानना पड़ेगा। इसलिए 'सत्ता' को जब द्रव्य, गुण और कर्म में रहने वाली 'जाति' के रूप में कहा गया है तब यह स्पष्ट है कि यहां 'सत्ता' 'अस्तित्व' को नहीं कहते। प्रत्युत 'सत्ता' शब्द पारिभाषिक या शास्त्र में लाक्षणिक है, वह उस सामान्य या जाति के लिये आया है, जो (जाति) द्रव्य, गुण और कर्म — इन तीनों में रहती है, और जो सब से बड़ी है, अर्थात्, जैसा कि ऊपर कहा गया है, ऐसी कोई जाति जो द्रव्यादि के अतिरिक्त सामान्य आदि में भी रहे, नहीं मानी जाती। यह भी समझ लेना चाहिए कि 'सत्ता' जाति या सामान्य है, और 'अस्तित्व' केवल उपाधि है।

आलोचना :—ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि कणाद के समय में न्याय-वैशेषिक शास्त्र में बाह्य-वस्तुरुपेण अस्तित्व (external and objective reality) केवल द्रव्य, गुण और कर्म, इन तीन ही में माना गया था; और 'सामान्य' आदि केवल बुद्धिसम्बन्धी या मानसतत्व माने गए थे। कणाद के सूत्र से 'सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्' (वैशेषिक I ii, ३) जिसका अर्थ है कि सामान्य और विशेष बुद्धि की अपेक्षा से होते हैं, यही सङ्केत मिलता है। इसलिए जब प्रशस्तपाद और उसके उत्तरवर्त्ती लोगों ने 'सामान्य' आदि को भी बाह्य-वस्तु-सत् (external and objective reality) मान लिया तो 'सामान्य' आदि में 'सत्ता' जाति [जिसका साधारणतया अर्थ 'अस्तित्व' (existence or being) ही समझा जाता था] न मानना बड़ी कठिन समस्या हो गई।

उसके तरह तरह के समाधान किये गए। परन्तु असली बात यही है कि पिछले न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में 'सत्ता' शब्द पारिभाषिक है, और वह 'अस्तित्व' (existence or being) से भिन्न है।

का०—परभिन्ना च या जातिः सैवाऽपरतयोच्यते।
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥९॥
व्यापकत्वात्पराऽपि स्याद् व्याप्यत्वादपराऽपि च।

सि० मु०:— पृथिवीत्वाद्यपेक्षयाद्रव्यत्वस्य व्यापकत्वादधिकदेशवृत्तित्वात् परत्वं, सत्ताऽपेक्षयाल्पदेशवृत्तित्वाद् व्याप्यत्वादपरत्वम्। तथा च धर्मद्वयसमावेशाद् उभयमविरुद्धम्॥

अनु०:— 'पर' जाति से जो भिन्न जाति है वही 'अपर' जाति कहलाती है। द्रव्यत्व आदि जाति 'परापर' जाति कही जाती है। व्यापक (पृथ्वीत्व आदि की अपेक्षा बड़ी) होने से वह 'पर' जाति है और व्याप्य (सत्ता की अपेक्षा छोटी) होने से वह 'अपर' जाति भी है

पृथिवीत्व आदि की अपेक्षा व्यापकता अर्थात् अधिकदेशवृत्ति के होने से द्रव्यत्व आदि जाति पर जाति है, सत्ता की अपेक्षा व्याप्यता अर्थात् अल्पदेशवृत्ति के होने से वह (द्रव्यत्व) अपर जाति भी है। इस प्रकार (आपेक्षिक) दो धर्मों के कारण दोनों बातें (अर्थात् पर और अपर होना) विरुद्ध नहीं हैं।

व्याख्या :— एक ही 'द्रव्यत्व' जाति का पर और अपर दोनों होना परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है। परन्तु वह आपेक्षिक दो भिन्न २ धर्मों की दृष्टि से है। अर्थात् पृथ्वीत्व की अपेक्षा अधिकदेशवृत्तित्व रूप धर्म से द्रव्यत्व का परत्व और सत्ता की अपेक्षा अल्पदेशवृत्तित्व रूप धर्म से द्रव्यत्व का अपरत्व बन सकता है। 'सत्ता' जो कि द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहती है, सबसे 'पर' सामान्य है। उसकी अपेक्षा द्रव्यत्व 'अपर' सामान्य है, क्योंकि कम

देश में रहता है। एवं 'द्रव्यत्व' पृथिवीत्व की अपेक्षा 'पर' सामान्य है, तथा 'पृथिवीत्व' द्रव्यत्व की अपेक्षा 'अपर' सामान्य है। इस प्रकार 'पर' सामान्य होना और 'अपर' सामान्य होना आपेक्षिक है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि पृथिवीत्व की अपेक्षा 'द्रव्यत्व' को 'पर' और सत्ता की अपेक्षा 'अपर' कह सकते हैं। इसी प्रकार दो भिन्न २ छोटी व बड़ी जातियों की अपेक्षा से उसे 'परापर' भी कह सकते हैं। और, इस प्रकार दो भिन्न २ अपेक्षाओं के कारण एक ही को 'पर' और 'अपर' दोनों कहना परस्पर विरुद्ध नहीं है।

सि० मु०:—विशेषं निरूपयति:—

का० अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिविशेषः परिकीर्त्तितः १०

अनु०:—'विशेष' पदार्थ का वर्णन किया जाता है:—

जो अन्तिम है और नित्य द्रव्यों में रहता है, वह विशेष कहा जाता है।

सि० मु०:—अन्तेऽवसाने वर्त्तत इत्यन्त्यः, यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः। घटादीनां द्व्यणुकपर्यन्तानां तत्तदवयव-भेदात्परस्परं भेदः। परमाणूनां परस्परभेदको विशेष एव। स तु स्वत एव व्यावृत्तः, तेन तत्र विशेषान्तरापेक्षा नास्तीति भावः॥

अनु०:—अन्त का अर्थ है अवसान (अर्थात् समाप्ति); जो अन्त में हो (अर्थात सब से अन्त में हो; देखो व्याख्या) अर्थात जिसकी अपेक्षा कोई अन्य विशेष न हो, (अर्थात् जो केवल एक वस्तु में रहता हो)—यह अभिप्राय है। घट आदि से लेकर द्व्यणुक पर्यन्त प्रत्येक वस्तु का परस्पर भेद अपने अपने अवयवों के भेद से होता है। (परन्तु) परमाणुओं का (जिनका कोई अवयव नहीं) परस्पर भेद करने वाला 'विशेष' ही है। और वह 'विशेष' स्वयं ही व्यावृत्त (अर्थात दूसरों से अलग) है, इसलिये उसमें (दूसरों से अलग करने के लिये)

कोई और दूसरा 'विशेष' मानने की आवश्यकता नहीं है।

व्याख्या:—'विशेष' 'न्याय-वैशेषिक' दार्शनिक सम्प्रदाय का एक मुख्य और विशिष्ट सिद्धान्त है। यहां तक कि ऐसा प्रतीत होता है कि 'वैशेषिक' का नाम भी इस विशेष पदार्थ के मानने के कारण ही पड़ा है। इस प्रकार यह न्यायवैशेषिक का एक खास सिद्धान्त प्रतीत होता है। फिर भी 'विशेष' के स्वरूप-निरूपण पर पिछले ग्रन्थों में अधिक ध्यान नहीं दिया गया, और केवल प्राचीन लेखकों के शब्द दोहराए गए हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि 'विशेष' पदार्थ के स्वरूप को अच्छी तरह समझा जाय।

'विशेष' के निरूपण में कारिका में और उसकी टीका 'मुक्तावली' और लगभग सभी आधुनिक ग्रन्थों में दो मुख्य बातें कही गई हैं:—

(१) विशेष 'अन्तिम' है अर्थात् 'अन्तिम विशेष' है। उसकी अपेक्षा अर्थात् उसके आगे कोई विशेष नहीं होता।

(२) वह नित्य पदार्थों में रहता है।

विशेष 'अन्तिम है, इसका अर्थ क्या है? ऊपर सामान्य के वर्णन में 'पर' और 'अपर' सामान्य का वर्णन आया है। ऊपर सामान्य के लिये प्राचीन ग्रन्थों में 'सामान्य विशेष' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् 'द्रव्यत्व' एक 'सामान्य विशेष' है। 'सत्ता' की अपेक्षा वह 'विशेष' है; अर्थात् 'सत्ता' की अपेक्षा उसका देश कम है, अथवा यह कहा जा सकता है कि द्रव्यत्व जाति गुण और कर्म से द्रव्य को अलग करती है, इसलिए वह 'सामान्य' होने के साथ साथ 'विशेष' भी है। अतः 'सत्ता' को छोड़कर बाकी सारे 'सामान्य' 'सामान्य विशेष' कहलाते हैं, अर्थात् वे अपने से छोटी (कम देश वाली) जाति की अपेक्षा सामान्य और अपने से बड़ी (अधिक देश वाली) जाति की अपेक्षा 'विशेष' हैं, और इसीलिए उन जातियों को 'परापर सामान्य' भी कह सकते हैं, जैसा कि ऊपर बताया गया है। अर्थात् अपने से छोटे सामान्य की अपेक्षा 'पर' और अपने से बड़े सामान्य की अपेक्षा 'अपर'। क्योंकि 'सत्ता' से बड़ी कोई जाति नहीं कि जिसकी अपेक्षा उसे 'विशेष' कहा जा सके। इसलिए वैशेषिक सूत्रों में यह भी आता

है कि सत्ता केवल 'सामान्य' ही है विशेष नहीं, और यह कि सत्ता ही केवल 'परसामान्य' है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि सामान्य और विशेष ये दोनों शब्द परस्पर सापेक्ष हैं। एक के साथ दूसरा जुड़ा है। जिस प्रकार सबसे अधिक देशवाली 'सत्ता' नामक जाति के लिए कहा गया कि वह केवल 'सामान्य' ही है, उसी प्रकार ऐसे धर्म को, जो केवल 'एक' ही पदार्थ में रहे और जो केवल उस पदार्थ को दूसरों से अलग करने का (व्यावृत्ति का) काम करे, एवं किसी वस्तु के साथ उसका 'सामान्य' अर्थात् समानरूपता न करे, केवल 'विशेष' ही कहा गया। इसीलिए उसे 'अन्तिम' विशेष कहा गया है, अर्थात् उसकी अपेक्षा कोई और विशेष हो ही नहीं सकता। इस प्रकार 'सामान्य विशेष' की एक सीमा 'सत्ता' जाति है, और दूसरी सीमा नित्य पदार्थों में रहने वाला 'विशेष' है। अन्तर यह है कि सत्ता को 'अन्तिम सामान्य' या 'केवल सामान्य' कहा गया है तथा वह 'सामान्य' पदार्थ के ही अन्तर्गत है; परन्तु 'विशेष', जो कि 'अन्तिम विशेष' है, 'सामान्य' पदार्थ नहीं, है, अपितु एक अलग पदार्थ माना गया है। इस प्रकार दो पदार्थ मानने की तुलना 'महत्' और 'अणु' परिमाण की कल्पना से भी की जा सकती है। दृश्य परिमाण, जिसे साधारणतया 'महत्परिमाण' कहा जाता है, उसकी एक सीमा 'परम महत्परिमाण' है, जो आकाश आदि का परिमाण माना जाता है और जिससे बड़ा कोई परिमाण हो ही नहीं सकता; और दूसरी सीमा 'अणु' का परिमाण है, जो सबसे छोटा है और जिससे छोटा कोई परिमाण हो ही नहीं सकता। परन्तु परम महत्परिमाण को महत्परिमाण का ही एक विशेषरूप (विभाग) माना गया है जब कि अणुपरिमाण को अलग ही प्रकार का परिमाण माना गया है। यह ध्यान रखना चाहिये कि तुलना केवल इतने ही अंश में है कि सबसे बड़े परिमाण को साधारण दृश्य परिमाण अर्थात् महत्परिमाण का ही दूसरा प्रकार माना गया है, परन्तु सबसे छोटे परिमाण को एक अलग प्रकार

'भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात्सामान्यमेव' वैशेषिक सूत्र अ० १ सू० ३५ (भाव=सत्ता)

का परिमाण अर्थात् अणु परिमाण माना गया है, और इस प्रकार परिमाण के दो विभाग किये गए – एक महत्परिमाण और दूसरा अणुपरिमाण ; परन्तु ये दोनों प्रकार के परिमाण 'परिमाण' नामक 'गुण' के ही विभाग हैं। 'सामान्य' और 'विशेष' के विषय में वही बात पदार्थों के विभाग से सम्बन्ध रखती है। अर्थात्.– 'सत्ता' जो सबसे अधिक व्यापक है और केवल सामान्य है, उसे 'सामान्य' के ही अन्तर्गत रक्खा गया है, क्योंकि उसके द्वारा अनुवृत्ति अर्थात् एक से अधिक पदार्थों में 'सामान्य प्रत्यय' अर्थात् 'एक सा होने का भाव' होता है, और 'विशेष', जो कि सबसे कम क्षेत्र वाला है, अर्थात् केवल एक ही व्यक्ति में रहता है, उसे अलग पदार्थ माना गया है, क्योंकि वह अनुगत प्रतीति (अर्थात् अनेक वस्तुओं में समान होने की प्रतीति) न करने के कारण 'सामान्य' नहीं हो सकता, अर्थात् 'केवल विशेष' ही है।

अब 'विशेष' के विषय में इस दूसरी बात पर विचार करना चाहिए कि वह नित्य द्रव्यों में अर्थात् पृथिवी आदि चार प्रकार के अणुओं में और आकाशादि चार विभु द्रव्यों में रहता है। इसके विषय में न्याय वैशेषिक ग्रन्थों में एक युक्ति चली आती है, उसी को 'मुक्तावलीकार' ने यहां दिया है, कि घट जैसे स्थूल कार्य से लेकर द्व्यणुक पर्यन्त अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्म कार्य का परस्पर भेद उनके अलग अलग अवयवों से होता है। जैसे कि, दो घटों में घटत्व जाति विद्यमान है, किन्तु फिर भी वे दो अलग अलग व्यक्ति हैं, यह भेद इसलिए है कि एक घट के अवयव भी दूसरे घट के अवयवों से भिन्न है। इसी प्रकार घट के अवयव अर्थात् दोनों कपालों का आपस में भेद है, क्योंकि उन दोनों कपालों के अवयव परस्पर भिन्न हैं। इस प्रकार सूक्ष्म की ओर जाते हुए हम अन्त हैं द्व्यणुक तक पहुंचते हैं, क्योंकि द्व्यणुक सबसे सूक्ष्म कार्य है क्योंकि द्व्यणुक से भी सूक्ष्म 'अणु' तो कार्य-द्रव्य है ही नहीं, प्रत्युत नित्य है) घट के दो द्व्यणुकों में जो व्यक्ति भेद है, अर्थात् वे दोनों अलग अलग व्यक्ति हैं, वह उन दोनों के अवयव रूप अलग २ अणुओं के कारण है, अर्थात् दोनोंके अवयवरूप 'अणु' भिन्न भिन्न हैं। यहां पर अवयवों के कारण जो दो व्यक्तियों में भेद दिखाया गया है, वह उन वस्तुओं

के भेद के विषय में कहा गया है जो सर्वथा एक ही प्रकार की और एक ही जाति की हो, जैसे ऊपर दो घट, दो कपाल या एक ही वस्तु के दो द्व्यणुकों का उदाहरण दिया गया है। कई बार भूल से ऐसे उदाहरण भी दिये जाते हैं कि घट और पट का भेद अवयव-भेद के कारण है। वस्तुतः घट और पट का भेद तो भिन्न भिन्न जातियों के कारण है। इसलिये वह उदाहरण यहां असङ्गत है।

परन्तु प्रश्न यह होता है कि एक से (समान जातीय) परमाणुओं में, उदाहरणार्थ पृथ्वी के दो परमाणुओं में जिनके कोई अवयव नहीं, परस्पर भेद किस प्रकार होगा, अर्थात् दो या अनेक अणुओं का अलग अलग व्यक्तित्व होने का आधार क्या हो सकता है? इसके उत्तर में 'विशेष' पदार्थ की कल्पना की गई है। समान जातीय अणुओं में जहां अवयव भेदक नहीं हो सकते, वहां भेद करने वाला पदार्थ 'विशेष' है, अर्थात् प्रत्येक परमाणु में 'विशेष' नामक पदार्थ रहता है, वह उस परमाणु का समान जातीय दूसरे परमाणु से भेद करता है। इस प्रकार विशेष' अनन्त हैं। परन्तु प्रश्न यह हो सकता है कि इन 'विशेषों' में ही एक 'विशेष' का दूसरे 'विशेष' से भेद करने वाला तत्त्व क्या है? इसका उत्तर यही दिया गया है कि 'विशेष' स्वयं ही व्यावृत्त हैं अर्थात् एक विशेष से दूसरा 'विशेष' स्वयंमेव अलग है, उसके भेद करने के लिये किसी दूसरे 'विशेष' को मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यदि एक विशेष' का दूसरे 'विशेष' से भेद करने वाला कोई दूसरा विशेष माना जाय तो उस दूसरे भेदक विशेष का भेद करने के लिये एक और 'विशेष' की कल्पना करनी पड़ेगी, और इस प्रकार अनवस्था (ad infinitum) का दोष आ जायगा।

यहां पर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठा कि यदि एक विशेष का

Bodas रचित 'तर्कसङ्ग्रह' की अंग्रेज़ी व्याख्या। ('Tarkasangraha' edited with critical and explanatory notes by M. R. Bodas; P. 94) में भी ऐसी भूल की है।

दूसरे विशेष से भेद स्वयं ही हो जाता है, तो यह क्यों न मान लिया जाय कि एक परमाणु का दूसरे परमाणु से भी भेद स्वयमेव हो जायगा, और फिर 'विशेष' पदार्थ की क्यों कल्पना की जाय ? इस प्रश्न को स्वयं प्रशस्तपाद ने उठाया है, और उसका उत्तर यह दिया है कि 'विशेष' नामक पदार्थ का स्वरूप (essence or identity) ही एक दूसरे से अलग करना अर्थात् व्यावृत्ति है, इसलिये एक 'विशेष' की दूसरे 'विशेष' से व्यावृत्ति स्वयमेव हो जाती है। परन्तु परमाणु का स्वभाव व्यावृत्ति नहीं, इसलिये एक परमाणु की दूसरे परमाणु से व्यावृत्ति स्वयमेव नहीं हो सकती। प्रशस्तपाद ने इसका उदाहरण यह दिया है कि जैसे कुत्ते का मांस स्वभावतः अशुद्ध होता है, उसके सम्पर्क से दूसरी वस्तु भी अशुद्ध हो जाती है, उसी प्रकार 'विशेष' नामक पदार्थ अपने स्वभाव से व्यावृत्त स्वरूप अर्थात् परस्पर (एक दूसरे से) अलग स्वभाव वाला है, उसके सम्पर्क से सजातीय परमाणु भी एक दूसरे से अलग हो जाते हैं, उन परमाणुओं का स्वयं (बिना 'विशेष' पदार्थ के) एक दूसरे से भेद नहीं हो सकता।

यह स्पष्ट है कि प्रशस्तपाद का यह उत्तर सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुआ। इसीलिए हम पाते हैं कि मीमांसा के दोनों (कुमारिल और प्रभाकर के) सम्प्रदायों ने, जो साधारणतया न्याय-वैशेषिक के प्रमेय भाग को स्वीकार करते हैं, विशेष पदार्थ को स्वीकार नहीं किया।

आलोचना :— इस विषय में न्याय-वैशेषिक के 'विशेष' पदार्थ के सिद्धान्त की तुलना बौद्ध दर्शन के दिङ्नाग सम्प्रदाय के 'स्वलक्षण' नामक पदार्थ से करनी भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। दिङ्नाग ने बाह्यजगत् में अस्तित्व रखने वाले तत्त्व को 'स्वलक्षण' के रूप में स्वीकार किया है, जो कि परमाणुओं के समान अनन्त हैं। प्रत्येक 'स्वलक्षण' का स्वरूप ही यह है कि एक स्वलक्षण दूसरे स्वलक्षण से अथवा यों कहना चाहिए कि संसार के सारे स्वलक्षणों से सर्वथा अलग (सर्वतोव्यावृत्त) है। इस प्रकार वह एकमात्र और अन्तिम विशेष (ultimate particular) है। न्यायवैशेषिक के अणु से स्वलक्षण का अन्तर यह है कि अणु द्रव्य रूप है जिसमें गुण रहते हैं,

परन्तु दिङ्नागका 'स्वलक्षण' द्रव्य ('गुण' आदि धर्म रखने वाला धर्मी) नहीं है प्रत्युत उसे अधिकतर 'गुण' या 'धर्म' के रूप में समझा जा सकता है, यद्यपि वह न्याय-वैशेषिक में माने हुए गुण के समान भी नहीं है। वस्तुतः दिङ्नाग के 'स्वलक्षण' को न द्रव्य कहा जा सकता है और न ही गुण। उसके अन्दर कोई स्वगत (आन्तरिक) भेद नहीं, जैसे न्यायवैशेषिक के अणु में 'गुण' तथा 'जाति' और 'विशेष पदार्थ रहते हैं'। और, इस प्रकार कहा जा सकता है कि उसके अन्दर अनेक तत्त्व हैं और आन्तरिक भेद हैं। परन्तु दिङ्नाग के 'स्वलक्षण' में इस प्रकार का कोई आन्तरिक भेद नहीं कहा जा सकता है। वह सर्वथा एक (unitary) है, और उसमें कोई धर्म नहीं रहता। उसका व्यक्तित्व सर्वथा सबसे अलग (सर्वतो-व्यावृत्त) है। यही उसका स्वरूप है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक में माने हुए 'अणु' में दूसरे सजातीय अणु से व्यावृत्ति का जो काम 'विशेष' पदार्थ करता है, वह सब काम यहां पर 'स्वलक्षण' स्वयं ही करता है। इस लिए न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में भी यह प्रश्न बार बार उठा कि 'विशेष' पदार्थ को अलग मानने की क्या आवश्यकता है। परन्तु यह प्रश्न अधिकतर पिछले दिनों में उठा जब कि बौद्धों के दर्शन का प्रभाव मिट गया था। जिन दिनों में बौद्धों से संघर्ष था, उन दिनों में 'विशेष' पदार्थ को अणुओं से अलग मानना कदाचित् इसलिए भी आवश्यक था जिससे 'अणुवाद' को बौद्धों के 'स्वलक्षणवाद' से अलग रक्खा जाय।

इस प्रसङ्ग में यह भी बतला देना आवश्यक है कि बौद्धों के 'स्वलक्षण' परस्पर मिलकर कोई कार्य नहीं बनाते, जैसे कि न्यायवैशेषिक के अणु परस्पर मिलकर द्वयणुक, त्र्यणुक और उसके बाद स्थूल घटादि कार्य अवयवी के रूप में बनाते हैं। बौद्ध न्यायवैशेषिक के कार्यकारणवाद के, जिसका आधार अवयवि-वाद है, घोर विरोधी हैं। न्यायवैशेषिक ग्रन्थों में जो अवयविवाद का इतना अधिक समर्थन किया गया है वह बौद्धों के विरोध के कारण ही है। बौद्धों के 'स्वलक्षण' *सर्वथा* और *सर्वदा* परस्पर अलग रहते हैं, फिर उन स्वलक्षणों के आधार पर इस स्थूल जगत् के स्थूल पदार्थों की

प्रतीति किस प्रकार होती हैं, इसका उत्तर दिङ्नाग यह देता है कि घट पट आदि स्थूल पदार्थ वस्तुतः बाह्य जगत् में अस्तित्व ही नहीं रखते, बाह्य जगत् में तो एक मात्र 'स्वलक्षणों' का ही अस्तित्व है। स्वलक्षणों के आधार पर इन स्थूल पदर्थों की रचना हमारे अन्तःकरण का ही काम है अर्थात् स्थूल पदार्थों का आधार स्वलक्षण के रूप में बाह्य जगत् में है परन्तु स्थूल पदार्थ स्थूल रूप में केवल मानस (ideal) पदार्थ हैं, बाह्य जगत् में वस्तु रूप से विद्यमान (external objective reality) नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि विशेष पदार्थ की कल्पना पहिले परमाणुओं के सिद्धान्त के सम्बन्ध में ही हुई, क्योंकि एक परमाणु का समान-जातीय परमाणु से अन्तर 'विशेष' के द्वारा ही माना गया है। यह कहा जा सकता है कि परमाणुवाद का आधार ही 'विशेष' पदार्थ की कल्पना है। यह भी समझा जाता है कि वैशेषिक दर्शन का मुख्य और मौलिक सिद्धान्त ही परमाणुवाद है। उस शास्त्र के प्रवर्तक का नाम 'कणाद' भी यही प्रकट करता है, क्योंकि 'कणाद' का अर्थ है 'कणों को खाने वाला'। यद्यपि कहा जाता है कि वह ऋषि इधर उधर पड़े हुए अन्न के कणों को चुग कर ही आहार करता था इसलिए उसका नाम कणाद पड़ गया, पर 'कण' का अर्थ 'अणु' भी होता है और 'कणाद' नाम का अर्थ भी हो सकता है कि 'अणु खाने वाला' अर्थात् अणु के सिद्धान्त का प्रवर्त्तक। जो कुछ भी हो, कणाद का नाम अणुवाद से सम्बद्ध सा प्रतीत होता है, और साथ ही 'वैशेषिक' यह शास्त्र का नाम 'विशेष' पदार्थ से सम्बद्ध दीखता है।

परन्तु इस विषय में एक बात ध्यान देने योग्य है, 'विशेष' पदार्थ का साक्षात् रूप से वर्णन कणाद के वैशेषिक सूत्रों में मिलता ही नहीं, वह तो केवल प्रशस्तपाद के भाष्य में पाया जाता है। वैशेषिकसूत्रों में केवल 'परापर जाति' या 'सामान्य-विशेष' को 'विशेष' कहते हुए बताया गया है कि वह यद्यपि 'विशेष' है, पर 'अन्त्य' विशेषों से भिन्न* है।

---

* अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः I. ii. 6.

इस प्रकार कणाद को नित्य पदार्थों में रहने वाले अन्त्य विशेष पदार्थ का पता है, यह तो स्पष्ट है; पर साक्षात् रूप से उसका वर्णन नहीं। इसका कारण यह है कि वैशेषिकसूत्रों में वैशेषिक के सिद्धान्त क्रमबद्ध प्रक्रिया के रूप (Systematic form) में नहीं पाये जाते।

कई लोग ऐसा भी मानते हैं कि इस शास्त्र का 'वैशेषिक' नाम 'विशेष' पदार्थ के कारण नहीं पड़ा, प्रत्युत इसलिए पड़ा कि इस शास्त्र में पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य का निरूपण करते हुए पदार्थों के 'विशेष धर्म' बताये गये हैं, परन्तु यह विशेष धर्म बताना कोई इस शास्त्र की विशेषता नहीं है, इस लिए ऊपर की बात ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होती है।

ऊपर यह कहा गया है कि 'परमाणु सिद्धान्त' का 'विशेष' पदार्थ से आन्तरिक सम्बन्ध है। विना विशेष पदार्थ के माने परमाणु-सिद्धान्त ठहर नहीं सकता। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि पहले 'विशेष' पदार्थ की कल्पना सजातीय परमाणुओं में भेद करने के लिए ही कदाचित् की गई हो, परन्तु पीछे आकाश, आत्मा आदि नित्य पदार्थों में भी, जो विभु परिमाण वाले (सर्वव्यापक) हैं और निरवयव हैं, एक दूसरे के भेदक के रूप में विशेष पदार्थ स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में 'विशेष' पदार्थ का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सि० मु० :—समवायं दर्शयति :—

का० :–घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्त्तितः ॥१॥

अनु०:—'समवाय' का निरूपण किया जाता है:—

घट आदि (कार्यों) का कपाल आदि (कारणों) में (अर्थात् अवयवी का अवयवों में रहने का, गुण और कर्म का द्रव्यों में (रहने का) तथा जाति का उनमें (अर्थात् गुण और कर्म में रहने का) जो सम्बन्ध है वह समवाय कहलाता है।

सि० मु०:— अवयवावयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः। समवायत्वं नित्यसम्बन्धत्वम् ।

अनु०:—अवयव और अवयवी का, जाति और व्यक्ति का, गुण और गुणी (द्रव्य) का, क्रिया (कर्म) और क्रिया वाले (द्रव्य) का, तथा नित्य द्रव्य और 'विशेष' का जो सम्बन्ध है, वह समवाय है। नित्य सम्बन्ध होना समवाय का स्वरूप (समवायत्व) है।

व्याख्या: — जो सम्बन्ध दो द्रव्यों के बीच में होता है और जो कभी रहता है और कभी नष्ट हो जाता है, उसको संयोग कहते हैं। जैसे, दण्ड और पुरुष का संयोग। परन्तु कभी कभी ऐसी दो वस्तुओं में भी सम्बन्ध दीखता है, जिनमें से एक वस्तु दूसरी के बिना अर्थात् कभी अलग नहीं पाई जाती; जैसे द्रव्य और गुण का सम्बन्ध। इनमें 'गुण' ऐसा पदार्थ है कि जो द्रव्य के बिना कदापि नहीं पाया जाता। इसी प्रकार जाति भी अपने व्यक्ति के बिना (अलग) कदापि नहीं पाई जाती, जैसे कि 'गोत्व' सदा 'गो' व्यक्ति में ही पाया जायगा, अलग नहीं। इसलिए ऐसी दो वस्तुओं का सम्बन्ध, जिनमें से एक वस्तु दूसरी में रहती हो अर्थात् अलग न पाई जाय, नित्य सम्बन्ध होगा; और नित्य सम्बन्ध का ही दूसरा नाम 'समवाय सम्बन्ध' है। ऐसी दो वस्तुओं का सम्बन्ध 'संयोग' सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि 'संयोग' तो अनित्य सम्बन्ध है। वह दो द्रव्यों में ही हो सकता है। क्योंकि वह सम्बन्ध उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। यहां पर गिनाया गया है कि 'समवाय' सम्बन्ध निम्न पांच स्थलों पर पाया जाता है:—

(i) अवयव में अवयवी
(ii) व्यक्तियों में जाति
(iii) गुणी (द्रव्य) में गुण
(iv) कर्मवत् (द्रव्य) में कर्म
(v) नित्य द्रव्यों में विशेष

} 'समवाय' सम्बन्ध से रहते हैं।

सि० मु०ः — तत्र प्रमाणं तु, गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धि-र्विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वात्, दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिवद्, इत्यनुमानम्। अनेन संयोगादिबाधा-त्समवायसिद्धिः।

अनु०ः—उस समवाय की सिद्धि में (तत्र) प्रमाण निम्नलिखित अनुमान हैः-गुण और कर्म से विशिष्ट होने का ज्ञान विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध को ग्रहण (विषय) करता है, क्योंकि वह ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है—'दण्ड वाला पुरुष' इस विशिष्ट ज्ञान के समान। इस अनुमान के द्वारा संयोग आदि का बाध होने पर समवाय सम्बन्ध की सिद्धि हो जाती है।

व्याख्याः— यहां पर समवाय सम्बन्ध की स्थापना करने के लिए अनुमान प्रमाण दिखाया गया है। वह इस प्रकार हैः—

प्रतिज्ञा— गुण और कर्म से विशिष्ट द्रव्य का ज्ञान विशेषण (गुण और कर्म) और विशेष्य (द्रव्य) के सम्बन्ध को ग्रहण करता है।

हेतु— विशिष्ट बुद्धि होने से।

उदाहरण (व्याप्ति सहित)—जो जो विशिष्ट बुद्धि होती है, वह विशेषण और विशेष्य के 'सम्बन्ध' को ग्रहण करती है। जैसे, 'दण्ड वाला पुरुष' यह विशिष्ट बुद्धि है, और वह विशेषण 'दण्ड' और विशेष्य 'पुरुष' के 'सम्बन्ध' अर्थात् 'संयोग' को ग्रहण करती है। अर्थात् बिना संयोग को ग्रहण किये 'दण्ड वाला पुरुष' यह विशिष्ट बुद्धि सम्भव नहीं। 'दण्ड वाला पुरुष' इस ज्ञान में केवल 'दण्ड' और 'पुरुष' मात्र का ज्ञान होना पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत उन दोनों के सम्बन्ध 'संयोग' का ज्ञान भी आवश्यक है।

इस अनुमान से इतना सिद्ध हो जाता है कि गुण-विशिष्ट द्रव्य के ज्ञान में विशेषण और विशेष्य अर्थात् गुण और द्रव्य में रहने वाले किसी सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है। अब प्रश्न यह होता है कि जिस सम्बन्ध का ज्ञान

होता है, वह सम्बन्ध कौन सा हो सकता है ? यह स्पष्ट है कि वह सम्बन्ध 'संयोग' नहीं हो सकता। क्योंकि यह नियम है कि 'संयोग' दो 'द्रव्यों' का ही होता है, और वह अनित्य सम्बन्ध है यहां पर 'संयोग आदि' सम्बन्धों का बाध बताया गया है। आदि पद से 'तादात्म्य' सम्बन्ध और 'स्वरूप' सम्बन्ध का ग्रहण होता है। अर्थात् वे सम्बन्ध भी सम्भव नहीं। क्योंकि द्रव्य और गुण का तादात्म्य (एकत्व, identity) नहीं, इसलिए यहां 'तादात्म्य' सम्बन्ध नहीं हो सकता; और 'स्वरूप' सम्बन्ध (जिस सम्बन्ध से 'अभाव' भूतल में रहता है) भी सम्भव नहीं, यह आगे दिखाया जायगा। इस प्रकार गुण विशिष्ट द्रव्य के ज्ञान में संयोग आदि कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु गुण और द्रव्य का सम्बन्ध है अवश्य। इसलिये द्रव्य और गुण का नित्य सम्नन्ध स्वीकार करना पड़ता है, जो कि उपर्युक्त पांच स्थलों पर रहता है, और वही नित्य सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध कहलाता है।

समवाय सम्बन्ध का निरूपण केशवमिश्र ने अपनी तर्कभाषा में वैशेषिकसूत्र और प्रशस्तपाद भाष्य का आश्रय लेते हुए बड़े सुन्दर रूप में किया है। उसका कुछ अंश यहां दिखाना उचित होगा :—*'तत्र अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः। .... ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ'*। (तर्क भाषा, बम्बई संस्कृत एण्ड प्राकृत सिरीज, पृ० २६)। अर्थात् ऐसी दो वस्तुओं का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध कहा जाता है कि जिन दो में से एक अपने नाश का समय आने तक (अविनश्यत्)❀

❀यहां पर यह कहा गया है कि गुण 'अपने नाश का समय न आने तक' अर्थात् 'नाश होते हुए' होने से पहिले (अविनश्यत्) दूसरे में आश्रित रहता है। यह नहीं कहा गया कि 'नष्ट हो जाने तक'। इसका कारण यह है कि न्यायवैशेषिक सिद्धान्त में यह माना गया है कि कारण के नाश से कार्य का नाश होता है। गुण का समवायिकारण द्रव्य है। उसके नाश से गुण का नाश होगा। इस प्रकार 'द्रव्य का नाश' कारण है और 'गुण का नाश' कार्य है। यह आवश्यक है कि कारण कम से कम एक क्षण कार्य से पूर्व अवश्य रहे, अथवा कार्य कारण की अपेक्षा कम से कम एक क्षण बाद में

दूसरे के ही आश्रित हो, अर्थात् दूसरे में ही रहे । जैसे, गुण जब तक कि उसके नाश का समय न आये तब तक द्रव्य में ही रहता है अर्थात् बिना द्रव्य के अकेला गुण ठहर ही नहीं सकता । इसी प्रकार उपर्युक्त पांच स्थलों पर (जहां समवाय सम्बन्ध बताया गया है) दो में से एक ऐसा है कि जो दूसरे के आश्रित ही रहता है। 'संयोग' सम्बन्ध दो द्रव्यों के बीच होता है, जिन दोनों का अस्तित्व स्वतन्त्र हैं । अर्थात् उनमें से एक दूसरे पर आश्रित नहीं । इस प्रकार ऐसी दो वस्तुओं का सम्बन्ध, जिनमें से एक दूसरे पर आश्रित हो, संयोग से भिन्न ही कोई सम्बन्ध हो सकता है । और, वह सम्बन्ध समवाय है ।

सि० मु० :-न च स्वरूपसम्बन्धेन सिद्धसाधनमर्थान्तरं वा । अनन्तस्वरूपाणां सम्बन्धत्वकल्पने गौरवाल्लाघवादेक-समवायसिद्धिः । न च समवायस्यैकत्वे वायौ रूपवत्ताबुद्धि-प्रसङ्गः । तत्र रूपसमवायसत्त्वेऽपि रूपाऽभावात् ।

अवश्य हो, तभी तो वह कार्य अपने कारण से उत्पन्न हुआ कहा जा सकता है। इसलिये 'द्रव्य का नाश' 'गुण के नाश' से एक क्षण पूर्व में माना जायगा । जिसका अर्थ यह है कि द्रव्य का नाश होने पर भी कम से कम एक क्षण तक गुण बना रहेगा । द्रव्य के नाश के बाद एक क्षण तक गुण के बने रहने से कोई व्यवहारिक कठिनता नहीं आती । परन्तु यह मानना आवश्यक हो जाता है कि अपने नाश के समय एक क्षण तक गुण बिना द्रव्य के भी रह सकता है । इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि गुण नष्ट होने तक, अर्थात् जब तक वह रहता है तब तक, द्रव्य के ही आश्रित रहता है, प्रत्युत इतना ही कहा जा सकता है कि गुण अपने नाश का समय आने तक बिना द्रव्य के नहीं रह सकता । नाश का समय आने पर एक क्षण के लिये गुण बिना द्रव्य के भी रह सकता है । इसी लिये यहां पर 'अविनश्यत्' इस वर्त्तमान अर्थ को देने वाले 'शतृ' प्रत्यय का प्रयोग किया गया अर्थात् 'नाश होते हुए होने तक'

अनु०:—और न यह शङ्का करनी (न च) कि इस अनुमान से (मीमांसक के मत में अयुतसिद्ध पदार्थों के बीच में माने हुए) स्वरूप सम्बन्ध के कारण सिद्ध-साधन (अर्थात् पहिले से ही सिद्ध पदार्थ को फिर सिद्ध करना) नामक दोष हुआ, और न (समवाय को सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त हुए नैयायिक के लिये) अर्थान्तर (अर्थात् जिस वस्तु को सिद्ध करना हो, उसके बदले अन्य को सिद्ध कर देना) नामक दोष हुआ, (शङ्का का उत्तर देते हैं) क्योंकि यदि इस प्रकार समवाय सम्बन्ध न मान कर स्वरूप सम्बन्ध स्वीकार करें तो प्रत्येक वस्तु का (जिसमें समवाय सम्बन्ध से कोई वस्तु रहती है) स्वरूप ही सम्बन्ध होगा, और (क्योंकि पदार्थ अनन्त हैं इसलिए) अनन्त स्वरूपों की कल्पना करने में गौरव होगा (अर्थात् बहुत अधिक कल्पना करनी पड़ेगी) इसलिए समवाय की, जो एक ही है, सिद्धि होती है। और न यह शङ्का करनी चाहिये (न च) कि समवाय के एक मानने पर वायु में रूपयुक्त होने की प्रतीति होगी (यह शङ्का ठीक नहीं) क्योंकि वायु में यद्यपि रूप-समवाय विद्यमान हैं (समवाय के एक होने से रूप-समवाय और स्पर्श-समवाय एक ही वस्तु हैं) तथापि वायु में रूप का अभाव होने से (उसमें रूपयुक्त होने की प्रतीति नहीं होती)।

व्याख्या:—जहाँ द्रव्य और गुण, व्यक्ति और जाति, आदि अयुतसिद्ध पदार्थों में नैयायिक समवाय सम्बन्ध मानते हैं, वहीं मीमांसक 'स्वरूप सम्बन्ध' मानते हैं, वे समवाय को स्वीकार नहीं करते, और यहां पूर्वपक्षी मीमांसक कहता है कि जिस गुणक्रियादिविशिष्ट बुद्धि के अनुमान से नैयायिक ने समवाय सम्बन्ध सिद्ध किया है, वह अनुमान हमारे माने हुए 'स्वरूप सम्बन्ध' का ही साधक है। इस प्रकार हमारे माने हुए 'स्वरूप सम्बन्ध' के सिद्ध होने से नैयायिक पहिले से सिद्ध वस्तु का ही साधन कर रहा है और इस प्रकार उसके अनुमान में सिद्धसाधन नामक दोष है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि वह समवाय सम्बन्ध को सिद्ध करने चला था, पर उसने अपने अनुमान से समवाय के बदले 'स्वरूप सम्बन्ध' को सिद्ध कर दिया, इस दृष्टि से नैयायिक ने अपने अनुमान में

'अर्थान्तर' नामक दोष कर दिया। इसका उत्तर नैयायिक इस प्रकार देता है कि यदि मीमांसक के मतानुसार समवाय के बदले स्वरूप सम्मन्ध मान लिया जाय तो जिन अनन्त वस्तुओं में समवाय रहता है, उन सारी वस्तुओं के स्वरूप को ही सम्बन्ध के रूप में मानना पड़ेगा, और वस्तुओं के अनन्त होने से सम्बन्ध भी अनन्त होंगे, इस प्रकार अनन्त सम्बन्ध मानने की अपेक्षा समवाय सम्बन्ध को मानने से लाघव होगा क्योंकि समवाय सारे विश्व में केवल एक ही है। परन्तु इस पर यह शङ्का उठती है कि यदि सारे विश्व में एक ही समवाय है तो वायु में जिस प्रकार स्पर्श का समवाय है उसी प्रकार रूप का भी समवाय होगा क्योंकि स्पर्श-समवाय और रूप-समवाय तो एक ही वस्तु हैं इसका उत्तर यही है कि यद्यपि समवाय एक ही है तथापि जिन वस्तुओं का समवाय होता है वे तो एक नहीं। वायु में रूप-समवाय होने पर भी 'रूप' नहीं है और रूपवत्ता (रूपयुक्त होने की) प्रतीति के लिये रूप और रूप-समवाय दोनों की ही अपेक्षा है अतः वायु में रूप न होने के कारण रूपवत्ता प्रतीति नहीं होती।

○ सि० मु०:—न चैवमभावस्यापि वैशिष्ट्यं सम्बन्धान्तरं सिध्येदिति वाच्यम्, तस्य नित्यत्वे भूतले घटानयनानन्तरमपि घटाभावबुद्धिप्रसङ्गाद्, घटाभावस्य तत्र सत्त्वात्, तस्य च नित्यत्वात्। अन्यथा देशान्तरेऽपितत्प्रतीतिर्नस्याद्,—वैशिष्ट्यस्य च तत्र सत्त्वात्। मम तु घटे पाकरक्ततादशायां श्यामरूपस्य नष्टत्वान्न तद्वत्ताबुद्धिः। वैशिष्ट्यस्यानित्यत्वे त्वनन्तवैशिष्ट्यकल्पने तवैव गौरवम्। इत्थं च तत्तत्कालीनं तत्तद्भूतलादिकं तत्तदभावानां सम्बन्धः।

अनु०:—और न यह शङ्का की जा सकती है (न च) कि इस प्रकार अभाव का भी 'वैशिष्ट्य' नामक दूसरा सम्बन्ध मान लिया जावे, (शङ्का का उत्तर देते हैं) क्योंकि यदि उस (वैशिष्ट्य नामक

सम्बन्ध)को नित्य मानें तो भूतल पर घड़ा ले आने के बाद भी (भूतल में) घटाभाव की प्रतीति होने की बात आपड़ेगी (प्रसङ्गात्), क्योंकि घटाभाव वहां पर विद्यमान है ही, क्योंकि वह (घटाभाव) नित्य है, नहीं तो (यदि 'घटाभाव को अनित्य मानें तो भूतल में घटाभाव के नष्ट होने के कारण) अन्य देश में भी घटाभाव की प्रतीति नहीं होगी। (इस प्रकार नित्य होने के कारण घटाभाव, भूतल में, विद्यमान है) और (यदि वैशिष्टय नामक सम्बन्ध को नित्य माना जाय तो) वैशिष्टय भी वहाँ विद्यमान होगा। (इस प्रकार घड़ा ले आने पर भी भूतल में घटाभाव बुद्धि होगी) । (यदि यह शङ्का की जाय कि नैयायिक के मत में भी जहां पाक से घट रक्त हो गया, वहां पर भी श्यामरूप-समवाय विद्यमान है, क्योंकि रक्तरूप-समवाय और श्याम-रूप समवाय एक ही वस्तु है, तो उत्तर देते हैं कि मेरे (नैयायिक के) मत में घट के पाक द्वारा रक्त होने की दशा में ही श्याम रूप के नष्ट हो जाने से (श्याम रूप के समवाय होने पर भी श्यामरूप वाला होने की प्रतीति नहीं होती। और यदि (इस नवीन कल्पित) वैशिष्टय नामक सम्बन्ध को) अनित्य मानें तो अनन्त वैशिष्टय (सम्बन्धों) की कल्पना करनी पड़ेगी, (क्योंकि एक एक वैशिष्ट्य के नष्ट होने पर दूसरे दूसरे वैशिष्ट्य उत्पन्न होते जायेंगे और इस प्रकार अनन्त वैशिष्टय होंगे) और इस प्रकार तुम्हारे (पूर्व पक्षी के) मत में ही गौरव होगा। इस प्रकार (अर्थात् वैशिष्ट्य नामक सम्बन्ध के न मानने पर जिस जिस काल के भूतल में घटाभाव की बुद्धि होती है) उस उस काल का भूतल ही उस उस अभाव का सम्बन्ध है। (अर्थात् उस उस काल के भूतल का स्वरूप ही अभाव का सम्बन्ध है)

व्याख्या:-- अब यहां पर शङ्का होती है कि जैसे द्रव्य में गुण आदि के रहने का 'समवाय' नामक एक ही सम्बन्ध मान लिया जो सब जगह काम करता है इसी प्रकार सारे अभावों के लिये भी अनन्त स्वरूप सम्बन्धों

की अपेक्षा एक ही सम्बन्ध क्यों न माना जाय जिसका नाम 'वैशिष्टय' रख लिया जाय (क्योंकि अभाव का आधार अभाव से विशिष्ट होता है इसलिये उस सम्बन्ध का नाम वैशिष्टय रखना उचित होगा)। अभाव के किसी पदार्थ में रहने के विषय में न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त यह है कि अभाव अपने आधार में (जैसे घटाभाव भूतल में) स्वरूप सम्बन्ध से रहता है अर्थात् वह भूतल स्वरूप है। इस प्रकार अनन्त आधारों के होने से अभाव का स्वरूप भी अनन्त है। उसकी अपेक्षा एक ही 'वैशिष्टय' नामक सम्बन्ध की कल्पना कर ली जाय जो सब अभावों में काम करदे जैसे कि एक समवाय काम करता है। इसका उत्तर देते हैं कि उस वैशिष्टय को नित्य ही मानना पड़ेगा, क्योंकि यदि बैशिष्टय को अनित्य मानें तो उसके प्रत्येक समय उत्पन्न और नष्ट होने के कारण अनन्त वैशिष्टय मानने पड़ेगें, और यदि बैशिष्टय नामक सम्बन्ध नित्य है तो भूतल पर घट ले आने के बाद भी घटाभाव बुद्धि होनी चाहिये, क्योंकि घटाभाव को नैयायिकों ने नित्य और एक माना है और जब कि घटाभाव भी नित्य हैं और उसका बैशिष्टय नामक सम्बन्ध भी नित्य मान लिया तो यह स्पष्ट है कि प्रत्येक दशा में सब जगह घटाभाव बुद्धि होगी, अर्थात् यदि भूतल पर फिर घट ले आयें तो भी घटाभाव बुद्धि होगी। साथ ही 'घटाभाब' को नित्य मानना भी आवश्यक है क्योंकि यदि वह नित्य न माना जाय अर्थात् यह माना जाय कि भूतल पर घट ले आने के बाद घटाभाब नष्ट हो जाता है, तो घटाभाव के नष्ट हो जाने के कारण जहां घट नहीं वहां भी घटाभाव बुद्धि न होगी, अथवा यह मानना पड़ेगा कि घटाभाव उत्पन्न और नष्ट होता रहता है और इस प्रकार 'घटाभाव' अनन्त मानने पड़ेंगे; और इस प्रकार अनन्त स्वरूप सम्बन्धों के स्थान पर एक वैशिष्टय नामक सम्बन्ध को मानने का फल यह होगा कि नित्य घटाभाव के स्थान में अनन्त अनित्य घटाभाव मानने पड़ेंगे, इस प्रकार वैशिष्टय नामक सम्बन्ध की कल्पना से कुछ भी लाघव न होगा।

इस दोष से बचने के लिये यदि 'वैशिष्टय' को अनित्य मानें तो जैसा

ऊपर कहा गया है वैशिष्ट्य के नष्ट और उत्पन्न होने से अनन्त वैशिष्ट्य मानने पड़ेंगे, और अनन्त वैशिष्ट्य मानने में स्वरूप सम्बन्ध की अपेक्षा भी अधिक गौरव होगा, क्योंकि स्वरूप सम्बन्ध मानने पर जिस वस्तु में अभाव रहता है, उसके स्वरूप के अतिरिक्त कुछ अधिक नहीं मानना पड़ता, और वैशिष्ट्य को मानने पर एक अलग वस्तु माननी पड़ेगी। परन्तु यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आधार का स्वरूप मात्र सम्बन्ध घटक नहीं है, प्रत्युत जिस जिस काल में भूतल में जिस जिस घटाभाव की बुद्धि होती है, उस उस काल का भूतल उस उस अभाव का सम्बन्ध बन जाता है।

आलोचना:— समवाय सम्बन्ध की कल्पना न्याय-वैशेषिक शास्त्र का एक विशेष सिद्धान्त है जिस पर न्याय-वैशेषिक की सारी दार्शनिक प्रक्रिया आश्रित है। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

दर्शन शास्त्र का, विशेषकर भारतीय दर्शन शास्त्र का मौलिक प्रश्न यह है कि द्रव्य और गुण में अथवा कारण और कार्य में भेद है या नहीं। उदाहरणार्थ साधारणतया ऐसी प्रतीति होती है 'पट' द्रव्य है जिसमें रूप परिमाण आदि गुण रहते हैं। इसी प्रकार कार्य कारण के विषय में भी ऐसी प्रतीति होती है कि 'तन्तु' नामक कारण से 'पट' नामक कार्य उत्पन्न होता है। प्रश्न यह है कि क्या द्रव्य और गुण तथा कारण और कार्य, दो भिन्न भिन्न वस्तु हैं (जैसी कि साधारणतया प्रतीति होती है) यदि वे भिन्न भिन्न वस्तु हैं तो गुण और द्रव्य अलग अलग प्रतीत क्यों नहीं होते? और पट के रूप, आकृति आदि गुणों से भिन्न अलग पट द्रव्य कहां दिखाई देता है? तन्तुओं से भिन्न अलग कपड़ा कहां प्रतीत होता है। और यदि वे एक ही हैं तो उनमें से कौन यथार्थ है, द्रव्य या गुण? और उनमें से किसकी प्रतीति भ्रममात्र या कल्पनामात्र है? इसी प्रश्न के उत्तर में मुख्य २ भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। न्याय-वैशेषिक का उत्तर है कि द्रव्य और गुण, तथा कारण और कार्य, दोनों भिन्न-भिन्न हैं, दोनों यथार्थ हैं अर्थात् दोनों का अस्तित्व अलग है। कारण से कार्य सर्वथा भिन्न वस्तु है जो पहिले नहीं थी। कार्य की नये सिरे से उत्पत्ति होती है इसीलिये न्याय-वैशेषिक के

कारणवाद को '*असत्कार्यवाद*' या '*आरम्भवाद*' कहते हैं। साँख्य का उत्तर कि द्रव्य और गुण, तथा कारण और कार्य, दोनों ही यथार्थ हैं, वास्तविक (real) हैं, परन्तु भिन्न भिन्न दो वस्तु नहीं, गुण भी द्रव्य की ही अवस्था विशेष है, और कार्य भी कारण की ही अवस्था विशेष है। घट के रूप आदि गुण घट से भिन्न नहीं, घट की ही अवस्था विशेष हैं, इसी प्रकार कुण्डल अपने कारण सुवर्ण से भिन्न नहीं, कुण्डल सुवर्ण नामक कारण की ही अवस्था विशेष है। इसलिए कार्य को कारण से भिन्न नहीं कहा जा सकता, कार्य उत्पत्ति से पूर्व भी कारण के रूप में विद्यमान था। इसलिये साँख्य का कारणवाद '*सत्कार्यवाद*' कहलाता है और कारण ही कार्य के रूप में बदल जाता है इसलिए इस मत को '*परिणामवाद*' भी कहते हैं। वेदान्ती का कहना है कि यदि द्रव्य गुण, या कारण कार्य, भिन्न भिन्न दो वस्तु नहीं तो उनमें एक ही यथार्थ (real) हो सकती है, दूसरी भ्रम-मात्र होगी, वेदान्ती के अनुसार केवल द्रव्य या कारण जो कि ब्रह्म है यथार्थ है, ब्रह्म में प्रतीत होने वाले गुण या कार्य अर्थात् यह समस्त प्रपञ्च (दृश्यमान जगत) केवल भ्रममात्र है। इसलिये वेदान्त का कारण-सिद्धान्त 'विवर्त्तवाद' कहलाता है जिसके अनुसार कार्य (रज्जु में सर्प के समान) भ्रममात्र है। बौद्ध कहता है कि जब हम एक घट को देखते हैं तो उसके रूप आकृति आदि गुणों के सिवाय कोई 'द्रव्य' जिसमें वे सब गुण इकट्ठे होकर रहते हैं दिखाई नहीं देता। इसलिये द्रव्य एक कल्पना मात्र है। केवल गुण जिन्हें वे धर्म कहते हैं यथार्थ (real) हैं। वे धर्म क्षणिक हैं अथवा 'क्षण' रूप ही हैं। और 'क्षण' ही यथार्थ हैं। प्रत्येक पहिला क्षण सर्वथा नष्ट हो जाता है अर्थात् अपना कुछ भी शेष नहीं छोड़ता और अगला क्षण सर्वथा नया आता है। इस प्रकार कारण अपना कोई तत्त्व (essence) कार्य को नहीं देता और इस प्रकार पहिले क्षण और अगले क्षण के बीच में कोई वास्तविक कार्य-कारण भाव नहीं है। केवल इतना है कि पहिले क्षण के होने पर उसके बाद द्वितीय क्षण आता है, इसे बौद्ध '*प्रतीत्यसमुत्पाद*' कहते हैं अर्थात् एक वस्तु के होने पर दूसरी वस्तु का होना, परन्तु कारण

से कार्य उत्पन्न होता हो ऐसी बात नहीं है।

उपर्युक्त चारों (न्याय-वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त और बौद्ध) दार्शनिक सिद्धान्तों में न्याय-वैशेषिक बाह्यार्थवादी (realist) है वह गुण और द्रव्य, कार्य और कारण, अर्थात् धर्म और धर्मी दोनों को यथार्थ मानता है और दोनों का भेद मानता है। *धर्म-धर्मिभेद* (differentiation between substratum and attributes) न्याय-वैशेषिक का आधार भूत सिद्धान्त है। सांख्य भी *बाह्यार्थवादी* (realist) है, वह भी धर्म और धर्मी दोनों को यथार्थ मानता है परन्तु दोनों में अभेद अर्थात् धर्म-धर्मी अभेद मानता है। धर्म और धर्मी दोनों यथार्थ हों और एक ही हों यह नहीं हो सकता, यदि दोनों ही यथार्थ हैं तो वे दो ही होंगे, एक नहीं हो सकते, इस प्रकार सांख्य मत में आन्तरिक विरोध (internal contradiction) विद्यमान है। इसलिये यदि धर्म और धर्मी दो भिन्न भिन्न नहीं तो उनमें से एक ही यथार्थ हो सकता है दूसरा भ्रम-मात्र या कल्पना मात्र होगा।

वेदान्त केवल *'धर्मी को यथार्थ'* स्वीकार करता है और *धर्मों को भ्रममात्र मानता* है। बौद्ध *'धर्मों'* को यथार्थ मानता है और *धर्मी* को कल्पना मात्र। परन्तु वेदान्त और बौद्ध दोनों इस अंश में समान हैं कि धर्म और धर्मों में से केवल एक को ही यथार्थ मानते हैं। धर्म और धर्मी में से केवल एक को मानने का अन्तिम निष्कर्ष यह निकलता है कि बाह्य जगत् की यथार्थता नहीं ठहरती। दोनों सिद्धान्त बाह्यार्थवाद (realism) के विरोधी हैं क्योंकि धर्मों से रहित केवल धर्मी, ब्रह्म, यदि वास्तविक तत्त्व है और उसमें प्रतीत होने वाले सब धर्म मिथ्या हैं तो बाह्य जगत् का अस्तित्व नहीं रहता। इसी प्रकार यदि केवल धर्म ही यथार्थ हैं जो क्षणिक हैं और स्थिर द्रव्य कल्पना मात्र हैं तो स्थिर द्रव्यों के रूप में दीखने वाला सारा जगत् केवल कल्पना मात्र (भ्रममात्र) रह जाता है। वेदान्त और बौद्ध दर्शन में कितनी भी दार्शनिक गम्भीरता हो, पर स्पष्ट है कि वे सामान्य मनुष्य को दृढ़ता पूर्वक प्रतीत होने वाले बाह्य जगत् की यथार्थता को मिटा देते हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन का मुख्य लक्ष्य बाह्य जगत् की यथार्थता अथवा

बाह्यार्थवाद (realism) की स्थापना है और उसके लिये यह आवश्यक है कि 'धर्म' और 'धर्मी' ('गुण' और 'द्रव्य' या 'कार्य' और 'कारण') दोनों को यथार्थ माना जाय और दोनों का भेद माना जाय, अर्थात् वास्तविक धर्म-धर्मिभेद (*essential* difference between substratum and its attributes) न्याय-वैशेषिक का आधारभूत सिद्धान्त है। परन्तु जैसा कि इस आलोचना के प्रारम्भ में ही प्रश्न उठाया गया था कि पट के धर्म-रूप आकृति आदि गुण- और उनसे भिन्न द्रव्य यह दो वस्तु अलग-अलग तो दिखाई नहीं देतीं, इसी प्रकार कारण (तन्तु) से भिन्न वस्तु के रूप में अलग 'पट' दिखाई नहीं देता। यदि उनका वस्तुत्व (essence) पृथक्-पृथक् है तो वे दोनों अलग-अलग दिखाई देने चाहियें। इसी जटिल पहेली का उत्तर न्याय-वैशेषिक का '*समवाय सिद्धान्त*' है। समवाय सम्बन्ध उन वस्तुओं के बीच में माना गया है जिनका वस्तुत्व (essence) अलग-अलग हो, फिर भी उनमें से एक ऐसी हो जो दूसरे के विना न रहती हो, अर्थात् वे दोनों अयुतसिद्ध हों, इस प्रकार गुण और द्रव्य, कार्य और कारण, जिनका वास्तविक स्वरूप अलग अलग है, परन्तु फिर भी उनमें से एक ऐसी है जो दूसरे के विना दिखाई नहीं देती, ऐसी दो वस्तुओं में समन्वय और सामञ्जस्य स्थापित करना '*समवाय*' का काम है। समवाय सम्बन्ध के द्वारा उन वस्तुओं का स्वरूप अलग अलग भी रहता है और मिला भी रहता है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक के दार्शनिक सिद्धान्त की आधार शिला ही 'समवाय' की कल्पना है।

सि० मु०– अभावं विभजते–

का०–अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः।

अनुवादः— संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव के भेद से अभाव दो प्रकार का है।

सि० मु०– अभावत्वं द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाववत्त्वम्।

संसर्गाभावान्योन्याभावभेदादित्यर्थः । अन्योन्याभावस्यैकविध-त्वात्तद्विभागाभावात्संसर्गाभावं विभजते ।

अनुवादः— द्रव्य आदि छै पदार्थों का जिसमें अन्योन्याभाव रहे अर्थात् जो द्रव्यादि छै पदार्थों से भिन्न हो (अन्योन्याभाव=भेद), वह अभाव कहलाता है। अन्योन्याभाव के एक ही प्रकार का होने से, उसके विभाग न होने के कारण कारिका संसर्गाभाव का विभाग करती है।

व्याख्याः—अभाव का लक्षण किया गया है कि जिसमें द्रव्य आदि छै पदार्थों का अन्योन्याभाव रहता हो और 'अन्योन्याभाव' भेद को कहते हैं (जैसा कि आगे स्पष्ट होगा) इसलिये जो द्रव्य आदि छै पदार्थों से भिन्न हो उसे अभाव कहते हैं। अभाव दो प्रकार का होता है, एक *संसर्गाभाव* और दूसरा *अन्योन्याभाव*। संसर्ग कहते हैं सम्बन्ध को, संसर्गाभाव का अर्थ है कि एक वस्तु में दूसरी वस्तु का किसी सम्बन्ध से रहने का अभाव, जैसे 'भूतल में घटाभाव' अर्थात् भूतल में घट के संयोग सम्बन्ध से रहने का अभाव, इसी प्रकार जब तक तन्तुओं में पट उत्पन्न नहीं होता तब तक तन्तुओं में पट का अभाव होता है अर्थात् तन्तुओं में पट का समवाय सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार जब पट नष्ट हो जाय और तन्तु अलग अलग हो जाँय तो भी कहा जा सकता है कि तन्तुओं में पट का समवाय सम्बन्ध नहीं रहा अर्थात् अभाव हो गया। अन्योन्याभाव वहाँ होता है जहाँ दो वस्तुओं का व्यक्तित्व या तादात्म्य भिन्न भिन्न हो, जैसे 'घट पट नहीं है' अर्थात् घट का और पट का तादात्म्य (identity) नहीं है। यहाँ तादात्म्य या अभेद का निषेध है। इस प्रकार घट में पट का तादात्म्य से अभाव है अर्थात् दोनों का तादात्म्य व्यक्तित्व भिन्न भिन्न है। ऐसे स्थल पर घट में पट का और पट में घट का अभाव कहा जा सकता है, अर्थात् दोनों का व्यक्तित्व, स्वरूप (identity) अलग अलग हैं। संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव के भेद को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। यदि घट के अन्दर एक पट डाल दिया जाय तो घट में संसर्गाभाव रूप पटाभाव नहीं कहा जा सकता,

क्योंकि वहाँ पट का सम्बन्ध विद्यमान है इसलिये वहां पटाभाव नहीं है प्रत्युत पट विद्यमान है, परन्तु ऐसे स्थल पर भी यह कहा जा सकता है कि घट में पट का अन्योन्याभाव है क्योंकि घट पट नहीं है अर्थात् घट और पट का व्यक्तित्व, स्वरूप (identity) अलग अलग है। इस प्रकार संसर्गाभाव एक वस्तु में दूसरी वस्तु का किसी सम्बन्ध से न रहना है और अन्योन्याभाव दो वस्तुओं की एकता अर्थात् तादात्म्य का न होना है।

अन्योन्याभाव एक ही प्रकार का होता है इसलिये उसका कोई विभाग नहीं है, परन्तु संसर्गाभाव तीन प्रकार का होता है जैसा कि निम्न लिखित कारिका में बताया गया है:—

का०: प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥१२
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ।

अनु०:--प्रागभाव, ध्वंस तथा अत्यन्ताभाव ये तीन प्रकार का संसर्गाभाव माना जाता है।

सि० मु०:—संसर्गाभावत्वम् अन्योन्याभावभिन्नाभावत्वम्। अन्योन्याभावत्वं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम्। विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम्। जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम्। नित्यसंसर्गाभावत्वम् अत्यन्ताभावत्वम्। यत्र तु भूतलादौ घटादिकमपसारितं पुनरानीतं च तत्र घटकालस्य सम्बन्धाघटकतयाऽत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटकाले न घटात्यन्ताभावबुद्धिः। तत्रोत्पादविनाशशाली चतुर्थोऽयमभाव इति केचित्।

अनु०– अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव को संसर्गाभाव कहते हैं और तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न है प्रतियोगिता जिसकी, ऐसे अभाव को

अन्योन्याभाव कहते हैं, विनाश होने वाले अभाव का नाम प्रागभाव है, उत्पन्न होने वाले अभाव का नाम ध्वंस है, तथा नित्य संसर्गाभाव का नाम अत्यन्ताभाव है। परन्तु जहां भूतल आदि में घट आदि को हटा दिया और फिर ले आये, वहां घटकाल के (अर्थात् घटकालीन भूतल के) सम्बन्ध के घटक (सम्बन्ध के जोड़ने वाले) न होने के कारण अत्यन्ताभाव के नित्य होने पर भी घटकाल में घटात्यन्ताभाव की प्रतीति नहीं होती। कोई कोई लोग कहते हैं कि उत्पन्न और विनष्ट होने वाला यह चौथे प्रकार का अभाव है। (आशय समझने के लिये नीचे व्याख्या देखो)।

व्याख्याः— दार्शनिकों की यह शैली है कि बहुधा दो वस्तुओं में से एक का स्वरूप निरूपक लक्षण करते हैं और दूसरी का लक्षण "पहिली से भिन्न" इतना ही कर देते हैं। यहां संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव का लक्षण करना है, उनमें से अन्योन्याभाव का लक्षण स्वरूप निरूपक किया है और संसर्गाभाव के विषय में केवल इतना कह दिया कि जो अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव हो। अभाव का स्वरूप और विशेषकर अन्योन्याभाव का लक्षण समझने के लिए कुछ परिभाषिक शब्दों का समझना आवश्यक है।

संसार में जितने प्रकार के अभाव हैं, उनके स्वरूप में परस्पर अन्तर केवल उस वस्तु के स्वरूप के द्वारा होता है जिसका कि अभाव कहा जाता है, जैसे 'घटाभाव' और 'पटाभाव' में अन्तर 'घट' और 'पट' के कारण समझ में आता है। 'घटाभाव' घट का अभाव है अर्थात् वह 'घट' का विरोधी है (घट के अस्तित्व का निषेध है)। 'विरोधी' को ही 'प्रतियोगी' कहते हैं इस प्रकार जिस वस्तु का अभाव होता है वही उस अभाव का 'प्रतियोगी' कहलाता है, जैसे 'घटाभाव' का प्रतियोगी घट है। इसीलिये 'घटाभाव' को 'घटप्रतियोगिक अभाव' ('घट है प्रतियोगी जिसका', इस प्रकार बहुब्रीहि समास द्वारा) कहते हैं।

जहां अभाव रहता है अर्थात् जो अभाव का आधार होता है, वह अभाव का अनुयोगी होता है, जैसे 'भूतल में घटाभाव' यहाँ भूतल अभाव का अनुयोगी है। अनुयोगी का अर्थ है अनुकूल अथवा यहाँ उसका अर्थ है आधार,

क्योंकि भूतल में अभाव रहता है, इसलिये भूतल अभाव का अनुयोगी (आधार) अथवा 'अनुकूल' हुआ। इस प्रकार 'भूतल में घटाभाव' को हम नैयायिक के शब्दों में 'घट-प्रतियोगिक, भूतलानुयोगिक' अभाव कह सकते हैं।

एक बात और भी समझनी चाहिये। जब 'भूतल में घटाभाव' कहा जाता है तो उसका अर्थ यह होता है कि 'भूतल में घट का संयोग नहीं' अर्थात् 'संयोग सम्बन्ध से प्रतियोगी अर्थात् घट के भूतल में रहने का अभाव है' यहाँ प्रतियोगी घट के भूतल में रहने (वृत्ति) का नियामक सम्बन्ध 'संयोग' है अर्थात् घट का प्रतियोगी होना (प्रतियोगिता) संयोग सम्बन्ध से विशिष्ट है। न्याय के शब्दों में घट की प्रतियोगिता संयोगसम्बन्धावच्छिन्न है (अवच्छिन्न= विशिष्ट)। अथवा यों कहना चाहिये कि प्रतियोगिता का अवच्छेदक (नियामक) *संयोग* सम्बन्ध है। अभाव के विषय में प्रतियोगिता के अवच्छेदक सम्बन्ध को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। प्रागभाव स्थल में 'तन्तुओं में पट का अभाव' रहता है। वहां पर प्रतियोगी के रहने का सम्बन्ध समवाय है अर्थात् प्रतियोगी पट के तन्तुओं में *समवाय* सम्बन्ध से रहने का अभाव प्रागभाव कहा गया, अर्थात् वहाँ पर प्रतियोगिता, समवायसम्बन्धावाच्छिन्न है। यह हो सकता है कि तन्तुओं के ऊपर कोई पट लाकर रख दें तो वहाँ तन्तुओं में संयोग सम्बन्ध से पट का अभाव नहीं होगा अर्थात् उस समय तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से पट का अभाव होने पर भी संयोग सम्बन्ध से पट का भाव है अर्थात् संयोग सम्बन्ध से पट विद्यमान है। इसलिये 'अभाव' के विचार में प्रतियोगी के किस सम्बन्ध से रहने का अभाव है, यह ध्यान में रखना आवश्यक होता है।

ऊपर कारिका की व्याख्या में संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव का भेद बताते हुये यह कहा गया है कि एक वस्तु में दूसरी वस्तु के किसी सम्बन्ध से रहने के अभाव को संसर्गाभाव कहते हैं। परन्तु अन्योन्याभाव में दो वस्तुओं के परस्पर 'तादात्म्य' एकता अथवा अभेद (identity) का निषेध होता है अर्थात् 'घट पट नहीं है' यहां पर घट में पट के 'तादात्म्य' का निषेध है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि घट में पट तादात्म्य से अथवा

तादात्म्य सम्बन्ध से नहीं रहता। तादात्म्य का अर्थ है 'तदात्मा' अर्थात् तत्स्वरूप, और तत्स्वरूप अर्थात् घटस्वरूप तो स्वयं घट ही हो सकता है कोई दूसरी वस्तु घटस्वरूप नहीं हो सकती। इस प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध से घट ही घट में हो सकता है न कि अन्य वस्तु।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि संसर्गाभाव में प्रतियोगिता 'संयोग' 'समवाय' आदि सम्बन्धों से अवच्छिन्न होती है और अन्योन्याभाव में प्रतियोगिता 'तादात्म्य' सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है। यों तो दोनों अभावों की प्रतियोगितायें संसर्ग (सम्बन्ध) से अवच्छिन्न हैं, परन्तु तादात्म्य सम्बन्ध का संयोग समवाय आदि से यह अन्तर है कि वह वृत्तिनियामक सम्बन्ध नहीं है; वृत्ति कहते हैं किसी वस्तु का दूसरी में रहना अर्थात् किसी आधेय का दूसरे आधार में रहना, अर्थात् आधेयता ही वृत्ति है। संयोग समवाय आदि सम्बन्धों से एक वस्तु दूसरी वस्तु में रहती है इसलिये वे वृत्तिनियामक सम्बन्ध हैं, परन्तु तादात्म्य सम्बन्ध से एक वस्तु दूसरी वस्तु में रहे यह सम्भव नहीं अर्थात् एक वस्तु दूसरी की 'तदात्मा' (तत्स्वरूप) हो यह सम्भव नहीं इसलिये तादात्म्य वृत्तिनियामक सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार संसर्गाभाव में प्रतियोगिता वृत्तिनियामक सम्बन्ध से अर्थात् तादात्म्य से इतर सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है और अन्योन्याभाव में प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है इस प्रकार अन्योन्याभाव का यह लक्षण भी स्पष्ट हो जाता है कि "तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकः अभावः"—अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न है प्रतियोगिता जिसकी ऐसा अभाव (यहाँ प्रतियोगिता शब्द के बाद 'क' (कन् प्रत्यय) बहुव्रीहि का द्योतक है) उदाहरणार्थ जैसा कि ऊपर कहा गया कि 'घटः पटो न' यहाँ घट में पट का अन्योन्याभाव है यहाँ पट का तादात्म्य सम्बन्ध से घट में होने का अभाव कहा गया है अर्थात् पट की प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न है।

संसर्गाभाव का यह लक्षण किया था कि जो अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव हो पर यदि संसर्गाभाव का भी स्वरूप नियामक लक्षण करना हो तो इस प्रकार किया जा सकता है कि 'जिसकी प्रतियोगिता तादात्म्य से भिन्न

अर्थात् वृत्तिनियामक (संयोग, समवाय आदि) सम्बन्धों से अवच्छिन्न हो। तीनों प्रकार के संसर्गाभावों में संयोग समवाय आदि सम्बन्धों से प्रतियोगी के रहने का निषेध होता है अर्थात् प्रतियोगिता संयोग समवाय आदि सम्बन्धों से अवच्छिन्न होती है जैसा कि नीचे दिखाया गया है।

अब संसर्गाभाव के तीनों विभागों का अलग अलग लक्षण करते हैं। विनाश होने वाले अभाव का नाम *प्रागभाव* है। तन्तुओं में उत्पन्न होने से पूर्व पट के अभाव को पट–प्रागभाव कहते हैं। तन्तुओं में पट का अभाव अनादि काल से चला आता है परन्तु पट के उत्पन्न होते ही वह अभाव नष्ट हो जाता है। इस प्रकार प्रागभाव विनाश होने वाला अभाव है, वह *अनादि* और *सान्त* है। यहाँ तन्तुओं में *समवाय सम्बन्ध* से पट के रहने का अभाव कहा गया है, अर्थात् पट जो कि इस प्रागभाव का प्रतियोगी है उसकी प्रति-योगिता समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है।

उत्पन्न होने वाले अभाव का नाम *ध्वंस* है। जब तन्तुओं में पट उत्पन्न हो जावे, उसके बाद यदि फिर तन्तु अलग अलग कर दिये जायँ तो पट का नाश हो जाता है। इसी को पट का ध्वंस कहते हैं। तन्तुओं में पट का ध्वंसाभाव हो गया। यह अभाव तन्तुसंयोग के नाश होने पर उत्पन्न होता है, परन्तु एक बार उत्पन्न होने के बाद सदा बना रहता है, इसलिए इसे *सादि* और *अनन्त* अभाव कह सकते हैं। यहां भी तन्तुओं में *समवाय सम्बन्ध* से पट के रहने का अभाव है, इसलिए ध्वंसाभाव का प्रतियोगी जो पट है उसकी प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है।

नित्य संसर्गाभाव को *अत्यन्ताभाव* कहते हैं अर्थात् जो अभाव नित्य हो, *अनादि* और *अनन्त* हो, जो न कभी उत्पन्न होता हो और न कभी नष्ट होता हो। प्राचीन लोग वायु में रूपाभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं क्योंकि वायु में रूप का अभाव नित्य है, वह अनादि और अनन्त है। वे लोग भूतल में घटाभाव को उत्पत्ति और विनाश वाला चौथे प्रकार का अभाव मानते हैं, क्योंकि उनके मत में घट के भूतल से हटाने पर यह अभाव उत्पन्न हो जाता है, और घट के फिर लाने पर नष्ट हो जाता है। परन्तु नवीन लोग 'भूतल में

घटाभाव' को भी नित्य अत्यन्ताभाव ही मानते हैं। समवाय की व्याख्या में यह बात आ चुकी है कि 'घटाभाव एक है और नित्य है' इसीलिये उसका सम्बन्ध एक न मानकर नाना आधारों का स्वरूप – और वह भी उस उस काल का जबकि अभाव की प्रतीति होती हो– माना गया है। यदि भूतल में घट ले आयें तो फिर भी वहाँ पर 'घटाभाव' बना ही रहेगा, क्योंकि 'घटा-भाव' नित्य है और सर्वव्यापक है। परन्तु वहाँ पर घट के आने पर घट-कालीन भूतल का स्वरूप 'सम्बन्ध' नहीं बनता अर्थात् वह सम्बन्ध का अघटक होता है, सम्बन्ध का बनाने वाला या जोड़ने वाला नहीं होता। इस प्रकार नाना आधारों के तत्तत्कालीन स्वरूपों को सम्बन्ध मान लेने से एक ही नित्य 'घटाभाव' या 'घटात्यन्ताभाव' मान लेने से काम चल जाता है इसलिये नवीन नैयायिक 'वायु में रूपाभाव' के समान 'भूतल में घट के अभाव' को भी नित्य अभाव अर्थात् अत्यन्ताभाव मानते हैं।

यह स्पष्ट है कि 'भूतल में घटाभाव' इस स्थल पर अभाव का प्रतियोगी घट है, उस घट का भूतल में संयोग से रहने का निषेध है, इसलिये घट की प्रतियोगिता संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न है। परन्तु 'वायु में रूप का अभाव' इसमें वायु में समवाय सम्बन्ध से 'रूप गुण' के होने का निषेध है अर्थात् यहाँ रूप जो कि प्रतियोगी है उसकी प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है।

सि० मु०– अत्र ध्वंसप्रागभावयोरधिकरणे नात्यन्ताभाव इति प्राचीनमतम्। श्यामघटे रक्तो नास्तीति धीश्च प्रागभावं ध्वंसं चावगाहते न तु तदत्यन्ताभावं तयोर्विरोधात्। नव्यास्तु तत्र विरोधे मानाभावाद् ध्वंसादिकालावच्छेदेनाप्यत्यन्ताभावो वर्त्तत इति प्राहुः।

अनु०– इस विषय में (अत्र) प्राचीन नैयायिकों का यह मत है कि ध्वंस और प्रागभाव के आधार वस्तु) में अत्यन्ताभाव नहीं रहता, क्योंकि श्याम घट में रक्त रूप नहीं और रक्त घट में श्याम रूप नहीं, यह प्रतीति

प्रागभाव और ध्वंस को विषय करती है न कि उनके (रक्त रूप और श्याम रूप के) अत्यन्ताभाव को। परन्तु नवीन नैयायिक कहते हैं कि उन दोनों के मानने में (तत्र) विरोध न होने से ध्वंस आदि के अवच्छेद से भी (अर्थात् ध्वंस आदि के समय में भी) अत्यन्ताभाव वहां रहता है।

व्याख्याः— जिस समय तक घट कुम्हार द्वारा पकाया नहीं जाता और उसका श्याम रूप होता है, उस श्याम घट में लाल रूप का प्रागभाव है, क्योंकि आगे उसी में लाल रूप उत्पन्न होना है (ठीक उसी प्रकार जैसे तन्तुओं में उत्पन्न होने से पूर्व पट का प्रागभाव होता है) और जब लाल रूप उत्पन्न हो जाता है और घड़ा लाल हो जाता है उस घट में श्याम रूप का नाश अर्थात् ध्वंस हो गया। इस प्रकार श्याम घट में रक्तरूप का अभाव प्रागभाव है और रक्त घट में श्याम रूप का अभाव ध्वंस है। श्याम घट में रक्त रूप के अभाव को अथवा रक्त घट में श्याम रूप के अभाव को भूतल में घटाभाव के समान अत्यन्ताभाव नहीं कह सकते क्योंकि वह अभाव प्रागभाव भी हो और साथ-साथ ही अत्यन्ताभाव भी हो, अथवा ध्वंस भी हो और साथ साथ ही अत्यन्ताभाव भी हो यह नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकार से प्रतीत होने वाली वस्तु एक ही हो सकती है, दो नहीं, ऐसा प्राचीनों का मत है। परन्तु नवीन लोगों का कहना है कि ऐसे स्थल में यदि दोनों अभाव अर्थात् प्रागभाव और अत्यन्ताभाव साथ-साथ तथा ध्वंस और अत्यन्ताभाव साथ-साथ मान लें तो उसमें कोई विरोध नहीं आता, इसलिये उनकी सम्मति में प्रागभाव अथवा ध्वंस के समय में अत्यन्ताभाव भी बना रहता है।

आलोचनाः— इस प्रकार नवीनों के मत में तन्तुओं में पट उत्पन्न होने पर यद्यपि तन्तुओं में पट का प्रागभाव तो नष्ट हो जायगा, परन्तु फिर भी तन्तुओं में पट का अत्यन्ताभाव नित्य होने से बना ही रहेगा और यह बात परस्पर विरुद्ध सी प्रतीत होती है कि तन्तुओं में पट होने पर भी पट का अत्यन्ताभाव माना जाय। परन्तु जैसा ऊपर बताया गया है कि घटाभाव नित्य है और नित्य होने से भूतल में घट के ले आने पर भी वहाँ घटाभाव बना ही रहता है, परन्तु उस समय घटाभाव की प्रतीति इसलिये नहीं होती

कि घटकालीन भूतल घटाभाव का सम्बन्ध-घटक नहीं होता । इसी प्रकार यहाँ भी तन्तुओं में पट उत्पन्न होने के बाद तत्कालीन तन्तुओं का (पट के अत्यन्ताभाव के वहां होने पर भी) पटात्यान्ताभाव से सम्बन्ध नहीं होगा। इसलिये उस समय पटात्यन्ताभाव की प्रतीति नहीं होती । इस प्रकार नवीनों के मत में कोई दोष नहीं आता। ।

○ सि० मु०:—नन्वस्तु अभावानामधिकरणात्मकत्वं लाघवादिति चेद् ? न, अनन्ताधिकरणात्मकत्वकल्पनाऽपेक्षयाऽतिरिक्तकल्पनाया एव लघीयस्त्वात् । एवं च आधाराधेयभावोऽप्युपपद्यते । एवं च तत्तच्छब्दगन्धरसाद्यभावानां प्रत्यक्षत्वमुपपद्यते । अन्यथा तत्तदधिकरणानां तत्तदिन्द्रियाग्राह्यत्वादप्रत्यक्षत्वं स्यात् । एतेन ज्ञानविशेषकालविशेषाद्यात्मकत्वमभावस्येति प्रत्युक्तमप्रत्यक्षत्वापत्तेः ॥१२॥

अनु०:--प्रश्न होता है कि अभावों को आधारस्वरूप (अर्थात् जिस वस्तु में अभाव रहता है उसी वस्तु के स्वरूप वाला) क्यों न मान लिया जाय क्योंकि उसमें (कल्पना का) लाघव होगा (अर्थात् अलग अभाव नामक वस्तु की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी) । (उत्तर देते हैं कि) यह ठीक नहीं, अनन्त आधारों के रूप में कल्पना की अपेक्षा अलग (पदार्थ) मानने की कल्पना में ही अधिक लाघव है । इस प्रकार (अभाव को अलग पदार्थ मानने से) आधार-आधेयभाव (अर्थात् किसी वस्तु में अभाव रहता है, ऐसा बोध) भी बन जाता है । और इस प्रकार उन उन शब्द, गन्ध, रस आदि के अभावों का प्रत्यक्ष भी बन सकता है, अन्यथा उन उन के आधारों के (जहां शब्द आदि का अभाव रहता है) उन उन इन्द्रियों द्वारा (जिनसे शब्द आदि का ग्रहण होता है) अग्राह्य होने से (उन इन्द्रियों द्वारा) उन उन शब्द आदि के अभाव की प्रत्यक्षता न होगी । इस प्रकार अभाव ज्ञानविशेष या कालविशेष आदि रूप हैं, इन

मतों का भी खण्डन कर दिया, क्योंकि (वैसा मानने से अभाव की) अप्रत्यक्षता आ पड़ेगी।

व्याख्या:– प्रभाकर का यह सिद्धान्त है कि अभाव कोई अलग पदार्थ नहीं, प्रत्युत जिस आधार में अभाव की प्रतीति होती है वही आधार उसका स्वरूप है। अर्थात् जब 'भूतल में घटाभाव' की प्रतीति होती है तो भूतल में घट का न होना अर्थात् भूतल का घट के विना होना, केवल अपने स्वरूप में होना अर्थात् भूतल का 'कैवल्य' ही घटाभाव का स्वरूप है। भूतल के कैवल्य अर्थात् 'केवल स्वरूप' से अतिरिक्त घटाभाव कोई अलग वस्तु नहीं। इसलिये मीमांसक 'भूतल में घटाभाव' को भूतल स्वरूप, अथवा भूतल का केवल स्वरूप या 'भूतल का कैवल्य' मानते हैं, कोई अलग पदार्थ नहीं, ऐसा मानने में वे कहते हैं कि कल्पना का लाघव भी होता है, क्योंकि आधार तो पहिले से ही माने हुए पदार्थ हैं, उनके अतिरिक्त किसी अभाव नामक पदार्थ को नहीं मानना पड़ता।

इसके विरुद्ध नैयायिक तीन युक्तियां देता है :—

(१) पहिली यह कि अनन्त आधारों के स्वरूप को ही अभाव मानने की अपेक्षा एक अलग पदार्थ मानने में ही लाघव है, क्योंकि 'अभाव' को एक अलग पदार्थ यदि न मानें तो अनन्त आधारों के रूप में मानने में अधिक गौरव है, अर्थात् हमने 'घटाभाव' नामक एक नित्य पदार्थ माना है उसके बदले 'भूतल में घटाभाव' भूतल स्वरूप होगा और 'पर्वत में घटाभाव' पर्वत स्वरूप होगा। इस प्रकार अनन्त आधारों के स्वरूप मानने की अपेक्षा एक घटाभाव को मानने में अधिक लाघव है।

(२) इसके सिवाय 'भूतल में घटाभाव' यहां आधार–आधेय भाव की प्रतीति होती है अर्थात् भूतल आधार है और घटाभाव आधेय है। परन्तु यदि घटाभाव को भूतल स्वरूप ही मान लिया जाय तो आधार और आधेय की अलग अलग प्रतीति नहीं बन सकती।

(३) इसके सिवाय आधारस्वरूप मानने से एक और भी कठिनता होगी। यह सार्वजनिक अनुभव है कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु की प्रतीति

होती है उसी इन्द्रिय से उस वस्तु के अभाव का भी ग्रहण होता है अर्थात् प्रतियोगी और उसका अभाव एक ही इन्द्रिय से ग्राह्य होते हैं। जैसे श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है तो श्रोत्रेन्द्रिय से ही शब्द के अभाव का ग्रहण होगा; चक्षु से रूप का ग्रहण होता है तो चक्षु से ही रूप के अभाव का भी ग्रहण होगा। उदाहरणार्थ वायु में रूपाभाव का ग्रहण चक्षु से ही होता है परन्तु यदि अभाव अधिकरण अर्थात् आधार स्वरूप मान लिया जाय तो 'वायु में रूपाभाव' यहाँ अभाव का आधार वायु है और यदि रूपाभाव वायुस्वरूप ही है तो उसका प्रत्यक्ष चक्षु से न होगा, क्योंकि वायु तो चक्षु से ग्राह्य नहीं। इस प्रकार अभाव को यदि आधारस्वरूप मान लें तो अभाव की प्रतीति उस इन्द्रिय से नहीं हो सकेगी जिससे कि उसके प्रतियोगी की प्रतीति होती है, और यह सार्वजनिक अनुभव है कि अभाव की प्रतीति उसी इन्द्रिय से होती है जिस इन्द्रिय से उसके प्रतियोगी को; अर्थात् रूप और रूप का अभाव दोनों का ग्रहण चक्षु से होता है। इस प्रकार सार्वजनिक अनुभव का विरोध आने से अभाव को आधारस्वरूप नहीं माना जा सकता।

इन तीन युक्तियों से अभाव के आधारस्वरूप होने का खण्डन किया, इसके सिवाय कुछ लोग अभाव को ज्ञानस्वरूप मानते हैं अर्थात् जब हम भूतल को देखते हैं और घट की स्मृति आने पर यह ध्यान आता है कि वह घट यहाँ नहीं तो 'भूतल में घटाभाव' एक प्रकार का विशेष ज्ञान ही है। इसका उत्तर देते हैं कि इसमें भी वही दोष आयेगा अर्थात् 'प्रत्यक्षता' न बन सकेगी। यह सार्वजनिक अनुभव है कि 'भूतल में घटाभाव' का प्रत्यक्ष चक्षु से होता है, परन्तु यदि अभाव ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञान का प्रत्यक्ष तो मनस् इन्द्रिय से होता है, जिसे मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। पर घटाभाव का तो चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है इसलिये भूतल में घटाभाव को ज्ञानविशेष नहीं माना जा सकता।

कोई लोग कहते हैं कि 'भूतल में घटाभाव' एक काल विशेष है अर्थात् भूतल के उस काल को ही, जब कि घट वहाँ नहीं होता, घटाभाव कहते हैं। इसलिये 'घटाभाव' अलग कोई वस्तु नहीं, प्रत्युत भूतल का ही एक काल

विशेष है। इसका उत्तर भी यही है कि वैसा मानने से 'भूतल में घटाभाव' का प्रत्यक्ष न बन सकेगा, क्योंकि काल का तो बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता नहीं और यदि 'भूतल में घटाभाव' कालविशेष होता तो उसका बाह्येन्द्रिय चक्षु से प्रत्यक्ष कैसे होता ?

अतएव नैयायिक अभाव को एक पृथक् ही पदार्थ मानते हैं।

इस प्रकार सात पदार्थों के लक्षण समाप्त हुये।

सि० मु०— इदानीं पदार्थानां साधर्म्यं वैधर्म्यं च वक्तुं प्रक्रमते —

का०—सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते ॥१३॥

सि० मु०—समानो धर्मो येषां ते सधर्माणः, तेषां भावः साधर्म्यम्, समानो धर्म इति फलितार्थः। एवं विरुद्धो धर्मो येषां ते विधर्माणः, तेषां भावो वैधर्म्यम्, विरुद्धो धर्म इति फलितार्थः। ज्ञेयत्वं ज्ञानविषयता सा च सर्वत्रैवास्ति, ईश्वरादिज्ञान-विषयतायाः केवलान्वयित्वात्। एवमभिधेयत्वप्रमेयत्वादिकं बोध्यम् ॥१३॥

अनुवाद—अब पदार्थों के साधर्म्य वैधर्म्य को कहना प्रारम्भ करते हैं:— द्रव्य आदि सातों पदार्थों का समान धर्म 'ज्ञेयत्व' आदि कहा जाता है।

समान (एक से) हैं धर्म जिनके वे 'सधर्मा' कहलाते हैं और उनका भाव (उनका वैसा होना अर्थात् उनमें रहने वाले धर्म) साधर्म्य कहलाते हैं अर्थात् 'समान धर्म' यह अर्थ निकला। (इसी प्रकार) विरुद्ध (विपरीत) हैं धर्म जिनके, वे 'विधर्मा' पदार्थ कहलाते हैं और उनका भाव वैधर्म्य कहलाता है अर्थात् विरुद्ध धर्म, यह अर्थ निकला। 'ज्ञेयत्व' का अर्थ है ज्ञान का विषय होना, वह ज्ञेयत्व सब पदार्थों में है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ ज्ञान का विषय है। क्योंकि ईश्वर आदि के ज्ञान का विषय होना सब जगह

विद्यमान (केवलान्वयी) है। इसी प्रकार 'अभिधेयत्व' (किसी शब्द से प्रकट करने योग्य होना) और प्रमेयत्व (प्रमाता से जानने योग्य होना) को भी समझना चाहिये। अर्थात 'अभिधेयत्व' और 'प्रमेयत्व' भी सब जगह पाये जाते हैं।

व्याख्या:— 'समान धर्म' यह भाववाचक शब्द (abstract noun) है उससे 'सधर्मा' यह विशेषण (adjective) बनता है और उस विशेषण से फिर भाववाचक (abstract) नाम 'साधर्म्य' बनता है। इस प्रकार 'साधर्म्य' और 'समान धर्म' इन दोनों का एक ही अर्थ है। इसी प्रकार 'विरुद्ध धर्म' और 'वैधर्म्य' का भी एक ही अर्थ है।

भारतीय दर्शन विशेषकर न्याय में धर्म (attribute) और धर्मी (substratum) शब्द को अच्छी तरह समझना आवश्यक है। जब किसी वस्तु में कोई दूसरी वस्तु रहे अथवा उसमें कुछ विशेषता उत्पन्न करे अर्थात् उसका विशेषण बने तो जो वस्तु रहती है या विशेषण बनती है उसे 'धर्म' या विशेषण (attribute) कहते हैं और जिस में रहे या जिसका विशेषण बने उसे 'धर्मी' या विशेष्य (substratum) कहते हैं। जैसे 'देवदत्त दण्ड वाला है,' या 'देवदत्त ज्ञानी है', या 'देवदत्त चलता है,' या 'देवदत्त ब्राह्मण है' इत्यादि उदाहरणों में 'देवदत्त' धर्मी या विशेष्य है और 'दण्ड', 'ज्ञान', 'चलना,' या 'ब्राह्मणत्व' ये उसके धर्म हैं या विशेषण हैं। इस प्रकार धर्म (१) द्रव्य, (२) गुण, (३) क्रिया या (४) जाति, इन चारों के रूप में हो सकता है। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों में क्रमशः पाया जाता है, धर्मी साधारणतया द्रव्य ही होता है परन्तु कभी कभी गुण आदि भी धर्मी हो सकते हैं, जैसे 'नीलत्व जाति विशिष्ट नील,' यहां 'नील गुण' धर्मी है और 'नीलत्व जाति' धर्म है। बहुधा साधारण व्यवहार में 'धर्म' और 'गुण' को समानार्थक समझ लिया जाता है परन्तु ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि न्याय-वैशेषिक शास्त्र में गुण की अपेक्षा धर्म (attribute) व्यापक शब्द है जो कि द्रव्य, गुण, कर्म और जाति किसी भी रूप में हो सकता है।

इस प्रकरण में भिन्न भिन्न पदार्थों में जो समान धर्म या विरुद्ध धर्म रहते हैं उन्हें बताया गया है। सबसे पहिले सात पदार्थों में रहने वाले समान धर्म बताये हैं और क्योंकि सारा विश्व सात पदार्थों के अन्दर आ जाता है इसलिये सातों पदार्थों में रहने वाले वे धर्म हैं जो कि 'केवलान्वयी' हैं अर्थात् सर्वत्र विद्यमान होते हैं। 'अन्वय' कहते हैं किसी धर्म का कहीं होना अर्थात् रहना और 'व्यतिरेक' का अर्थ है किसी धर्म का न होना अर्थात् न रहना। प्रत्येक धर्म या वस्तु जहाँ वह रहती है वहाँ अन्वयवाली (अन्वयी) होती है और जहाँ नहीं रहती, वहाँ व्यतिरेकी (व्यतिरेक वाली) होती है। इस प्रकार जो धर्म सब जगह रहते हैं वे धर्म 'व्यतिरेकी' तो कहीं हो ही नहीं सकते। वे सब जगह रहने के कारण केवल अन्वयी (केवलान्वयी) ही होते हैं। इस प्रकार केवलान्वयी का अर्थ है सब जगह विद्यमान, सर्वव्यापक। 'ज्ञेयत्व' ज्ञान का विषय अर्थात् जानने योग्य होना, 'अभिधेयत्व' किसी शब्द से प्रकट करने योग्य होना, 'प्रमेयत्व' किसी प्रमाण का अर्थात् यथार्थ अनुभव का विषय होना, ये ऐसे धर्म हैं जो संसार के सातों पदार्थों में अर्थात् सभी पदार्थों में पाये जाते हैं, क्योंकि जो भी पदार्थ विद्यमान है वह आवश्यक रूप से 'ज्ञेय', 'अभिधेय' और 'प्रमेय' होगा।

अब कारिका में द्रव्य आदि पांच पदार्थों का साधर्म्य कहते हैं :—

का०—द्रव्यादयः पञ्च भावा अनेके समवायिनः।

अनु०— द्रव्य आदि पांच भाव और अनेक (एक से अधिक) तथा समवाय सम्बन्ध से रहने वाले हैं।

व्याख्या:— सातों पदार्थों का साधर्म्य बताकर अब पाँच पदार्थों का साधर्म्य कहते हैं। द्रव्यादि छै भाव पदार्थों का साधर्म्य 'भावत्व' 'भाव' रूप होना (अर्थात् अभाव से विपरीत होना) स्पष्ट ही है, अतः उसे कहने की आवश्यकता नहीं। यह स्पष्ट रूप से बतला दिया गया है कि सारे विश्व में समवाय 'एक' ही है। उस समवाय को छोड़कर बाकी पांचों भाव पदार्थ अनेक हैं, क्योंकि द्रव्य, गुण और कर्म क्रमशः ९, २४, और ५ बताये गये हैं

किन्तु उनके अपने विभाग देखे जायँ तो वे वस्तुतः अनन्त होते हैं। सामान्य और विशेष तो अनन्त हैं ही। तथा यह पाँचों भाव पदार्थ 'समवायी' हैं, अर्थात् समवाय को छोड़कर पाँचों भाव पदार्थ समवाय सम्बन्ध से रहने वाले हैं। समवाय, समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता, यह समवाय के प्रकरण में स्पष्ट कर ही दिया है।

सि० मु०—द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणां साधर्म्यमनेकत्वं समवायित्वं च। यद्यप्यनेकत्वमभावेऽप्यस्ति तथाप्यनेकत्वे सति भावत्वं पञ्चानां साधर्म्यम्। तथा चानेकभाववृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमिति फलितोऽर्थः। तेन प्रत्येकं घटादावाकाशादौ च नाव्याप्तिः। समवायित्वं च समवायसम्बन्धेन सम्बन्धित्वं न तु समवायवत्त्वं सामान्यादावभावात्। तथा च समवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमिति फलितोऽर्थः। तेन नित्यद्रव्येषु नाव्याप्तिः।

अनु०—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष का साधर्म्य अनेक होना और समवाय सम्बन्ध से रहना है। यद्यपि अनेक होना 'अभाव' में भी है (क्योंकि अभाव भी अनेक होते हैं) तो भी 'अनेक होने पर भावरूप होना' पांच पदार्थों का साधर्म्य है (और अभाव अनेक होने पर भी भावरूप नहीं है)। इस प्रकार यह अर्थ निकला (फलित हुआ) कि "अनेक भाव पदार्थों में रहने वाली पदार्थविभाजकोपाधि (अर्थात् द्रव्यत्व, गुणत्व आदि) से युक्त होना"। ऐसा अर्थ करने से प्रत्येक घट (अर्थात् घटादि व्यक्ति) और आकाश आदि में (इस साधर्म्य रूप लक्षण की) अव्याप्ति नहीं होती। 'समवायित्व' का अर्थ है समवाय सम्बन्ध से रहना (समवेतत्व) न कि समवाय वाला होना (अर्थात समवाय सम्बन्ध से किसी वस्तु को अपने अन्दर रखना), क्योंकि (समवाय वाला होने का) सामान्य आदि में अभाव है। इस प्रकार यह अर्थ निकला कि 'समवाय सम्बन्ध से रहने वाले (समवेत)

पदार्थ में रहने वाली पदार्थविभाजकोपाधि से युक्त होना,' ऐसा अर्थ करने से नित्य द्रव्यों में (परमाणु तथा आकाश आदि में 'समवायित्व' साधर्म्य की) अव्याप्ति नहीं होती।

व्याख्याः— मुक्तावली टीका में पहिले यह बताया गया है कि मूल कारिका में 'भाव' शब्द द्रव्यादि पांच जो कि उद्देश्य हैं (उद्देश्य-अर्थात् जिस के विषय में कुछ कहा जाय) उनके साथ नहीं लगाया जाता, बल्कि 'अनेक' शब्द के साथ जो विधेय है (विधेय-जो कि उद्देश्य के विषय में विधान किया जाय) लगाया जाता है जिससे कि साधर्म्य हुआ 'अनेक होने के साथ साथ भाव होना' केवल 'अनेक होना' साधर्म्य कहें तो वह 'अभाव' में भी चला जाता, क्योंकि अभाव भी अनेक हैं।

यहाँ 'अनेकत्व' साधर्म्य कहा है उसमें यह दोष आता है कि 'एक घट-व्यक्ति' जो कि एक ही है उसमें 'अनेकत्व' धर्म कैसे रहेगा। यद्यपि घट अनेक हैं पर एक घट-व्यक्ति में तो एकत्व ही रहेगा न कि अनेकत्व। इसके सिवाय 'आकाश' तो एक ही व्यक्ति है, उसमें तो 'अनेकत्व' किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। इस दोष को मिटाने के लिये 'साधर्म्य' का इस प्रकार परिष्कार (अर्थात् विशिष्ट अर्थ) करते हैं, ऐसी पदार्थ-विभाजक उपाधि से युक्त होना जो अनेक भाव पदार्थों में रहती हो। पदार्थ-विभाजक उपाधियां, अर्थात् जिनके द्वारा पदार्थों का विभाग होता है, 'द्रव्यत्व' आदि केवल सात ही हैं। यहां पदार्थ-विभाजकों के लिये 'जाति' शब्द न कहकर अधिक व्यापक 'उपाधि' शब्द इसलिए कहा कि यद्यपि पहली तीन पदार्थ-विभाजक उपाधियां अर्थात् द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व तो 'जाति' हैं परन्तु अगली चार 'सामान्यत्व', 'विशेषत्व' आदि जाति नहीं इसलिये यहां उपाधि शब्द का जो कि व्यापक है और प्रत्येक सामान्य बोधक धर्म के लिये आता है, प्रयोग किया गया। अब इस प्रकार परिष्कृत अर्थ करने से प्रत्येक घट या आकाश में भी जो पदार्थ विभाजक उपाधि होगी वह 'द्रव्यत्व' ही होगी और द्रव्यत्व अनेक भाव पदार्थों में रहने वाला धर्म है ही, इस प्रकार कोई दोष न होगा। ऐसा परिष्कृत साधर्म्य कहने से केवल पांच ही पदार्थ-विभाजक उपाधियां

(द्रव्यत्व से विशेषत्व तक) आयेंगी, क्योंकि शेष दो पदार्थ विभाजक उपाधियां अर्थात् 'समवायत्व' और 'अभावत्व' 'अनेक भाव पदार्थों में रहने वाली' नहीं अर्थात् पहिली अनेकों में नहीं रहती और दूसरी भाव पदार्थों में नहीं रहती, इस प्रकार कोई दोष न आयेगा ।

'समवायित्व' पांच भाव पदार्थों का साधर्म्य कहा गया है । 'समवायित्व' के दो अर्थ हो सकते हैं, एक, समवाय सम्बन्ध से रहना अर्थात् समवेतत्व और दूसरा समवाय सम्बन्ध से किसी को अपने अन्दर रखना, यदि दूसरा अर्थ किया जाय तो वह पहिले तीन पदार्थों में तो घट जायगा, पर 'सामान्य' आदि पदार्थों में नहीं घटेगा, क्योंकि पहिले तीन पदार्थों में, द्रव्य में तो द्रव्य (अवयवों में अवयवी के रूप में अर्थात् कारण में कार्य के रूप में), गुण, कर्म तथा जाति और विशेष यह सभी समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, और गुण तथा कर्म में भी जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है, परन्तु सामान्य और विशेष में कोई भी वस्तु समवाय सम्बन्ध से नहीं रहती, इसलिये यह साधर्म्य उन दोनों में नहीं घटेगा, इसलिये समवायित्व का अर्थ 'समवेतत्व' अर्थात् 'समवाय सम्बन्ध से रहना' करते हैं, वह पांचों में घट जायगा, क्योंकि द्रव्य अवयवी के रूप में अवयवों में, गुण और कर्म द्रव्य में, तथा सामान्य द्रव्यादि तीन में और विशेष नित्य द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं । परन्तु ऐसा अर्थ करने में भी नित्य द्रव्यों में दोष आयेगा, क्योंकि अनित्य अर्थात् कार्य द्रव्य तो अपने अवयवों में अर्थात् कारणों में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, परन्तु नित्य द्रव्य, परमाणु, आकाश आदि कारण रहित होने से किसी में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते । इसलिये यहां भी ऊपर की युक्ति से परिष्कृत अर्थ इस प्रकार किया गया कि 'समवेत पदार्थ में रहने वाली पदार्थ विभाजक उपाधि से युक्त होना' । नित्य द्रव्यों में भी पदार्थविभाजकोपाधि 'द्रव्यत्व' रहती है और 'द्रव्यत्व' समवेत अर्थात् कार्यद्रव्यों में भी रहता है । इस प्रकार नित्य पदार्थों में उपर्युक्त साधर्म्य की अव्याप्ति नहीं हुई, अर्थात् ऐसा परिष्कृत अर्थ करने से नित्य पदार्थों में भी वह साधर्म्य रह गया ।

अब क्रमशः अन्य पदार्थों का साधर्म्य कहते हैं:—

का०-सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्या गुणादिर्निर्गुणक्रियः ॥१४

अनु०— तीन पहिले पदार्थ (अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म) सत्ता जाति वाले हैं, और गुण आदि (अर्थात् गुण से लेकर अभाव तक) गुण रहित और कर्म रहित हैं ।

व्याख्या:— सत्ता जाति जो कि सबसे बड़ी जाति है द्रव्य गुण और कर्म इन तीन में रहती है तथा सामान्य आदि चार पदार्थों में कोई जाति नहीं रहती, यह पहिले ही स्पष्ट किया जा चुका है । इसके सिवाय गुण और कर्म केवल द्रव्य में ही रहते हैं, और द्रव्य को छोड़कर बाकी किसी भी पदार्थ में नहीं रहते, यह भी स्पष्ट किया जा चुका है ।

सि० मु०—सत्तावन्त इति । द्रव्यगुणकर्मणां सत्तावत्त्वमित्यर्थः । गुणादिरिति । यद्यपि गुणक्रियाशून्यत्वमाद्यक्षणे घटादावतिव्याप्तं क्रियाशून्यत्वं च गगनादावतिव्याप्तं तथापि गुणवदवृत्तिधर्मवत्त्वं कर्मवदवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं तदर्थः । नहि घटत्वादिकं द्रव्यत्वं वा गुणवदवृत्ति कर्मवदवृत्ति वा, किं तु गुणत्वादिकं तथा, आकाशत्वादिकं तु न पदार्थविभाजकोपाधिः ।

अनु०— 'सत्तावन्तः' इत्यादि की व्याख्या करते हैं । यह अर्थ हुआ कि द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में सत्ता (जाति) रहती है । अब 'गुणादि' इत्यादि की व्याख्या करते हैं । यद्यपि गुणशून्यता और कर्मशून्यता आदि क्षण के घट आदि में भी अतिव्याप्त है (अर्थात् 'गुणक्रियाशून्यत्व' साधर्म्य, आदि क्षण के घट में भी चला जाता है) और क्रियाशून्यता आकाश आदि में चली जाती है तो भी 'गुण वाले में न रहने वाले धर्म से युक्त रहना,' और 'कर्म वाले में न रहने वाली पदार्थ विभाजक उपाधि से युक्त होना'

उसका (क्रमशः निर्गुण और निष्क्रिय का) अर्थ है । घटत्व (जो कि आदि क्षण के घट का धर्म है) गुण वाले में न रहने वाला धर्म नहीं है (इसलिये गुण रहित होने पर भी वह साधर्म्य आदि क्षण के घट में नहीं जाता) औरद्रव्यत्व (आकाश में रहने वाली पदार्थविभाजकोपाधि) कर्म वाले में न रहने वाली नहीं है (इसलिये क्रिया रहित होने का साधर्म्य आकाश में नहीं जाता) किन्तु गुणत्व आदि ही ऐसा धर्म है (जो गुण वाले में न रहने वाला धर्म हो या कर्म वाले में न रहने वाली पदार्थविभाजकोपाधि हो, यद्यपि आकाशत्व ऐसा धर्म है जो कर्म वाले में नहीं रहता परन्तु) आकाशत्व पदार्थविभाजकोपाधि नहीं है (आकाश में रहने वाली पदार्थ-विभाजकोपाधि द्रव्यत्व है) ।

व्याख्या — गुण और कर्म (क्रिया) से शून्य होना (द्रव्य को छोड़कर गुण आदि छै पदार्थों का साधर्म्य बतलाया गया है, परन्तु इस साधर्म्य रूप लक्षण में दो जगह अतिव्याप्ति होती है। यहां संक्षेप से इतना बतला देना आवश्यक है कि 'लक्षण'का अपने क्षेत्र से ,आगे अधिक देश में चला जाना अतिव्याप्ति दोष है। अपने पूरे क्षेत्र में भी न जाना अव्याप्ति दोष कहलाता है, और अपने क्षेत्र में कहीं भी न घटना असंभव दोष कहलाता है। लक्षण में इस प्रकार तीन दोष माने गये हैं। यहाँ अतिव्याप्ति इस प्रकार है—गुण क्रिया शून्य होना द्रव्य में अर्थात् प्रथम क्षण के घट में भी चला जाता है जहां नहीं जाना चाहिये। नैयायिकों ने प्रथम क्षण में घट को गुण क्रिया शून्य माना है, क्योंकि घट के अपने रूप कर्म आदि का समवायिकारण घट ही है, और कारण का कम से कम एक क्षण पूर्व होना आवश्यक है। इसलिये 'कार्य'—घटरूप या घटक्रिया— की अपेक्षा घट को एक क्षण पूर्व में मानना पड़ेगा क्योंकि जैसा ऊपर कहा कि 'घटरूप' और 'घट की क्रिया' का घट ही समवायिकारण है। इसलिये उसका उनसे एक क्षण पूर्व होना आवश्यक है । इसलिये पहिले क्षण में घट गुण और क्रिया से शून्य ही होगा। इस प्रकार गुण आदि छै पदार्थों का गुण क्रिया से शून्य होने का साधर्म्य प्रथम क्षण के घट द्रव्य में चला जाता है। इसी प्रकार क्रियाशून्य होने का साधर्म्य आकाश आदि विभु

द्रव्यों में चला जाता है जो क्रिया शून्य हैं। इस दोष को दूर करने के लिये गुण रहित होने का परिष्कृत अर्थ यह किया जाता है कि 'गुण वाले में न रहने वाले धर्म से युक्त होना', ऐसा धर्म जो गुण वाले में (अर्थात् द्रव्य में) कदापि न रहता हो 'गुणत्व' 'कर्मत्व' आदि ही हो सकते हैं। 'गुणत्व', गुण वाले में कदापि नहीं रह सकता, क्योंकि 'गुणत्व' तो केवल 'गुण' में रहेगा और 'गुण' कदापि *'गुण वाला'* नहीं हो सकता। प्रथम क्षण के घट में रहने वाला धर्म 'घटत्व' वैसा धर्म नहीं है 'घटत्व' गुण वाले द्रव्य अर्थात् प्रथम क्षण के अतिरिक्त अन्य क्षणों के घट में भी रहता है जो कि गुण वाले द्रव्य हैं। इस प्रकार अतिव्याप्ति दोष दूर हो जाता है। क्रिया-रहित होने का परिष्कृत अर्थ यह किया जाता है कि 'क्रिया वाले में न रहने वाली पदार्थ विभाजक-उपाधि से युक्त होना'। क्रिया वाले (अर्थात् द्रव्य) में कदापि न रहने वाली पदार्थ-विभाजक-उपाधि 'गुणत्व' 'कर्मत्व' आदि हो हो सकती हैं, परन्तु द्रव्यत्व वैसी उपाधि नहीं क्योंकि यद्यपि वह क्रियाशून्य आकाश में भी रहता है परन्तु क्रिया वाले अनेक द्रव्यों में भी तो रहती है। इसलिये 'द्रव्यत्व' को क्रिया वाले में न रहने वाली उपाधि नहीं कहा जा सकता। यद्यपि आकाशत्व आदि ऐसे धर्म हैं जो क्रिया वाले में कभी नहीं रहते, परन्तु 'आकाशत्व' आदि पदार्थ-विभाजकोपाधि नहीं है, क्योंकि 'आकाशत्व' तो द्रव्य की विभाजक उपाधि है न कि पदार्थों की। पदार्थविभाजकोपाधि तो द्रव्यत्व, गुणत्व आदि सात ही हैं। इस प्रकार साधर्म्य रूप लक्षण का परिष्कृत अर्थ करने से आकाश आदि में अतिव्याप्ति भी नहीं होगी।

का०—सामान्यपरिहीनास्तु सर्वे जात्यादयो मताः।

सि० मु०— सामान्येति । सामान्यानधिकरणत्वं सामान्यादीनामित्यर्थः।

अनु०— सब जाति आदि (जाति = सामान्य, अर्थात् सामान्य से लेकर आगे के पदार्थ- सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव) सामान्य से रहित माने गये हैं।

सामान्य आदि (उपर्युक्त चारों पदार्थों) में सामान्य की अनधिकरणता रहती है, (अर्थात् वे सामान्य के अधिकरण या आधार नहीं, अर्थात् उन चारों पदार्थों में सामान्य नहीं रहता, यह अर्थ है)

व्याख्या: — ८ वीं कारिका की व्याख्या में जातिबाधक गिनाते हुये यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सामान्य में सामान्य (अर्थात् जाति) नहीं रहती। उदाहरणार्थ 'गोत्व' में रहने वाला 'गोत्वत्व' कोई जाति नहीं, इसी प्रकार विशेष पदार्थ में भी कोई 'विशेषत्व' नाम की जाति नहीं रहती और इसी प्रकार समवाय और अभाव में भी 'समवायत्व' और 'अभावत्व' जातियां नहीं रहतीं। इस प्रकार सामान्य आदि चारों पदार्थों का साधारण धर्म यह है कि उनमें कोई जाति नहीं रहती।

का०—पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्॥१५

सि० मु०—पारिमाण्डल्येति। पारिमाण्डल्यमणुपरिमाणं कारणत्वं तद्भिन्नानामित्यर्थः। अणुपरिमाणं तु न कस्यापि कारणम्। तद्धि स्वाश्रयारब्धद्रव्यपरिमाणारम्भकं भवेत् तच्च न सम्भवति, परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमान्महदारब्धस्य महत्तरत्ववदणुजन्यस्याणुतरत्वप्रसङ्गात्।

अनु०—परिमाण्डल्य अणु में रहने वाले परिमाण का नाम है। उसको छोड़कर अन्य सब पदार्थों (या पदार्थों के विभागों में जैसे द्रव्य के विभाग- पृथिवी, जल, तेजस् आदि नौ हैं —) में कारणता रहती है।

'पारिमाण्डल्य' अणु के परिमाण को कहते हैं, उससे भिन्नों का (अर्थात् उसको छोड़कर अन्य पदार्थों का) साधर्म्य 'कारण होना' है, यह अर्थ है। अणुपरिमाण तो किसी का भी कारण नहीं, क्योंकि वह अपने आश्रय अर्थात् आधारभूत द्रव्य (स्व = अणुपरिमाण, उसका आश्रय) अणु या परमाणु* से आरब्ध या उत्पन्न हुए द्रव्य अर्थात् द्व्यणुक के

* ध्यान रखना चाहिये कि न्याय वैशेषिक शास्त्र में अणु या परमाणु में कोई अन्तर नहीं है।

परिमाण का आरम्भक अर्थात् कारण हो सकता है, परन्तु वह हो नहीं सकता, क्योंकि यह नियम है कि परिमाण अपने समानजातीय (अर्थात् जिस प्रकार का है, उसी प्रकार के) उत्कृष्ट (बढ़े हुए) परिमाण का जनक (उत्पादक होता है, और इसलिये जैसे 'महत्' परिमाण से उत्पन्न परिमाण की महत्तरता होती है, उसी प्रकार अणु परिमाण से जन्य (उत्पन्न परिमाण अणुतर (और भी अणु) हो, यह बात आ पड़ेगी (प्रसङ्ग = आ पड़ना)।

व्याख्या:— अब यह बतलाते हैं कि पदार्थों में कौन २ ऐसे हैं जो किसी कार्य के कारण होते हैं। उत्तर यह है कि सिवाय अणुओं के परिमाण के जिसका नाम कणाद ने 'पारिमाण्डल्य' रक्खा है, सभी पदार्थ किसी न किसी कार्य के कारण होते हैं।

परिमाण दो प्रकार का होता है, एक 'अणु' और एक 'महत्'। अन्धेरे में यदि किसी छिद्र में सूर्य की किरणें निकल रही हों तो उनके प्रकाश में जो अत्यन्त छोटे छोटे कण दिखाई देते हैं उनसे लेकर बड़े २ पहाड़ या हज़ारों लाखों मील लम्बे चन्द्र सूर्य आदि पिण्ड, सभी का परिमाण महत् परिमाण माना जाता है, अर्थात् वह परिच्छिन्न परिमाण जिसको हमारी बुद्धि ग्रहण कर सके। इसके सिवाय 'अणु' जिसके टुकड़े नहीं हो सकते, जिसमें कोई लम्बाई चौड़ाई नहीं, उसका परिमाण 'अणु' परिमाण कहलाता है, यह ध्यान रखना चाहिये कि जो परिमाण हम छोटे से छोटा सोच सकते हैं वह महत् परिमाण ही होगा, परन्तु ऐसा परिमाण जो अणु में रहता है, जिसमें लम्बाई चौड़ाई आदि कुछ भी नहीं सोची जा सकती, वस्तुतः जिसका स्वरूप सोचना भी हमारी बुद्धि के लिये कठिन है अणु परिमाण कहलाता है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि 'अणु' शब्द न्याय-वैशेषिक शास्त्र में दो अर्थों में आता है। एक तो सबसे सूक्ष्म निर्विभाग अणु या परमाणु (atom) के लिये और दूसरा 'अणु के परिमाण' के लिये भी अणु शब्द आता है।

इसके बाद यह बताते हैं कि कारण के परिमाण से कार्य का परिमाण उत्पन्न होता है अर्थात् तन्तु के परिमाण से कपड़े का परिमाण उत्पन्न होता

है। और क्योंकि कारण अवयवरूप होता है और कार्य अवयवी के रूप में, इसलिये कारण के परिमाण से कार्य का परिमाण बढ़कर (उत्कृष्ट) होता है। यह स्पष्ट है कि तन्तु के परिमाण से पट का परिमाण महत्तर होता है, परन्तु जिस प्रकार का परिमाण है, बढ़कर होना भी उसी प्रकार का होगा अर्थात् कारण का परिमाण यदि महत् है तो कार्य का परिमाण महत्तर होता है। उसी प्रकार यदि कारण का परिमाण 'अणु' है तो कार्य का परिमाण भी उसी प्रकार का बढ़ा हुआ (उत्कृष्ट) 'अणुतर' होना चाहिये। अणु परिमाण से दूसरे प्रकार का परिमाण अर्थात् महत् परिमाण उत्पन्न नहीं हो सकता, प्रत्युत उसी प्रकार का बढ़ा हुआ अर्थात् अणुतर उत्पन्न होगा। इसलिये न्याय-वैशेषिक में यह माना गया है कि दो अणुओं से बने द्वयणुक का परिमाण (इस साधारण नियम के अनुसार कि कारण के गुण कार्य के गुणों को उत्पन्न करते हैं) अणु के परिमाण से उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत दो अणुओं में रहने वाली द्वित्व संख्या से उत्पन्न होता है। द्वित्व संख्या से उत्पन्न हुआ यह परिमाण न तो विभिन्न जातीय अर्थात् महत् परिमाण ही होता है और न 'अणुतर' ही होता है प्रत्युत द्वयणुक का परिमाण अणु के परिमाण के समान ही 'अणु' परिमाण ही माना जाता है। इसके बाद तीन द्वयणुकों से एक त्र्यणुक बनता है। त्र्यणुक का परिमाण भी द्वयणुक के परिमाण से उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि द्वयणुक का परिमाण भी अणुपरिमाण ही है जो कि अगले परिमाण का कारण नहीं होता और उससे उत्पन्न यदि त्र्यणुक का परिमाण माना जाय तो फिर उपर्युक्त दोष आयेंगे। इस लिये त्र्यणुक का परिमाण तीनों द्वयणुकों में रहने वाली 'त्रित्व' संख्या से उत्पन्न होता है। त्रित्व और इससे बाद की संख्यायें 'बहुत्व' मानी जाती हैं और न्याय वैशेषिक में यह माना गया है कि बहुत्व संख्या भी महत् परिमाण को उत्पन्न करती है। इस प्रकार 'बहुत्व' संख्या के कारण त्र्यणुक में महत्परिमाण आ जाता है। त्र्यणुक से आगे जो कार्य (वस्तु) उत्पन्न होता है उसका परिमाण त्र्यणुक के परिमाण से उत्पन्न होता है क्योंकि त्र्यणुक का परिमाण महत् है और उस महत् परिमाण से महत्तर परिमाण उत्पन्न होता है और इसके बाद फिर कारण

के परिमाण से कार्य का परिमाण उत्पन्न होता है, और यह नियम कि कारण के गुण से कार्य के गुण उत्पन्न हों, लागू हो जाता है।

इस प्रकार यह बताया गया कि अणु परिमाण कारण नहीं है अर्थात् वह किसी का भी कारण नहीं। क्योंकि 'अणु' कारण होते हैं इसलिये स्वाभाविक रूप से यह ध्यान आता है कि अणु का परिमाण भी अणु के कार्य के परिमाण का कारण होगा, उस भ्रम को दूर करने के लिये विशेष रूप से यह कहना पड़ा कि अणु परिमाण किसी का कारण नहीं, परन्तु ध्यान देने से पता चलता है कि कुछ अन्य भी ऐसे पदार्थ हैं जो कभी भी किसी के कारण नहीं होते। इसलिये कहते हैं :-

सि० मु० — एवं परममहत्परिमाणमतीन्द्रियसामान्यं विशेषाश्च बोध्याः।

अनु०—इसी प्रकार परममहत्परिमाण (जो आकाश, काल, दिक् और आत्मा में रहता है) तथा अतीन्द्रिय❀ सामान्य (अर्थात् ऐसी जाति जिस का प्रत्यक्ष न होता हो जैसे, 'मनस्त्व' जाति) और विशेष पदार्थ, यह भी किसी का कारण नहीं होते।

व्याख्या:— महत्परिमाण दो प्रकार का होता है एक महत् और दूसरा परम महत्परिमाण। परम महत्परिमाण सर्वव्यापक (all-pervading) परिमाण है, क्योंकि सर्वत्र रहने वाले सर्वव्यापक आकाश आदि द्रव्यों का परिमाण भी सर्वव्यापक ही होगा। आकाश आदि नित्य द्रव्य हैं, उनसे कोई कार्य द्रव्य तो उत्पन्न होता ही नहीं। इसलिये उनके परिमाण से किसी कार्य का परिमाण उत्पन्न हो यह तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता, इसलिए परम महत् परिमाण भी अकारण ही माना जाता है अर्थात् वह किसी का कारण नहीं होता।

इसके सिवाय प्रत्यक्ष योग्य जो सामान्य हैं वे तो अपने प्रत्यक्ष में कारण होते हैं, जैसे 'अयं घटः' (यह घड़ा है) इस प्रत्यक्ष में घटत्व जाति का भी

❀अतीन्द्रिय—अर्थात् जो इन्द्रियों से परे हो अर्थात् जिसका प्रत्यक्ष न होता हो।

प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष योग्य सामान्यों को अकारण नहीं कहा जा सकता परन्तु जो सामान्य (जैसे मनस्त्व) प्रत्यक्ष के अयोग्य अर्थात् अतीन्द्रिय हैं उनका प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये वे भी किसी के कारण नहीं होते ।

इसी प्रकार विशेष पदार्थ माना गया है। वह नित्य है, उससे कोई कार्य तो उत्पन्न होता ही नहीं। उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होता, इसलिये वह प्रत्यक्ष का भी कारण नहीं अर्थात् किसी का भी कारण न होने से वह भी अकारण है।

इस पर यह शङ्का होती है कि:—

(१) यद्यपि उपर्युक्त चारों पदार्थों अर्थात् (i) अणु परिमाण, (ii) परम महत्परिमाण, (iii) अतीन्द्रिय जाति और (iv) विशेषों का हम लोगों को प्रत्यक्ष नहीं होता, पर योगी तो सर्वज्ञ होते हैं उन्हें तो इनका प्रत्यक्ष अवश्य होता है और इस प्रकार योगी के प्रत्यक्ष में यह चारों पदार्थ कारण हो जायेंगे फिर यह अकारण कैसे हो सकते हैं ?

(२) न्याय-वैशेषिक शास्त्र में अलौकिक प्रत्यक्ष भी माना गया है जिसके लिये सन्निकर्ष (अर्थात् इन्द्रिय और वस्तु का सम्बन्ध) भी अलौकिक माना गया है। इस सन्निकर्ष का पूरा वर्णन तो आगे आयेगा परन्तु यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक है कि अग्नि की धूम के साथ व्याप्ति है अर्थात् जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है। इस नियम को जानने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हमें संसार के सारे धूमों का अनुभव हो और उनके साथ हम नियत रूप से अग्नि को देखें। साधारणतया लोक में यह होता नहीं कि कोई भी साधारण मनुष्य सारे धूमों का अनुभव कर सके, इसलिये यह माना गया है कि 'धूमत्व' रूप अलौकिक सन्निकर्ष होता है जिससे सारे धूमों की उपस्थिति अलौकिक ढंग से हो जाती है। इस प्रकार अलौकिक सन्निकर्ष के लिये कोई भी साधारण (सामान्य) धर्म ले लेते हैं। जिसको अलौकिक सन्निकर्ष के रूप में लेकर उससे सारे पदार्थों की उपस्थिति हो जाती है। यहाँ पर 'सामान्य' का अर्थ जाति नहीं है प्रत्युत कोई साधारण धर्म (Common

attribute) सामान्य कहा जा सकता है। इस प्रकार अलौकिक सन्निकर्ष के मामले में अणु परिमाण, परम महत्परिमाण, अतीन्द्रिय सामान्य और विशेष भी कभी सन्निकर्ष का स्वरूप धारण कर सकते हैं उदाहरणार्थ 'परमाणु अणु परिमाण वाला है' इस ज्ञान के बाद 'सब परमाणु अणु परिमाण वाले हैं' इस प्रकार सामान्यलक्षण द्वारा सब परमाणुओं के अणु परिमाण युक्त होने का ज्ञान होता है, उस अलौकिक ज्ञान में 'परमाणु-परिमाण' ही सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष बनता है अतएव अणुपरिमाण कारण है। ऐसी दशा में अणु परिमाण आदि को अकारण कैसे कहा जा सकता है।

(३) इसके सिवाय अनुमिति ज्ञान में अग्नि का ज्ञान धूम से होता है अर्थात् धूम को अग्नि का लिङ्ग (चिन्ह या हेतु) माना जाता है। इस प्रकार धूम अग्निज्ञान का कारण है। यह भी तो हो सकता है कि यह अणुपरिमाण आदि चारों पदार्थ भी किसी अनुमिति में लिङ्ग हों अर्थात् इनसे कोई अनुमति हो, जैसे कि 'परमाणु द्रव्य है अणुपरिमाण वाला होने से' इस अनुमान में 'अणुपरिमाण' हेतु है अर्थात् कारण है, इसी प्रकार परममहत्परिमाण आदि भी अनुमिति में कारण हो सकते हैं। फिर इनको अकारण कैसे कहा जा सकता है। इन सब प्रश्नों का उत्तर देते हैं:—

सि० मु०—इदमपि योगिप्रत्यक्षे विषयस्य न कारणत्वम्, ज्ञायमानसामान्यं न प्रत्यासत्तिः ज्ञायमानं लिङ्गं नानुमिति-करणमित्यभिप्रायेणोक्तम्।

अनु०—यह बात भी (कि ये चारों अकारण हैं) इस अभिप्राय से (अर्थात् इस सिद्धान्त के अनुसार) कही गई है कि योगी के प्रत्यक्ष में विषय कारण नहीं होता और ज्ञायमान (जाना जाता हुआ) सामान्य (अलौकिक) सन्निकर्ष (प्रत्यासत्ति = सन्निकर्ष) नहीं है (प्रत्युत सामान्य का ज्ञान सन्निकर्ष है) तथा ज्ञायमान लिङ्ग अनुमिति का कारण नहीं है। प्रत्युत लिङ्ग का ज्ञान अनुमिति का करण है।

व्याख्याः—(१) योगी लोग भूत भविष्य और वर्त्तमान काल में रहने

वाले तथा सारे विश्व में विद्यमान पदार्थों का साक्षात्कार कर सकते हैं। जब वे 'भूत' या 'भविष्य' पदार्थों का जिनका अस्तित्व भी नहीं, प्रत्यक्ष कर सकते हैं तो यह मानना ही पड़ेगा कि योगियों के प्रत्यक्ष में विषय कारण होता ही नहीं। उस वस्तु के बिना भी उन्हें उसका प्रत्यक्ष हो सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार योगियों के अणु परिमाण आदि के प्रत्यक्ष में भी अणु परिमाण आदि कारण नहीं होंगे और इसी सिद्धान्त को मानकर इन पदार्थों को यहां अकारण बताया गया है।

(२) इसी प्रकार साधारणतया यह मान लिया जाता है कि सामान्य धर्म अलौकिक सन्निकर्ष बन जाता है जब वह सामान्य धर्म जाना जाता है अर्थात् ज्ञायमान होता है, तो वही सन्निकर्ष होता है, परन्तु नव्यनैयायिक इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि *'ज्ञायमान सामान्य'* सन्निकर्ष का स्वरूप नहीं है अपितु *'सामान्य का ज्ञान'* सन्निकर्ष स्वरूप है। इसके अनुसार अलौकिक प्रत्यक्ष में *'सामान्य'* कारण नहीं होता प्रत्युत *'सामान्य का ज्ञान'* ही कारण होता है। इस प्रकार 'अणु-परिमाण' आदि अलौकिक सन्निकर्ष के रूप में भी कारण नहीं होते।

(३) इसी प्रकार अनुमिति स्थल में भी यही कहा जा सकता है कि *'ज्ञायमान लिङ्ग'* अनुमिति का कारण नहीं, प्रत्युत *'लिङ्ग का ज्ञान'* अनुमिति का कारण है और यदि ज्ञायमान लिङ्ग अनुमिति का कारण नहीं तो यदि अणु-परिमाण आदि किसी अनुमिति में लिङ्ग हों तो भी वे कारण नहीं होंगे प्रत्युत उनका ज्ञान ही कारण होगा। इस प्रकार वे सर्वथा अकारण ही हैं और इसमें कोई दोष नहीं आता।

इसके आगे परममहत्-परिमाण को भी अकारण; माना गया है उसके विषय में कहते हैं :—

सि० मु०— आत्ममानसप्रत्यक्षे आत्ममहत्त्वस्य कारणत्वान्महत्परिमाणं कालादेर्बोध्यम्। तस्यापि न कारणत्वमित्याचार्याणामाशय इत्यन्ये, तन्न, ज्ञानातिरिक्तं प्रत्येवा-

कारणताया आचार्यैरुक्तत्वात् ।

अनु०— आत्मा के मानस प्रत्यक्ष में (आत्मा के) परममहत्परिमाण के कारण होने से यहां परममहत्परिमाण काल आदि का समझना चाहिये । कुछ लोग कहते हैं कि आचार्य (उदयनाचार्य) का तात्पर्य है कि वह (अर्थात् आत्मा का महत्परिमाण) भी कारण नहीं होता, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान से भिन्न वस्तुओं के प्रति ही अकारणता आचार्य ने कही है (अर्थात आत्मा का परममहत्परिमाण आत्मा के मानस प्रत्यक्ष में, आचार्य के अनुसार भी कारण है ही) ।

व्याख्या:— न्याय-वैशेषिक शास्त्र में आत्मा का प्रत्यक्ष माना गया है । यद्यपि बाह्य इन्द्रियों से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु मनस् इन्द्रिय से आत्मा का प्रत्यक्ष माना गया है और प्रत्येक वस्तु के प्रत्यक्ष में उसके रूप, परिमाण आदि को कारण माना गया है इस प्रकार आत्मा के मानस प्रत्यक्ष में आत्मा का परममहत्परिमाण भी कारण होगा इसलिये यहाँ जिस परम-महत्परिमाण को अकारण कहा गया है वह आकाश, काल और दिक् का परम महत्परिमाण समझना चाहिये जो कि प्रत्यक्ष में कभी भी कारण नहीं होता, क्योंकि आकाश आदि का प्रत्यक्ष ही नहीं माना जाता ।

कोई कोई लोग कहते हैं कि उदयनाचार्य ने अपने किरणावली नामक ग्रन्थ में सभी परम-महत्परिमाणों को – अर्थात् आत्मा के भी परममहत्परिमाण को, अकारण माना है । परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि उदयनाचार्य ने वहां ज्ञान को छोड़कर अन्य वस्तुओं के प्रति अकारणता को कहा है और ज्ञान को छोड़कर अन्य किसी का कारण आत्मा का परममहत्परिमाण भी नहीं ही है, परन्तु आत्मा के मानस प्रत्यक्ष में तो आत्मा के परममहत्परिमाण को कारण मानना ही पड़ेगा, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का परिमाण उसके प्रत्यक्ष में कारण है यह नियम है ।

सि० मु०— ननु कारणत्वं किम् ? अत आह—

का०— अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता ।

कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम् ॥१६
समवायिकारणत्वं ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ॥
एवं न्यायनयज्ञैस्तृतीयमुक्तं निमित्तहेतुत्वम् ॥१७

सि० मु०– तस्य कारणत्वस्य ।

अनु०-प्रश्न होता है कि 'कारणत्व' क्या है ? इसलिये उत्तर देते हैं— अन्यथासिद्धि से शून्य नियम से पूर्व रहने वाला कारण होता है, उसके तीन प्रकार हैं अर्थात (i) समवायिकारण, (ii) असमवायिकारण, और न्यायसिद्धान्त (नय) के जानने वालों ने तीसरा (iii) निमित्तकारण कहा है ।

यहां उपर्युक्त कारिका में 'तस्य' का अर्थ है 'कारणत्व के' (तीन प्रकार होते हैं) ।

व्याख्याः— ऊपर साधर्म्य बताते हुये पदार्थों के विषय में कारण और अकारण होने की चर्चा हुई है, इसलिये इस अवसर पर प्रश्न होता है कि कारण का लक्षण क्या है ? और उसके विभाग किस प्रकार हैं ? उसी का उत्तर १६वीं, १७वीं कारिका में दिया गया है। यहां 'कारणत्व' का लक्षण यह किया है कि 'अन्यथासिद्धिशून्य वस्तु का नियम से, अर्थात् प्रत्येक स्थल पर, विना व्यभिचार के, पूर्ववर्त्ती' होना कारणता है । दूसरे शब्दों में जो अन्यथासिद्धिशून्य हो और नियम से पूर्ववर्त्ती हो वह कारण होता है । इस लक्षण पर सूक्ष्म दृष्टि से ध्यान देना आवश्यक है :—

(१) कारण के स्वरूप के विषय में सबसे पहिली बात यह है कि वह कार्य का पूर्ववर्त्ती हो यह आवश्यक है 'पूर्ववर्तिता' के विना कारण का स्वरूप सोचा ही नहीं जा सकता ।

(२) परन्तु 'पूर्ववर्तिता' यद्यपि कारण में अवश्य रहती है पर 'अकारण' में भी हो सकती है । कभी घट बनाने के लिये मिट्टी यदि गधे पर लाद कर लायी जाय तो वह गधा भी घट का पूर्ववर्त्ती हुआ, परन्तु फिर भी गधे को

घट का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह हो सकता था कि मिट्टी कोई आदमी अपने सिर पर ले आये, इसलिये कारण के लक्षण में 'पूर्ववर्त्ती' के साथ 'नियत' शब्द जोड़ा अर्थात जो नियम से प्रत्येक दशा में (बिना व्यभिचार के) पूर्ववर्त्ती हो, यह स्पष्ट है कि गधा पूर्ववर्त्ती होने पर भी नियम से पूर्ववर्त्ती नहीं होता अर्थात् नियत पूर्ववर्त्ती नहीं कहा जा सकता अतएव कारण के लक्षण में 'पूर्ववर्त्ती' के साथ 'नियत' शब्द डालना भी आवश्यक है।

(३) परन्तु फिर भी कुछ ऐसे स्थल हैं जहां लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है अर्थात् जो कारण न होने पर भी नियत पूर्ववर्त्ती हैं जैसे घट का 'दण्ड' कारण है और वह नियत पूर्ववर्त्ती है पर उसके नियत पूर्ववर्त्ती होने के साथ साथ यह स्पष्ट है कि 'दण्डत्व' भी नियत पूर्ववर्त्ती होगा, क्योंकि 'दण्ड' बिना 'दण्डत्व' के हो ही नहीं सकता परन्तु 'दण्डत्व' घट का कारण नहीं, और कारण न होने पर भी वह पूर्ववर्त्ती है इसलिये लक्षण में दोष आ गया, इस अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये लक्षण में 'अन्यथा-सिद्धिशून्यस्य' यह जोड़ा गया। आगे चलकर अन्यथा सिद्ध पदार्थों का स्वरूप बताया गया है अर्थात् जिनको किसी पदार्थ के उत्पन्न होने में कम से कम वस्तु जिनके मानने से कार्य उत्पन्न हो जावे और जिन्हें निश्चित रूप से अर्थात् नियत रूप से, या अनिवार्य रूप से मानना पड़ता है उनके अतिरिक्त ऐसे नियत पूर्ववर्त्ती पदार्थ, जिनका नियत पूर्ववर्त्ती होना अन्य किसी के नियत पूर्ववर्त्ती होने आदि कारण से हो उन सबको अन्यथासिद्ध कहा गया है। इसलिये कारण के लक्षण में यह डाल दिया कि जो अन्यथासिद्धि से शून्य हो, अर्थात् जो अन्यथा सिद्ध न हो। 'दण्डत्व' घट के प्रति नियत पूर्ववर्त्ती होने पर भी 'अन्यथा सिद्ध' है इसलिये वह कारण नहीं हो सकता।

इस प्रकार कारण का लक्षण यह हुआ कि जो अन्यथा सिद्ध न होने पर नियत पूर्ववर्त्ती हो वह कारण है। इसी को भाववाचक बनाकर इस प्रकार कह देते हैं कि '*अन्यथा सिद्धि की शून्यता होने पर जो नियत पूर्ववर्त्ती होना है वही कारणता है*' (अन्यथासिद्धिशून्यत्वे सति

नियतपूर्ववर्त्तित्वं कारणत्वम्)।

इसके बाद यह बताया कि कारण तीन प्रकार के होते हैं। उन तीनों प्रकार के कारणों का लक्षण अगली कारिका में किया गया है।

१६ वीं कारिका की व्याख्या में सिद्धान्तमुक्तावली टीका में केवल इतना ही कहा है कि 'तस्य' का अर्थ है 'कारणत्व'।

इसके आगे तीनों प्रकार के कारणों के लक्षण करते हैं:—

का० यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिजनकं तत्।
तत्रासन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं स्यात्॥१८

अनु०— जिसमें समवेत होता हुआ (अर्थात समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ) कार्य उत्पन्न हो उसे समवायिकारण जानना चाहिये। उस (समवायि-कारण) में जो आसन्न हो और कारण हो वह द्वितीय (अर्थात् असमवायि-कारण) है और इन दोनों से भिन्न तृतीय (अर्थात् निमित्त कारण) होता है।

व्याख्या:— जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ कार्य उत्पन्न हो वह उस कार्य का अर्थात् अपने में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले कार्य का *'समवायिकारण'* होता है। न्याय-वैशेषिक शास्त्र के *कारणवाद* के अनुसार तन्तुओं में 'पट' नामक कार्य *उत्पन्न* होता है। साँख्य के *परिणामवाद* के अनुसार न्याय-वैशेषिक यह नहीं मानता कि तन्तु ही पट के रूप में बदल जाते हैं। प्रत्युत न्याय-वैशेषिक के अनुसार *कारण तन्तु भी बने रहते हैं और एक नयी वस्तु 'पट' और उत्पन्न हो जाती है जो पहिले नहीं थी* अर्थात् 'तन्तु' और 'पट' दो भिन्न भिन्न वस्तु हैं जिनमें से 'पट' तन्तुओं में ही रहता है अर्थात् तन्तुओं के विना कभी नहीं पाया जाता। इसलिये तन्तुओं और पट का समवाय सम्बन्ध माना जाता है। तन्तुओं में पट समवाय सम्बन्ध से रहता है इसलिये 'तन्तु' *'समवायी'* है और 'पट' उनमें *'समवेत'* है। इस प्रकार कार्य अपने कारण में समवेत होता है। इसलिये कारण का लक्षण यह किया गया कि *जिसमें कार्य समवेत हो वह 'समवायिकारण'* होता है।

आलोचना:–यहाँ न्याय-वैशेषिक के कारणवाद का सांख्य के कारणवाद से अन्तर भली भांति समझ लेना चाहिये। सांख्य के अनुसार 'तन्तु' ही 'पट' के रूप में बदल जाते हैं। 'तन्तु' और 'पट' दो सर्वथा भिन्न भिन्न वस्तु नहीं, किन्तु पट तन्तुओं की ही अवस्था विशेष है अर्थात् जो पहिले तन्तु थे वे ही पट की अवस्था में आ गये। इसको '*सत्कार्यवाद*' कहते हैं, क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार पट कोई सर्वथा नयी वस्तु नहीं है प्रत्युत 'तन्तु' ही पट के रूप में बदल गये हैं। इसीलिये इसे '*परिणामवाद*' या '*विकारवाद*' भी कह सकते हैं, क्योंकि तन्तुओं का पट के रूप में परिणाम या विकार हुआ है। 'परिणाम' 'परिवर्तन' (change) वस्तुतः साँख्य के मत में ही सम्भव है। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक के अनुसार तन्तु पट के रूप में नहीं बदलते प्रत्युत तन्तु स्वयं भी बने रहते हैं और उन तन्तुओं में तन्तुओं के साथ साथ रहने वाली एक नई वस्तु उत्पन्न होती है जिसे 'पट' कहते हैं और वह तन्तुओं में 'समवाय सम्बन्ध' से रहती है। जब यह कहा जाता है कि 'तन्तुओं से पट उत्पन्न हुआ' तो न्याय के अनुसार इसका यह अर्थ होता है कि तन्तुओं में पट उत्पन्न हुआ (cloth produced *in* the threads) न कि तन्तुओं के *द्वारा* पट उत्पन्न हुआ (cloth is not produced *out of* threads) अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि तन्तु पट के रूप में बदल गये क्योंकि पट के उत्पन्न होने के बाद तन्तु भी विद्यमान हैं, इस प्रकार पट एक नयी वस्तु उत्पन्न हो गयी। न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार एक *नयी वस्तु* उत्पन्न होती है जो *पहिले न थी*, इसलिये इस सिद्धान्त को '*आरम्भवाद*' (नयी वस्तु के उत्पन्न होने का मत) अथवा '*असत्कार्यवाद*' (जो सर्वथा न थी उसके उत्पन्न होने का मत) कहते हैं।

असमवायिकारण और निमित्तकारण का लक्षण और स्वरूप आगे टीका में दिखाया गया है इसलिये कारिका की व्याख्या में उसे समझाने की आवश्यकता नहीं।

सि० मु०— तत्र समवायिकारणे आसन्नं प्रत्यासन्नं

कारणं द्वितीयमसमवायिकारणमित्यर्थः ।

अनु० :— 'तत्र' उसमें अर्थात् समवायिकारण में जो आसन्न अर्थात् प्रत्यासन्न (दूसरे के साथ रहता हुआ) हो और जो कारण हो वह द्वितीय अर्थात् 'असमवायिकारण' होता है, ऐसा अर्थ हुआ ।

व्याख्या:— असमवायिकारण का लक्षण यह है कि 'जो समवायिकारण में प्रत्यासन्न हो अर्थात् कार्य के साथ साथ रहता हो वह असमवायिकारण है । जैसे पट का समवायि-कारण तन्तु है और 'तन्तुओं का परस्पर संयोग' असमवायिकारण है क्योंकि तन्तुओं के संयोग होने पर ही पट उत्पन्न होता है । तन्तुसंयोग में पट के असमवायिकारण होने का लक्षण इस प्रकार घटता है कि पट के समवायिकारण हैं— 'तन्तु', उन तन्तुओं में तन्तुसंयोग रहता है क्योंकि 'तन्तु संयोग' गुण है वह अपने आधारभूत द्रव्य अर्थात् तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है । परन्तु लक्षण में केवल 'रहना मात्र' (वृत्तिमात्र) नहीं कहा गया, प्रत्युत 'साथ-साथ रहना' अर्थात् अपने कार्य के साथ-साथ रहना कहा गया हैं । असमवायिकारण का कार्य यहां 'पट' है और वह भी 'तन्तुओं' में रहता है क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है तन्तु उस पट के समवायिकारण हैं और अपने समवायिकारण में कार्य समवाय सम्बन्ध से रहा करता है । इस प्रकार 'पट' अपने समवायिकारण तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहेगा । इस प्रकार तन्तुओं में असमवायिकारण तन्तुसंयोग और असमवायिकारण का कार्य पट दोनों ही साथ साथ रहते हैं अर्थात् प्रत्यासन्न हैं । इस प्रकार पट के समवायिकारण तन्तु में पट और उसके असमवायिकारण 'तन्तु संयोग' दोनों के साथ साथ रहने अर्थात् '*प्रत्यासन्न*' होने से "*जो समवायिकारण में कार्य के साथ २ रहता हो* (प्रत्यासन्न हो)" यह असमवायिकारण का लक्षण पट के असमवायिकारण तन्तुसंयोग में ठीक ठीक घट गया ।

न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में पट का समवायिकारण तन्तु और असमवायिकारण तन्तुसंयोग है, परन्तु न्याय-वैशेषिक के अनुसार द्रव्य और गुण

पृथक् पृथक् वस्तु हैं। पट से पटरूप भिन्न वस्तु। पटरूप के कारण क्या क्या हैं? पटरूप का समवायिकारण तो पट ही होगा, यह कारिका सं० १४ की व्याख्या में बताया जा चुका है। परन्तु पटरूप का असमवायिकारण कौन होगा? पटरूप का असमवायिकारण 'तन्तुरूप' को माना गया है परन्तु तन्तुरूप में उपर्युक्त असमवायिकारण का लक्षण नहीं घटता, क्योंकि समवायिकारण में कार्य के साथ-साथ रहने वाला असमवायिकारण होता है। यहां पटरूप कार्य के असमवायिकारण पर विचार है उस पटरूप का समवायिकारण पट है। इसलिये पट में रहने वाला कोई धर्म असमवायिकारण होना चाहिये, न कि तन्तुओं में रहने वाला धर्म 'तन्तुरूप'। इसलिए यह लक्षण पटरूप के असमवायिकारण 'तन्तुरूप' में नहीं घटता है। अतः असमवायिकारण के लक्षण का परिष्कृतरूप आगे दिखाया जायगा। परन्तु उससे पूर्व यहां पर असमवायिकारण के लक्षण में जो अतिव्याप्ति दोष आता है, उसके विषय में समाधान किया जाता है:-

सि० मु०— अत्र यद्यपि तुरीतन्तुसंयोगानां पटासमवायिकारणत्वं स्यात्। एवं वेगादीनामभिघाताद्यसमवायिकारणत्वं स्यात्। एवं ज्ञानादीनामपीच्छाद्यसमवायिकारणत्वं स्यात्। तथापि पटासमवायिकारणलक्षणे तुरीतन्तुसंयोगभिन्नत्वं देयम्। तुरीतन्तुसंयोगस्तु तुरीपटसंयोगं प्रत्यसमवायिकारणं भवत्येव। एवं वेगादिकमपि वेगस्पन्दाद्यसमवायिकारणं भवत्येवेति तत्तत्कार्यासमवायिकारणलक्षणे तत्तद्भिन्नत्वं देयम्। आत्मविशेषगुणानां तु कुत्राऽप्यसमवायिकारणत्वं नास्ति तेन तद्भिन्नत्वं सामान्यलक्षणे देयमेव।

अनु०:— यहां (असमवायिकारण के उपर्युक्त लक्षण के अनुसार) तुरीतन्तुसंयोग भी पट के असमवायिकारण होंगे (जो कि वस्तुतः नहीं हैं)। इसी प्रकार वेग आदि भी अभिघात (संयोग विशेष) आदि के असमवायिकारण

होंगे। तथापि (दोष इस प्रकार दूर होजायगा कि) पट के असमवायिकारण के लक्षण में 'तुरीतन्तुसंयोगभिन्न' यह अंश दे दिया जाय। और क्योंकि तुरीतन्तुसंयोग भी तुरीपटसंयोग के प्रति तो असमवायिकारण होता ही है, इसी प्रकार वेग इत्यादि भी वेगजन्य क्रिया आदि के असमवायिकारण होते ही हैं, इसलिये उस उस वस्तु के असमवायिकारण के लक्षण में उस उस वस्तु से भिन्न होना (अर्थात् जिसमें असमवायिकारण न होने पर भी उसका लक्षण घटता हो, उससे भिन्न होना) दे देना चाहिये। परन्तु आत्मा के विशेष गुण (ज्ञान आदि) तो कहीं भी असमवायिकारण नहीं होते, इसलिये 'उनसे (अर्थात् ज्ञानादि से) भिन्न होना' तो (असमवायिकारण के) सामान्य लक्षण में ही दे देना चाहिए।

व्याख्या :— जिस प्रकार तन्तु में तन्तुसंयोग रहते हैं, उसी प्रकार तन्तु में तुरीतन्तुसंयोग भी रहता है। क्योंकि संयोग इस प्रकार का गुण है कि वह उन दोनों ही द्रव्यों में रहता है, जिनका कि संयोग होता है। इसलिए 'तुरीतन्तुसंयोग' नामक गुण तुरी में भी रहेगा और तन्तु में भी। और तन्तु में रहने के कारण वह पट का प्रत्यासन्न भी हो गया, क्योंकि जिस प्रकार तन्तु में तन्तुसंयोग और पट साथ साथ रहते हैं उसी प्रकार तुरीतन्तुसंयोग और पट भो साथ साथ रहते हैं। इसलिये पट के असमवायिकारण का लक्षण 'तुरीतन्तुसंयोग' में भी चला जायगा। किन्तु तुरीतन्तुसंयोग को पट का असमवायिकारण माना नहीं जाता। इस प्रकार लक्षण की अतिव्याप्ति हुई। यहां पर यह भी बतला देना आवश्यक है कि क्यों 'तुरीतन्तुसंयोग' को पट का असमवायिकारण नहीं मानते। यह नियम है कि जैसे समवायिकारण के नाश से कार्य का नाश होता है (अर्थात् तन्तुओं के नाश से पट का नाश हो जायगा), वैसे ही असमवायिकारण (गुण) के नाश से भी कार्य का नाश होता है अर्थात् यदि 'तन्तुसंयोग' का नाश हो जाय तो पट कार्य का नाश हो जायगा। ऐसी दशा में यदि तुरीतन्तुसंयोग को असमवायिकारण मान लिया जाय तो तुरीतन्तुसंयोग के नाश से भी पट का नाश हो जायगा। परन्तु यह बात अनुभव के विरुद्ध है। इसलिये तुरीतन्तु-

संयोग को पट का असमवायिकारण नहीं माना जाता। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि 'तुरीतन्तुसंयोग' भी पट का निमित्त कारण है।

इसी प्रकार वेग में 'अभिघात' के असमवायिकारण का लक्षण चला जायगा। अभिघात और 'नोदन' दो प्रकार के संयोग होते हैं। जब एक वेगयुक्त वस्तु दूसरी वस्तु से संयुक्त होती है, जैसे वेगयुक्त गेंद भूमि से संयुक्त हो, तो उनका संयोग इस प्रकार होता है कि उस संयोग से शब्द उत्पन्न होता है और संयोग के बाद उन दोनों का अर्थात् भूमि और गेंद का परस्पर विभाग भी होता है। इस प्रकार के संयोग को 'अभिघात' कहते हैं। परन्तु इसके विपरीत जिस संयोग के बाद शब्द न हो और न दोनों का परस्पर विभाग ही हो, उस संयोग को 'नोदन' कहते हैं। यहां अभिघात नामक संयोग के समवायिकारण भूमि और गेंद दोनों ही हैं। उनमें से गेंद में 'अभिघात' नामक संयोग, जो कि कार्य है, और उसके साथ साथ 'वेग' नामक गुण विद्यमान है। अतएव लक्षण के अनुसार यह भी असमवायिकारण होगा, यद्यपि उसे अभिघात का असमवायिकारण नहीं माना जाता। इसी प्रकार 'वेग आदि' में 'आदि' पद से 'स्पर्श' और 'अभिघात आदि' में 'आदि' पद से 'नोदन' संयोग लेते हैं। और 'नोदन' संयोग का संयोग के आश्रय में रहने वाला 'स्पर्श' असमवायिकारण होगा (जो कि वस्तुतः नहीं माना जाता)।

इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान के बाद इच्छा होती है और इच्छा के बाद प्रवृत्ति होती है। क्योंकि ज्ञान और इच्छा साथ २ इच्छा के समवायिकारण आत्मा में रहते हैं, इसलिये इच्छा का असमवायिकारण 'ज्ञान' होगा। परन्तु ज्ञान को इच्छा का असमवायिकारण नहीं मानते। इसी प्रकार इच्छा भी प्रवृति का असमवायिकारण होगी, क्योंकि दोनों साथ साथ आत्मा में रहते हैं। किन्तु इच्छा को भी प्रवृत्ति का असमवायिकारण नहीं माना जाता, प्रत्युत निमित्त कारण ही माना जाता है।

इन तीनों स्थलों की अतिव्याप्ति का समाधान देते हैं। इनमें से तुरी-तन्तुसंयोग यद्यपि पट का असमवायिकारण नहीं है, तथापि 'तुरीतन्तु-

संयोग' 'तुरीपटसंयोग' का असमवायिकारण माना जाता है— क्योंकि तन्तुओं में पट उत्पन्न होने पर उस पट के साथ भी जो तुरी का संयोग होता है उसका असमवायिकारण 'तुरीतन्तुसंयोग' ही है। न्याय-वैशेषिक शास्त्र के अनुसार 'तुरी और तन्तु का संयोग' और 'तुरी और पट का संयोग' दो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं, क्योंकि इनमें पहिला तुरी और तन्तु में रहता है और दूसरा तुरी और पट में रहता है। इसीलिये यह माना जाता है कि संयोग से भी 'संयोग' उत्पन्न होता है, अर्थात् संयोगज भी संयोग होता है। इस प्रकार यह माना गया है कि तुरीपटसंयोग तुरीतन्तुसंयोग से उत्पन्न होता है, जो कि पहिले का असमवायिकारण है। इस प्रकार 'तुरीतन्तुसंयोग' सर्वथा ही असमवायिकारण न हो, यह नहीं कहा जा सकता। इसलिये केवल पट के असमवायिकारण के लक्षण में 'तुरीतन्तुसंयोग भिन्नता' देनी होगी। इसी प्रकार वेग भी यद्यपि 'अभिघात' का असमवायिकारण नहीं है, तथापि वेग से जो क्रिया उत्पन्न होती है उसका असमवायिकारण वह वेग ही होता है। क्योंकि यह माना जाता है कि किसी वस्तु में पहिली क्रिया तो प्रयत्नादि से होती है, फिर उसके बाद लगातार जो क्रिया उत्पन्न होती रहती है वह वेग से ही उत्पन्न होती है। जैसे, गेंद को जब फेंका जाता है तब पहिली फेंकने की क्रिया तो प्रयत्न से उत्पन्न हुई। उसके बाद लगातार गेंद में जो क्रिया उत्पन्न होती रहती है वह वेग से ही होती है। और, वेग तथा क्रिया दोनों क्रिया के समवायिकारण गेंद में विद्यमान हैं। इसलिये वेग क्रिया का असमवायिकारण माना जाता है। इस प्रकार वेग भी कहीं न कहीं असमवायि-कारण होता ही है। इसलिए 'वेगभिन्नता' भी केवल 'अभिघात' के असम-वायिकारण के लक्षण में दी जा सकती है, न कि असमवायिकारण के सामान्य लक्षण में। इसी प्रकार जिस जिस वस्तु में असमवायिकारण का लक्षण घट जाय उस से भिन्न होना उस उस कार्य के असमवायिकारण के लक्षण में देना होगा। परन्तु आत्मा के गुण ज्ञान, इच्छा आदि किसी के भी असमवायिकारण नहीं होते। इसलिये 'आत्मा के विशेष गुणों से भिन्न होना' यह तो असमवायिकारण के सामान्य लक्षण में ही दिया जा सकता है।

आलोचना:— इस प्रकार अतिव्याप्ति दोष का समाधान तो हो गया, परन्तु फिर भी यह दोष बना ही रहा कि ऐसा असमवायिकारण का सामान्य लक्षण सब जगह काम नहीं दे सकता। प्रत्युत जगह २ विशेष कार्यों के असमवायिकारण के लक्षण में कुछ अधिक अंश डालना पड़ता है, जिससे कि उन उन स्थानों पर लक्षण में अतिव्याप्ति न हो।

अब असमवायिकारण का सामान्यरूप से जो प्रारम्भ में लक्षण किया था कि 'जो समवायिकारण में प्रत्यासन्न अर्थात् कार्य के साथ साथ रहता हो' और उस लक्षण में जो दोष दिखाया था कि पटरूप के असमवायिकारण तन्तुरूप में वह लक्षण नहीं घटता, उसका समाधान करने के लिये अब उसी लक्षण का परिष्कार करते हैं:—

सि० मु०:— अत्र समवायिकारणे प्रत्यासन्नं द्विविधं कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या च। आद्यं यथा घटादिकं प्रति कपालसंयोगादिकमसमवायिकारणम्। तत्र कार्येण घटेन सह कारणस्य कपालसंयोगस्यैकस्मिन् कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति। द्वितीयं यथा घटरूपं प्रति कपालरूपमसमवायिकारणम्। तत्र स्वगतरूपादिकं प्रति समवायिकारणं घटः, तेन सह कपालरूपस्यैकस्मिन् कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति। तथा च क्वचित्समवायसम्बन्धेन क्वचित् स्वसमवायिसमवायसम्बन्धेनेति फलितोऽर्थः। इत्थञ्च (कार्यैकार्थकारणैकार्थान्यतरप्रत्यासत्त्या समवायिकारणे प्रत्यासन्नं कारणं ज्ञानादिभिन्नमसमवायिकारणमिति सामान्यलक्षणं पर्यवसन्नम्।)

अनु०:— यहां (असमवायिकारण के लक्षण के विषय में) समवायिकारण में (असमवायिकारण) दो प्रकार से प्रत्यासन्न होता है। एक तो (जिस के असमवायिकारण का विचार हो रहा है) उस कार्य के साथ

(असमवायिकारण की) एक अधिकरण में प्रत्यासत्ति, और दूसरी (जिसके असमवायिकारण का विचार हो रहा है उस कार्य के) समवायिकारण के साथ (असमवायिकारण की) प्रत्यासत्ति। पहली जैसे 'घट' आदि के प्रति 'कपाल संयोग' आदिक असमवायिकारण है। वहां कार्य 'घट' के साथ असमवायिकारण 'कपालसंयोग' की एक (अधिकरण अर्थात्) 'कपाल' में प्रत्यासत्ति है। दूसरी जैसे 'घटरूप' के प्रति 'कपालरूप' असमवायिकारण है। वहां पर अपने रूप (अर्थात् 'घटरूप') का समवायिकारण 'घट' है उस घट (अर्थात् जिस 'घटरूप' के असमवायिकारण का विचार है, उस घटरूप के समवायिकारण घट) के साथ ('घटरूप' के असमवायिकारण 'कपालरूप' की एक (अधिकरण। 'कपाल' में प्रत्यासत्ति है। इस प्रकार कहीं समवाय सम्बन्ध से और कहीं स्वसमवायिसमवाय सम्बन्ध से (प्रत्यासत्ति होती है), यह अर्थ निकला। इस प्रकार कार्य के साथ एक अधिकरण में प्रत्यासत्ति या कारण के साथ एक अधिकरण में प्रत्यासत्ति इन दोनों में से किसी भी प्रत्यासत्ति से समवायिकारण में प्रत्यासन्न कारण और जो ज्ञानादि भिन्न हो वह असमवायिकारण है, यह असमवायिकारण का सामान्य लक्षण अन्ततः सिद्ध हुआ।

व्याख्या:— 'प्रत्यासत्ति' का अर्थ है कि एक अधिकरण में दो वस्तुओं का साथ साथ रहना, यहां यह बतलाया गया कि एक अधिकरण में दो वस्तुओं का साथ साथ रहना दो प्रकार से हो सकता है। एक तो कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति अर्थात् (जिसके असमवायिकारण का विचार हो रहा है) वह अपने असमवायिकारण के साथ एक अधिकरण (अर्थ) में रहे। जैसे कि 'पट' का असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग', या 'घट' का असमवायिकारण 'कपालसंयोग' अपने कार्य पट या घट के साथ एक अधिकरण तन्तु या कपाल में साथ साथ रहते हैं, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। दूसरी प्रत्यासत्ति है कारणैकार्थप्रत्यासत्ति अर्थात् असमवायिकारण अपने कार्य के समवायिकारण के साथ एक अधिकरण (अर्थ) में रहे। ऊपर कहा गया है कि 'पटरूप का' असमवायिकारण 'तन्तुरूप' है, या घटरूप का असमवायिकारण कपालरूप है। यहां पर कार्य अर्थात् पटरूप

और उसका असमवायिकारण अर्थात् तन्तुरूप एक अधिकरण में साथ साथ नहीं रहते, क्योंकि 'कार्य'–पटरूप–'पट' में रहता है और 'असमवायिकारण'–तन्तुरूप— 'तन्तु' में रहता है। परन्तु पटरूप का 'समवायिकारण' जो 'पट' और पटरूप का "असमवायिकारण' जो 'तन्तुरूप', वे दोनों साथ साथ 'एक अधिकरण' अर्थात् 'तन्तु' में रहते हैं। इस प्रकार यहां पटरूप के असमवायिकारण तन्तुरूप की अपने कार्य अर्थात् पटरूप के समवायिकारण पट के साथ प्रत्यासत्ति है। अर्थात् वे दोनों— पट और तन्तुरूप —एक जगह अर्थात् तन्तु में साथ साथ रहते हैं। यह स्पष्ट ही है कि तन्तुरूप अपने द्रव्य 'तन्तु' में और पट अपने समवायिकारण 'तन्तु' में रहेगा। इस प्रकार तन्तु रूप और पट दोनों ही एक अधिकरण अर्थात् तन्तु में रहेंगे।

नोट— कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति और कारणैकार्थप्रत्यासत्ति को, जिसकी व्याख्या ऊपर की गई है, नीचे दिये गए मानचित्रों (diagrams) से भी स्पष्ट किया जा सकता है। पट के असमवायिकारण को समवायिकारण के साथ निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है:—
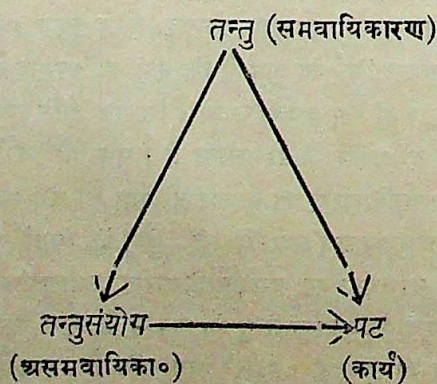
यहां 'तन्तु', 'पट' और 'तन्तुसंयोग' दोनों का समवायिकारण है, और 'तन्तुसंयोग' 'पट' का असमवायिकारण है। बाण(→) चिह्न कारण से कार्य को द्योतित करता है।

'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति' अर्थात् कार्य-पट, का अपने असमवायिकरण--तन्तुसंयोग, के साथ साथ एक अधिकरण--तन्तु में, (जो कि पट-कार्य का समवायिकारण भी है) रहना निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है :—
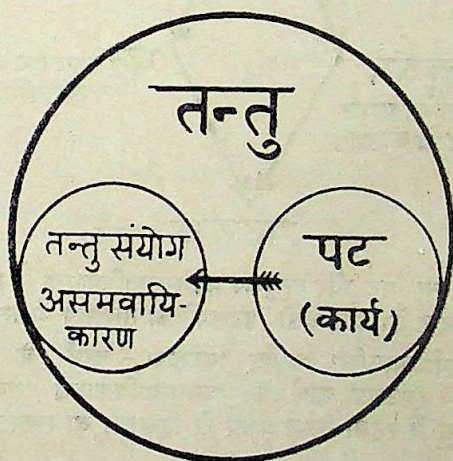
यहाँ 'तन्तु' नामक एकाधिकरण में 'पट' जो कि कार्य है वह, और उसका असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' दोनों साथ साथ रहते हैं। यद्यपि बड़े वृत्त के भीतर दो छोटे वृत्त, जो कि असमवायिकारण 'तन्तु-संयोग' और उसके कार्य 'पट' को प्रकट करते हैं, समझाने के लिए अलग अलग दिखाए गए हैं, तथापि वस्तुतः यह स्पष्ट है कि 'तन्तु-संयोग' और 'पट' की जगह अलग अलग नहीं हो सकती।

'पटरूप' के असमवायिकारण को उसके समवायिकारण के साथ निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है,—
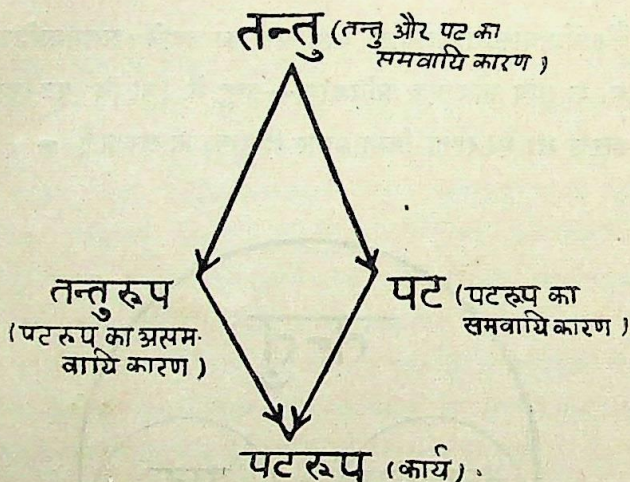
यहां पर तन्तु, पट और तन्तुरूप का समवायिकारण है। 'पट' 'पटरूप' का समवायिकारण है, और उसी 'पटरूप' का तन्तुरूप असमवायिकारण है।

'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति' अर्थात् 'पटरूप' – कार्य के समवायिकारण 'पट' के साथ (पटरूप-कार्य के) असमवायिकारण 'तन्तुरूप', का एक अधिकरण–तन्तु में रहना निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है —:
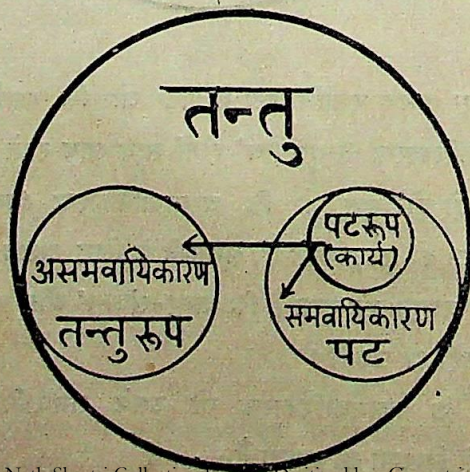
यहां यद्यपि 'पटरूप' भी 'तन्तु' के बड़े वृत्त के अन्दर आए हुए पट के वृत्त के अन्दर आजाने से तन्तु में रहता है, ऐसा प्रतीत होता है; तथापि वस्तुतः जो जिसमें साक्षात् रहता हो, वही उसमें रहने वाला माना जाता है। इस प्रकार पटरूप 'पट' में ही रहता है, न कि तन्तुओं में। यहां पर 'पटरूप'-कार्य, जिसके विषय में कारण का विचार है, अपने असमवायिकारण-तन्तु-रूप के साथ साथ एक अधिकरण में नहीं रहता, क्योंकि 'पटरूप' पट में रहता है और 'तन्तुरूप' तन्तु में रहता है। इसलिए यहाँ 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति' नहीं हो सकती। परन्तु प्रस्तुत कार्य अर्थात् 'पटरूप' का समवायिकारण-'पट' और 'पटरूप' का असमवायिकारण-'तन्तुरूप'- ये दोनों एक अधिकरण अर्थात् 'तन्तु' में साथ साथ रहते हैं। इसलिए 'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति है, अर्थात् पटरूप के 'समवायिकारण'-पट के साथ पटरूप के 'असमवायिकारण' तन्तुरूप की एक अधिकरण में प्रत्यासत्ति है।

यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि पहिले स्थल पर तो कार्य अर्थात् 'पट' की अपने असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' के साथ एक अधिकरण अर्थात् 'तन्तु' में प्रत्यासत्ति समवाय-सम्बन्ध से है, क्योंकि तन्तु में दोनों ही अर्थात् 'पट' और 'तन्तुसंयोग' समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। परन्तु दूसरे स्थल पर कार्य अर्थात् 'पटरूप' की अपने असमवायिकारण अर्थात् 'तन्तुरूप' के साथ 'स्वसमवायि-समवाय-सम्बन्ध' से प्रत्यासत्ति है। यहाँ 'स्व' अर्थात् पटरूप, उसका समवायी हुआ 'पट', उसका 'तन्तु' में समवाय है। इस प्रकार 'पटरूप' की 'स्वसमवायि-समवाय-सम्बन्ध' से तन्तुरूप के साथ प्रत्यासत्ति होती है।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। पहिले स्थल में कार्य अर्थात् 'पट' की अपने असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' के साथ अपने (अर्थात् पट के) समवायिकारण 'तन्तु' नामक एक अधिकरण में प्रत्यासत्ति है। परन्तु दूसरे स्थल पर कार्य 'पटरूप' है, उसके समवायिकारण- 'पट' की पटरूप के असमवायिकारण 'तन्तु रूप' के साथ अपने अर्थात् 'पटरूप' के समवायिकारण 'पट' में प्रत्यासत्ति नहीं है, प्रत्युत उस समवायिकारण

'पट' के समवायिकारण 'तन्तु' में प्रत्यासत्ति है, अर्थात् दूसरे स्थल पर समवायिकारण में न होकर समवायिकारण के समवायिकारण में प्रत्यासत्ति है। अतएव यहां समवायिकारण के समबायिकारण को भी 'समवायि-कारण' ही कहा गया है ऐसा समझना चाहिये*

अन्त में, असमवायिकारण का निष्कृष्ट सामान्य लक्षण यह निकला कि कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति और कारणैकार्थप्रत्यासत्ति में से किसी एक प्रत्यासत्ति से जो समवायिकारण (या समवायिकारण के समवायिकारण) में प्रत्यासन्न हो और जो कारण हो तथा ज्ञानादि से भिन्न हो, वह असमवायिकारण होता है। यह असमवायिकारण का सामान्य लक्षण है, पट आदि विशेष कार्य के असमवायिकारण के लक्षण में तुरीतन्तुसंयोग भिन्न आदि शब्द डालने पड़ते हैं, जैसा कि ऊपर कहा गया है। परन्तु आत्मा के विशेष गुण 'ज्ञानादि' कहीं भी असमवायिकारण नहीं होते, इसलिए उनसे भिन्न होना असमवायि-कारण के सामान्य लक्षण में ही डाल दिया गया।

आलोचना:— ऊपर यह बताया गया है कि 'समवाय' या 'स्वसमवायि-समवाय' इन दोनों में से किसी एक सम्बन्ध से कार्य और उसके असमवायि-कारण की एक अधिकरण में प्रत्यासत्ति होती है। 'स्वसमवायिसमवाय' सम्बन्ध का अर्थ अनेक टीकाकारों ने ऊपर जो अर्थ किया है उससे भिन्न अर्थ किया है। उनके अनुसार 'स्व' पद से तन्तुरूप लेना चाहिये, उसका समवायी तन्तु है और उस तन्तु में पट का समवाय है अर्थात् पट समवेत है। इस प्रकार 'स्वसमवायिसमवाय' अथवा 'स्वसमवायिसमवेतत्व' सम्बन्ध से तन्तुरूप पट में पहुंच जाता है। यद्यपि तन्तुरूप पट में कदापि नहीं रह सकता, तथापि एक असाक्षात् चक्करदार सम्बन्ध के द्वारा (अर्थात् तन्तुरूप का जो समवायी—तन्तु, उसमें पट रहता है. इस प्रकार) तन्तुरूप के साथ पट का सम्बन्ध हो गया। अर्थात् इस चक्करदार सम्बन्ध से तन्तुरूप

---

*समवायिकारण–समवायिकारणप्रत्यासन्नस्यापि परम्परया समवायिकारण-प्रत्यासन्नत्वात्–तर्कभाषा बम्बई संस्कृत एण्ड प्राकृत सिरीज़ पृष्ठ ३१

पट में रहता है, और उसी पट में पटरूप भी रहता है। इस प्रकार 'पटरूप' (कार्य) और उसका असमवायिकारण 'तन्तुरूप' दोनों पट में अर्थात् पटरूप (कार्य) के समवायिकारण में रह गए। और, इस प्रकार समवायिकारण में ही दोनों की प्रत्यासत्ति हो गई। परन्तु 'स्वसमवायिसमवाय' सम्बन्ध का यह अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि स्वयं ग्रन्थकार ने 'कारणैकार्थ-प्रत्यासत्ति' में 'एकार्थ', जिसमें दोनों की प्रत्यासत्ति होती है, 'कपाल' बताया है, न कि घट, और दूसरी बात यह है कि घट में कपालरूप या पट में तन्तुरूप किसी सम्बन्ध से लाना सर्वथा असङ्गत होगा, क्योंकि इस प्रकार तो कोई वस्तु भी कहीं लाई जा सकती है।

असली बात यह प्रतीत होती है कि 'समवायिकारणे प्रत्यासन्नम्' यह लक्षण केवल 'पट' के असमवायिकारण 'तन्तु संयोग' के लिये किया गया प्रतीत होता है। जब 'पटरूप' के असमवायिकारण 'तन्तुरूप' का प्रश्न आया तो इस लक्षण का अनेक प्रकार से परिष्कार किया गया। तर्कभाषा के रचयिता केशवमिश्र ने, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह माना कि समवायिकारण के समवायिकारण को भी 'समवायिकारण' कह सकते हैं। इस प्रकार तन्तु में तन्तुरूप प्रत्यासन्न है। परन्तु वह प्रत्यासत्ति 'कार्य' पट-रूप के साथ नहीं है, प्रत्युत उस पटरूप के समवायिकारण पट के साथ है। इस अंश को केशवमिश्र ने विशद नहीं किया। परन्तु यही बात विश्वनाथ ने सिद्धान्तमुक्तावली में विशद की है। पर विश्वनाथ ने 'कारण के साथ एकार्थ में प्रत्यासत्ति' कहते हुए भी 'समवायिकारणे' इस अंश को नहीं छोड़ा। इसलिये कठिनता उपस्थित हुई, क्योंकि वह 'एकार्थ' जिसमें 'तन्तुरूप' और पटरूप के कारण 'पट' दोनों की प्रत्यासत्ति है, 'तन्तु' है। किन्तु पटरूप का 'समवायिकारण' पट है — उस 'पट' में ही प्रत्यासत्ति होनी चाहिये। इसका समाधान हमारी व्याख्या में केशव मिश्र के अनुसार यह किया गया है कि 'समवायिकारण के समवायिकारण' (अर्थात् तन्तु) को भी इस जगह 'समवायिकारण' कहा जा सकता है। परन्तु सिद्धान्तमुक्तावली के अनेक टीकाकारों ने 'स्वसमवायिकारण' की ऊपर कही व्याख्या करके 'तन्तुरूप'

को पटरूप के समवायिकारण 'पट' में ही पहुंचा दिया, जैसा कि ऊपर बताया गया है। परन्तु वैसा करना असङ्गत प्रतीत होता है। इसी सारी कठिनता को लक्ष्य में रखकर तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट ने असमवायिकारण के लक्षण में 'समवायिकारणे' यह अंश ही उड़ा दिया। उनके अनुसार "कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति यत्कारणं तदसमवायि-कारणम्" यह लक्षण है, जो कि सर्वथा निर्दोष है।

सि० मु०:—आभ्यां समवायिकारणासमवायिकारणाभ्यां भिन्नं कारणं तृतीयं निमित्तकारणमित्यर्थः।

अनु०:— इन दोनों अर्थात् समवायिकारण और असमवायिकारण से भिन्न तृतीय अर्थात् निमित्तकारण होता है, यह अर्थ है।

व्याख्याः—पट का समवायिकारण तन्तु है और पट का असमवायिकारण तन्तु का संयोग है। इससे यह स्पष्ट है कि इन दोनों कारणों का परस्पर सम्बन्ध है, और ये दोनों प्रकार के कारण अन्यशास्त्रों में या व्यवहार में माने गये 'उपादानकारण' (material cause) या उसकी 'अवस्था-विशेष' को प्रकट करते हैं। इसके अतिरिक्त जितने अन्यकारण हैं—कर्त्ता, करण आदि अर्थात् घट-कार्य के विषय में उसका बनाने वाला कुम्हार या दण्ड आदि साधन जिनसे घट बनता है—वे सब 'निमित्तकारण' गिने जाएंगे। कोई भी कारण यदि वह समवायिकारण और असमवायिकारण नहीं है तो वह निमित्त-कारण माना जायगा। पिछली कारिका में असमवायिकारण का लक्षण करते हुए यह बताया गया था कि 'तुरीतन्तुसंयोग' पट का असमवायिकारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार वेग आदि अभिघात आदि के, तथा ज्ञान आदि इच्छा आदि के असमवायिकारण नहीं हो सकते। परन्तु वे सब निमित्तकारण माने जाते हैं। संक्षेप में समवायिकारण और असमवायिकारण से भिन्न, सभी कारण निमित्त कारण होते हैं।

सि० मु०—इदानीमन्यथासिद्धत्वमेव कियतां पदार्थाना-मत आह :—

कारिका०:- येन सह पूर्वभावः,

सि० मु०:— यत्कार्यं प्रति कारणस्य पूर्ववृत्तिता येन रूपेण गृह्यते, तत्कार्यं प्रति तद्रूपमन्यथासिद्धमित्यर्थः । यथा घटं प्रति दण्डत्वमिति ।

अनु०:— अब कौन कौन पदार्थ अन्यथासिद्ध होते हैं ? (यह प्रश्न है) इसलिये कहते हैं :—

जिस (रूप) के साथ कारण का (कार्य के प्रति) पूर्ववर्त्तित्व हो (वह रूप उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है)।

जिस कार्य के विषय में कारण का पूर्ववृत्तित्व (पूर्वभाव) जिस रूप से ग्रहण होता है, उस कार्य के प्रति वह रूप अन्यथासिद्ध होता है, यह अर्थ हुआ। जैसे घट के प्रति दण्डत्व (अन्यथासिद्ध है)।

व्याख्याः— जब यह कहा जाता है कि दण्ड घट का कारण है, तब प्रश्न यह होता है कि दण्ड किस रूप में घट का कारण है ? हम दण्ड को द्रव्य के रूप में, अथवा पृथ्वी के रूप में, अथवा दण्ड के रूप में ले सकते हैं। यह स्पष्ट है कि दण्ड घट का कारण 'दण्ड' के रूप में है। द्रव्य या पृथ्वी होने के रूप में नहीं। जब यह कहा जाता है कि 'न्यायाधीश' (जज) ने अपराधी को दण्ड दिया, तब यह स्पष्ट है कि उसने वह दण्ड का विधान न्यायाधीश के रूप में किया है। यों तो वह न्यायाधीश मनुष्य भी है, किसी राष्ट्र विशेष का निवासी भी है, उदाहरणार्थ, भारतीय है, (अपनी सन्तान का) पिता भी, एवं अनेक रूपों वाला है। परन्तु उसने अपराधी के लिए दण्ड-विधान 'मनुष्य के रूप में' या 'भारतीय के रूप में' या 'पिता के रूप में' नहीं किया, प्रत्युत 'न्यायाधीश के रूप में' किया है। इसी प्रकार दण्ड भी घट का कारण दण्ड के रूप में है, न कि द्रव्य आदि किसी अन्य रूप में। दण्ड के रूप में होने का अर्थ यह है कि 'दण्डत्वजाति से विशिष्ट' अर्थात् 'दण्डत्वावच्छिन्न' (विशिष्ट = अवच्छिन्न) 'दण्ड' घट का कारण है।

इसलिये दण्ड का कारण होना (कारणता) 'दण्डत्व' रूप से है। इस प्रकार दण्ड के साथ साथ 'दण्डत्व' भी घट का पूर्ववर्त्ती हुआ। परन्तु 'दण्डत्व' पूर्ववर्त्ती होने पर भी कारण नहीं है, प्रत्युत अन्यथासिद्ध है। यह प्रथम प्रकार का 'अन्यथासिद्ध' हुआ।

सि० मु०:— द्वितीयमन्यथासिद्धमाहः—

कारिका:— कारणमादाय वा यस्य।

सि० मु०:— यस्य स्वातन्त्र्येणान्वयव्यतिरेकौ न स्तः। किन्तु कारणमादायैवान्वयव्यतिरेकौ गृह्येते, तदन्यथासिद्धम्। यथा दण्डरूपम्।

अनु०:— द्वितीय अन्यथा सिद्ध को कहते हैं:—

कारण (के अन्वयव्यातिरेक) को लेकर जिस (के अन्वयव्यतिरेक) का ग्रहण हो।

जिसके स्वतन्त्र अन्वयव्यतिरेक न हों, किन्तु कारण को लेकर ही अन्वयव्यतिरेक का ग्रहण हो, वह अन्यथासिद्ध होता है। जैसे, दण्डरूप।

व्याख्या:— एक वस्तु के होने पर दूसरी का होना 'अन्वय' कहलाता है (अन्वय - साथ साथ होना), और एक के न होने पर दूसरी का न होना 'व्यतिरेक' कहलाता है (व्यतिरेक अलग होना)। कारण और कार्य का 'अन्वयव्यतिरेक' होता है। अर्थात् कारण के होने पर कार्य होता है, और कारण के न होने पर कार्य नहीं होता। दूसरे शब्दों में कारण का कार्य के प्रति 'नियतपूर्ववर्ती' होना ही कारण का कार्य के साथ 'अन्वयव्यतिरेक' है। घट के प्रति उसके कारण दण्ड का अन्वयव्यतिरेक है। पर दण्ड 'दण्डरूप' के विना नहीं हो सकता। इसलिए 'दण्ड' के द्वारा घट के प्रति 'दण्डरूप' का भी अन्वयव्यतिरेक हो जाता है। पर घट का दण्डरूप के साथ यह 'अन्वयव्यतिरेक' स्वतन्त्ररूप से अर्थात् साक्षात् रूप से नहीं है, प्रत्युत 'दण्ड' के अन्वयव्यतिरेक के द्वारा है। इसलिए 'दण्डरूप' घट के प्रति अन्यथा-सिद्ध है।

सि० मु०:- तृतीयमाह:—

का०—अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्॥१९

सि० मु०:— अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम्। यथा घटादिकं प्रत्याकाशस्य। तस्य हि घटादिकं प्रति कारणत्वमाकाशत्वेनैव स्यात्। आकाशत्वं हि शब्दसमवायिकारणत्वम्। एवञ्च तस्य शब्दं प्रति जनकत्वं गृहीत्वैव घटादिकं प्रति जनकत्वं ग्राह्यमतस्तदन्यथासिद्धम्। ननु शब्दाश्रयत्वेन तस्य कारणत्वे काऽन्यथासिद्धिरिति चेत्? पञ्चमीति गृहाण। नन्वाकाशस्य शब्दं प्रति जनकत्वे किमवच्छेदकमिति चेत्? कवत्त्वादिकं विशेषपदार्थो वेति।

अनु०:— तृतीय (अन्यथासिद्ध) को कहते हैं:—

दूसरे के प्रति पूर्वभाव ज्ञात होने पर जिसके पूर्वभाव का ज्ञान हो (वह तीसरा अन्यथासिद्ध है)।

अन्य (किसी वस्तु) के प्रति पूर्व होने का ग्रहण करके ही जिसका जिस कार्य के प्रति पूर्ववर्ती होने का ज्ञान हो, वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। जैसे घट आदि के प्रति आकाश का (अन्यथासिद्धत्व है)। वह घट आदि के प्रति कारण 'आकाशत्व' रूप से ही हो सकता है, और 'आकाशत्व' का अर्थ है 'शब्द का समवायिकारण होना'। इस प्रकार शब्द के प्रति उस (आकाश) के कारण होने का ज्ञान करके ही घट आदि के प्रति (उसका) कारणत्व जाना जायगा। इसलिये वह (आकाश) अन्यथासिद्ध है। यदि यह प्रश्न हो कि (ननु) 'शब्द के आश्रय के रूप में'

(न कि शब्द के समवायिकारण के रूप में) यदि उसे (आकाश को, घटादि का) कारण माना जाय तो कौन सी अन्यथासिद्धि होगी ? उत्तर देते हैं कि (उस दशा में) पञ्चमी अन्यथासिद्धि जानो (जिसका स्वरूप आगे दिखाया जायगा)। प्रश्न यह होता है कि शब्द का आकाश के प्रति कारण होने में अवच्छेदक धर्म कौन होगा ? उत्तर देते हैं कि 'कवत्त्व' (अर्थात् आकाश का 'क' वर्णवाला अर्थात् 'क', 'ग' आदि वर्णों की ध्वनि से युक्त होना) या विशेष पदार्थ अवच्छेदक होगा।

व्याख्या:— आकाश नित्य है और सर्वव्यापक है, अर्थात् सब कालों में है और सब देशों में है। इसलिए 'घट' आदि कार्यों का नियत पूर्ववर्ती है। परन्तु नियत पूर्ववर्ती होने पर भी 'आकाश' को कारण नहीं माना जाता। उसकी अन्यथासिद्धि दिखाने के लिए यहां यह कहा गया है कि जिस वस्तु का पूर्वभाव किसी अन्य वस्तु के प्रति पूर्वभाव जानकर ही मालूम पड़े, वह अन्यथासिद्ध होता है। यह स्पष्ट है कि आकाश की 'आकाशत्व' के रूप से ही 'घट' आदि के प्रति कारणता कही जायगी, क्योंकि आकाश की कारणता द्रव्यत्व आदि के रूप में तो हो ही नहीं सकती। और, 'आकाशत्व' को हम 'शब्द के समवायिकारण होने के रूप' में ही समझ सकते हैं। आकाश घट का पूर्ववर्ती है, यह हम तभी कह सकते हैं जब हम 'शब्द के समवायिकारण के रूप में' आकाश का स्वरूप समझ लें। क्योंकि 'आकाश' नामक द्रव्य को माना ही इसलिये जाता है कि 'शब्द' का समवायिकारण कोई 'द्रव्य' होना चाहिये, और 'शब्द' सब जगह उत्पन्न होता रहता है, इसलिए वह सर्व-व्यापक और नित्य है। एवम् वैसा होने से घट का पूर्ववर्ती भी है। इस प्रकार 'शब्द के प्रति आकाश का पूर्वभाव' जानकर ही घट के प्रति भी आकाश का पूर्वभाव ज्ञात होता है, इसलिए घट के प्रति आकाश अन्यथासिद्ध है।

परन्तु यह कहा जा सकता है कि हम आकाश को 'शब्द के समवायि-कारण' के रूप में नहीं लेते, प्रत्युत 'शब्द के आश्रय' के रूप में लेते हैं। अर्थात् शब्द के आश्रय' के रूप में भी तो 'आकाश' सोचा जा सकता है। उस दशा में उपर्युक्त तृतीय लक्षण के अनुसार घट के प्रति आकाश का

अन्यथासिद्ध होना नहीं बनेगा। क्योंकि 'शब्द के प्रति आकाश के पूर्वभाव (कारणता)' को हमने नहीं देखा, प्रत्युत 'आकाश' को 'शब्द के आश्रय' के रूप में जाना है। इसका उत्तर देते हैं कि उस दशा में यहां तृतीय अन्यथा-सिद्धि तो न होगी, परन्तु 'आकाश' में पञ्चमी अन्यथासिद्धि होगी, जो कि व्यापक अन्यथासिद्धि है और जिसके अन्दर सभी अन्यथासिद्धियाँ आ जाती हैं, जैसा कि आगे बताया जायगा।

प्रसङ्गवश यहां यह प्रश्न उठाया गया कि जब आकाश को शब्द-समवायिकारण के रूप में माना जाता है, तो आकाश की कारणता का अवच्छेदक धर्म कौन होगा— क्योंकि प्रत्येक कारण किसी विशेष स्वरूप से ही कारण होता है। जैसे, घट का कारण 'दण्ड' दण्डत्व रूप से है, अर्थात् दण्ड को कारणता 'दण्डत्वावच्छिन्न' है। इसी प्रकार यहाँ भी प्रश्न होता है कि आकाश की कारणता किस धर्म से अवच्छिन्न होगी। 'आकाशत्व' से अवच्छिन्न तो कही नहीं जा सकती, क्योंकि 'आकाशत्व' कोई जाति तो है नहीं– वह तो केवल 'उपाधि' है, जिस 'उपाधि' का स्वरूप है 'शब्द-समवायि-कारणत्व' (अर्थात् आकाशत्व = शब्दसमवायिकारणत्व)। इस प्रकार 'शब्दसमवायिकारणत्व' और 'आकाशत्व' तो एक ही वस्तु है। इसलिये 'आकाश' का कोई ऐसा धर्म, जो केवल आकाश में ही रहता हो, 'शब्द की समवायिकारणता' का अवच्छेदक होना चाहिये। इसका उत्तर देते हैं कि 'क' वर्ण की अथवा 'ग' आदि वर्ण की ध्वनि से युक्त होना, आकाश में ही पाया जाता है, उसी धर्म को आकाश की शब्द-समवायिकारणता का अवच्छेदक मान लेंगे। परन्तु आकाश के 'क' आदि वर्णों से युक्त होने को यदि कारणता का अवच्छेदक मानें, तो वर्णों के अनेक होने से अवच्छेदकता का स्वरूप बड़ा हो जाता है। इसलिये कहते हैं कि आकाश में रहने वाले 'विशेष' पदार्थ को अवच्छेदक माना जा सकता है। 'विशेष' पदार्थ माना हुआ एक बाह्यपदार्थ है। उसका स्वरूप कई पदार्थों से मिलकर नहीं बना है, जैसा कि 'कवत्त्व' आदि उपाधि का होता है। इसलिये 'विशेष' पदार्थ को अवच्छेदक मानने में लाघव होगा।

सि० मु०ः— चतुर्थमन्यथासिद्धमाहः—

का०—जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय यस्य न गृह्यते।

सि० मु०ः— यत्कार्यजनकं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथा-सिद्धत्वम्। यथा कुलालपितुर्घटं प्रति) तस्य हि कुलालपितृत्वेन घटं प्रति जनकत्व एवान्यथासिद्धिः। कुलालत्वेन जनकत्वे त्विष्टापत्तिः, कुलालमात्रस्य घटं प्रति जनकत्वात्।

अनु०:— चतुर्थअन्यथासिद्ध को कहते हैं:—

कारण के प्रति पूर्वभाव को जाने बिना जिस (के पूर्वभाव) का ग्रहण न हो (वह अन्यथासिद्ध है)।

जिस कार्य के कारण के प्रति पूर्वभाव को ग्रहण करके ही जिसका जिस (उस) कार्य के प्रति पूर्वभाव जाना जाय, वह उस कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध है। जैसे कुम्हार का पिता घट के प्रति (अन्यथासिद्ध है)। उसको 'कुम्हार के पिता' के रूप में ही घट के प्रति कारण मानने में अन्यथासिद्धि होती है। उसे 'कुम्हार' के रूप में कारण मानना तो अभीष्ट ही है, क्योंकि प्रत्येक कुम्हार घट का कारण होता ही है।

व्याख्या:— इस अन्यथासिद्धि का अर्थ यह है कि किसी कार्य के कारण का कारण उस कार्य के प्रति कारण नहीं होता। क्योंकि यदि किसी वस्तु के 'कारण के कारण' को भी उस वस्तु का कारण माने तो कारणपरम्परा बहुत बढ़ जायगी। इसलिए किसी वस्तु के कारण के कारण को उस वस्तु का कारण नहीं माना जाता है। घट का कारण 'कुम्हार' है, और कुम्हार का कारण 'कुम्हार का पिता' है। कुम्हार के पिता का घट के कारण 'कुम्हार' के प्रति पूर्वभाव जानकर ही घट के प्रति भी उसका (कुम्हार के पिता का) पूर्वभाव

जाना जाता है। इस प्रकार यद्यपि कुम्हार का पिता घट का भी नियत पूर्ववर्ती हुआ, तथापि वह अन्यथासिद्ध है। यहाँ यदि कोई कहने लगे कि कुम्हार का पिता भी कुम्हार ही तो होगा, और वह कुम्हार होने से घट का स्वयं (साक्षात्) भी तो कारण हो सकता है। उसके उत्तर में कहते हैं कि कुम्हार के पिता को 'कुम्हार के पिता' के रूप से घट के प्रति अन्यथासिद्ध कहा गया है, 'कुम्हार' के रूप में तो वह घट का कारण माना ही जायगा।

सि० मु०:— पञ्चममन्यथासिद्धमाह:—

का०—अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः

सि०मु०—अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तद्भिन्नमन्यथासिद्धमित्यर्थः। अत एव प्रत्यक्षे महत्त्वं कारण-मनेकद्रव्यवत्त्वमन्यथासिद्धम्। तत्र हि महत्त्वमवश्यक्लृप्तं तेनानेकद्रव्यवत्त्वमन्यथासिद्धम्। न च वैपरीत्ये किं विनिगम-कमिति वाच्यम्, महत्त्वत्वजातेः कारणतावच्छेदकत्वे लाघवात्।

अनु०:— पञ्चम अन्यथासिद्ध को कहते हैं :—

नियत और आवश्यक (जिसको अवश्य मानना पड़ता हो), ऐसे पूर्ववर्ती से अतिरिक्त जो कुछ भी है (वह अन्यथासिद्ध है)।

जिसका मानना आवश्यक हो (अवश्यक्लृप्त) और जो नियतपूर्ववर्ती हो उससे ही 'कार्य' की उत्पत्ति सम्भव होने पर उससे भिन्न (अतिरिक्त) अन्यथासिद्ध होता है, यह अर्थ है। इसीलिये प्रत्यक्ष में 'महत्परिमाण' (महत्त्व) कारण है, और 'अनेकद्रव्यवत्त्व' (अर्थात् अनेक अवयव द्रव्यों से बना होना) अन्यथासिद्ध है। क्योंकि वहां 'महत्परिमाण' को तो अवश्य ही मानना पड़ता है, उसके कारण 'अनेकद्रव्यवत्त्व' अन्यथासिद्ध है।

और यदि कोई इससे विपरीत (अर्थात् अनेकद्रव्यवत्त्व कारण है और महत्परिमाण अन्यथासिद्ध है) कहने लगे तो विनिगमक (अर्थात् एक-पक्ष-निर्णायक युक्ति जिससे यह सिद्ध हो कि 'महत्परिमाण' कारण है और अनेकद्रव्यवत्त्व अन्यथासिद्ध है) क्या होगा ? (उत्तर देते हैं कि) ऐसी शङ्का न करनी चाहिये (न वाच्यम्), क्योंकि (महत्परिमाण को प्रत्यक्ष में कारण मानने पर) 'महत्त्वत्व' जाति के कारणतावच्छेदक होने में लाघव होगा।

व्याख्या :— यहाँ यह कहा गया है कि नियत पूर्ववर्ती होने के साथ साथ जो आवश्यक हो अर्थात् जिसे अवश्य मानना पड़े उसके अतिरिक्त बाकी सब अन्यथासिद्ध होते हैं। जिसे अवश्य मानना पड़े, इसका अर्थ यह है कि "कम से कम वस्तु जिसके मानने से काम चल जाय"। जहां पर दो वस्तुओं से कोई कार्य उत्पन्न होना सम्भव हो, वहां पर उनमें से जो 'लघु' हो (जिसमें कल्पना का लाघव होता हो) उसी को 'आवश्यक' कहेंगे। उस 'आवश्यक' के अतिरिक्त बाकी सब अन्यथासिद्ध होंगे। किसी वस्तु के प्रत्यक्ष में उस वस्तु का 'महत्परिमाण' कारण होता है। अर्थात् जब तक 'महत्परिमाण' न हो, किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अणु तथा द्व्यणुक दोनों में 'महत्परिमाण' का अभाव होने से उन दोनों का प्रत्यक्ष नहीं होता। परन्तु 'अनेकद्रव्यवत्त्व' अर्थात् 'अनेक द्रव्य वाला होना' अर्थात् अनेक द्रव्यों से बना होना, अनेक द्रव्य जिसके अवयव हों अथवा 'अनेक द्रव्यों में समवेत होना' रूप धर्म भी प्रत्यक्ष का नियत पूर्ववर्ती होता है। क्योंकि जिन जिन द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है वे सावयव होते हैं, अर्थात अनेक द्रव्यों से बने होते हैं। इसलिए 'अनेक द्रव्यवत्त्व' को भी प्रत्यक्ष का कारण क्यों न माना जाय ? इसका उत्तर देते हैं कि जब 'महत्परिमाण' को प्रत्यक्ष का कारण मानने से ही काम चल जाता है अर्थात् महत्परिमाण 'आवश्यक' होने से कारण होगा, तो उससे अतिरिक्त 'अनेकद्रव्यवत्त्व' अन्यथासिद्ध होगा। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि उलटी ही बात क्यों न मानलें, अर्थात् 'अनेकद्रव्यवत्त्व' को प्रत्यक्ष का कारण मानें और 'महत्परिमाण'

(महत्त्व) को अन्यथासिद्ध मानें, तो इसका उत्तर यह है कि यदि महत्परिमाण (महत्त्व) को कारण मानते हैं तो 'महत्परिमाण' या 'महत्त्व' के गुण होने से उसमें 'महत्त्वत्व' जाति रहेगी। वह जाति ही 'महत्परिमाण' के प्रत्यक्ष में कारणता की अवच्छेदक हो जायगी। परन्तु यदि 'अनेकद्रव्यवत्त्व' को प्रत्यक्ष का कारण मानाजाय तो कारणता का अवच्छेदक 'अनेकद्रव्यवत्त्वत्व' होगा, जो कि कोई जाति नहीं है, प्रत्युत अनेक पदार्थों से बनी हुई 'उपाधि' है। 'उपाधि' की अपेक्षा 'जाति' को अवच्छेदक मानने में लाघव होता है। क्योंकि जाति एक बाह्य वस्तु है और 'उपाधि' अनेक वस्तुओं से बनती है। इसलिये, जैसा कि ऊपर कहा गया है कि 'आवश्यक' वही होता है, जिसकी कल्पना में लाघव हो। इसलिए 'महत्त्व' ही प्रत्यक्ष का 'आवश्यक' (लघुतम होने से अवश्य माना गया) कारण होगा. और उससे अतिरिक्त 'अनेकद्रव्यवत्त्व' अन्यथासिद्ध होगा।

आलोचना :— यहां 'अनेकद्रव्यवत्त्व' को प्रत्यक्ष का नियतपूर्ववर्ती या कारण मानने में एक दोष आता है कि द्व्यणुक भी 'अनेकद्रव्यवत्' है अर्थात् अपने दो अवयव - दो अणुओं वाला है। अर्थात् अनेक अवयवों— अणुओं—में समवेत है। परन्तु द्व्यणुक का प्रत्यक्ष होता नहीं। इसलिये 'अनेकद्रव्यवत्त्व' को प्रत्यक्ष का नियतपूर्ववर्ती भी नहीं कह सकते। ऐसी दशा में 'अनेकद्रव्यवत्त्व' के अन्यथा सिद्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए टीकाकारों ने 'अनेकद्रव्यवत्त्व' का अर्थ किया है— 'अणुपरिमाण वाले से भिन्न द्रव्य'। परन्तु यह अर्थ खींचातान का है, यह स्पष्ट है। हमारे यहां यह रीति चली आती है कि ग्रन्थकार की कोई भूल न मानकर उसके अर्थ को कुछ परिष्कार करके ठीक करना। वस्तुतः बात यही है कि 'अनेकद्रव्यवत्त्व' के द्व्यणुक में चले जाने की ओर विश्वनाथ का ध्यान ही नहीं गया।

एक और भी बात ध्यान देने की है। ग्रन्थ में 'न च वैपरीत्ये किं विनिगमकम्' ? यह प्रश्न उठाया गया है। इसका साधारणतया यही शब्दार्थ होना चाहिए कि विपरीत मानने के विषय में अन्यतरपक्षनिर्णायक युक्ति

क्या हो सकती है ? परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं बैठता, इसलिए यह अर्थ करना आवश्यक हो जाता है कि यदि कोई विपरीत बात कहे तो सिद्धान्त पक्ष को सिद्ध करने के लिये पक्ष निर्णायक युक्ति क्या होगी। अर्थात् "वैपरीत्ये प्रस्तुते सति, पक्षसमर्थकं किं विनिगमकम् ?

यहां पर 'अनेकद्रव्यवत्त्व' की जगह 'अनेकद्रव्यत्व' भी पाठ पाया जाता है। 'अनेकद्रव्य हों जिसमें' इस प्रकार बहुव्रीहि करके अर्थ उसका भी वही होगा, जो कि 'अनेकद्रव्यवत्त्व' का है।

अब मूल कारिकाओं में पांचों अन्यथासिद्धों के उदाहरण दिये जाते हैं:—

का०—एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम्।
घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् ॥२१॥
तृतीयं तु भवेद्व्योम कुलालजनकोऽपरः।
पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ ॥२२॥

अनु०:— ये पांच अन्यथासिद्ध हैं। घटादि कार्य के प्रति दण्डत्व प्रथम अन्यथासिद्ध है। दण्डरूप आदि द्वितीय है, तृतीय आकाश, चौथा कुम्हार का पिता और पांचवा गर्दभ है। इनमें पांचवा अन्यथासिद्ध आवश्यक है।

व्याख्या:— द्वितीय पंक्ति में आए 'घटादौ' का (जिसका अर्थ है 'घटादि के प्रति') अन्वय पांचों से होगा, अर्थात् दण्डत्व आदि पांचों घटादि कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध हैं। इन उदाहरणों में से पहिले चार को ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। किन्तु पांचवें अन्यथासिद्ध का (जिसको आवश्यक बतलाया है) उदाहरण मुक्तावली में 'अनेकद्रव्यवत्त्व' दिया गया है। परन्तु यहाँ (कारिका में) उसका उदाहरण 'गधा' दिया गया है। 'गधा' घट के प्रति पूर्ववर्ती तो हो सकता है, परन्तु 'नियतपूर्ववर्ती' नहीं होता, जैसा कि कारण के सामान्य लक्षण की व्याख्या में दिखलाया गया था। परन्तु यहां पर यह माना गया है कि यद्यपि 'गधा' घटमात्र के प्रति नियतपूर्ववर्ती नहीं हो सकता, तथापि

किसी 'विशेष घट व्यक्ति' के प्रति उसका नियत पूर्वभाव भी माना जा सकता है। परन्तु वहां भी आवश्यक (जिसे अवश्य ही मानना पड़े) न होने से कारण नहीं माना जायगा, प्रत्युत अन्यथासिद्ध ही होगा।

सि० मु०:— रासभादिरिति। यद्यपि किञ्चिद्घटव्यक्तिं प्रति रासभस्य नियतपूर्ववर्तित्वमस्ति, तथापि घटजातीयं प्रति सिद्धकारणभावैर्दण्डादिभिरेव तद्व्यक्तेरपि सम्भवे रासभोऽन्यथासिद्ध इति भावः। एतेष्विति (एतेषु पञ्चस्वन्यथा-सिद्धेषु मध्ये पञ्चमोऽन्यथासिद्ध आवश्यकः, तेनैव परेषां चरितार्थत्वात्। तथाहि:— दण्डादिभिरवश्यक्लृप्तनियतपूर्व-वर्तिभिरेव कार्यसम्भवे दण्डत्वादिकमन्यथासिद्धम्)। न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, दण्डत्वस्य कारणत्वे दण्डघटितपरम्परायाः सम्बन्धत्वकल्पने गौरवात्। एवमन्ये-षामप्यनेनैव चरितार्थत्वं सम्भवतीति बोध्यम्।

अनु०:— रासभादि अंश की टीका की जाती है। यद्यपि किसी एक (विशेष) घट व्यक्ति के प्रति गधा भी नियत पूर्ववर्ती होता है, तथापि प्रत्येक घट (प्रत्येक घटत्व जाति वाले) के प्रति सिद्ध है कारण होना जिनका ऐसे दण्ड आदि से उस घट व्यक्ति की भी उत्पत्ति सम्भव है, इसलिए 'गधा' अन्यथासिद्ध है, यह तात्पर्य है। इन पांचों अन्यथासिद्धों के बीच में पञ्चम अन्यथासिद्ध आवश्यक है, क्योंकि उसी के अन्दर दूसरे अन्यथासिद्ध आ जाते हैं। जैसे कि:— दण्ड आदि ऐसे पूर्ववर्ती हैं जिन्हें अवश्य ही मानना पड़ता है, उनसे ही (जब) कार्य (घट) बन सकता है, तब 'दण्डत्व' आदि अन्यथासिद्ध हैं। और यदि कोई इससे विपरीत (अर्थात् 'दण्डत्व' कारण है और 'दण्ड' अन्यथासिद्ध है) कहने लगे तो (सिद्धान्तपक्ष की) निर्णायक युक्ति (विनिगमक) क्या होगी? (इसका उत्तर देते हैं कि) ऐसी शङ्का

नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'दण्डत्व' को कारण मानने में दण्ड के द्वारा परम्परा (असाक्षात्) सम्बन्ध की कल्पना करने में गौरव होगा। देखो व्याख्या)। इसी प्रकार अन्य (अन्यथासिद्ध) भी इसी (पांचवे) के अन्तर्गत आ जाते हैं।

व्याख्या:—पांचवे अन्यथासिद्ध का रूप यह बताया गया है कि 'आवश्यक रूप से माने गए (अवश्यक्लृप्त) नियत पूर्ववर्ती से अतिरिक्त सब अन्यथा सिद्ध हैं।' यहाँ यह बतलाया गया कि पहिले चारों अन्यथासिद्ध इसी पाँचवें के अन्तर्गत आ जाते हैं। जैसे 'दण्ड' आवश्यकरूप से माना गया नियत पूर्ववर्ती है। इसलिए उससे अतिरिक्त 'दण्डत्व' अन्यथासिद्ध होगा। इस प्रकार पहिला अन्यथासिद्ध पांचवें के अन्तर्गत आगया। यहाँ पर शङ्का उठाई है कि उलटा ही क्यों न मान लिया जाय ? अर्थात् 'दण्डत्व' को कारण मानें और 'दण्ड' को अन्यथासिद्ध। इसका उत्तर देते हैं कि 'दण्डत्व' घट का साक्षात् रूप से कारण नहीं हो सकता, प्रत्युत 'दण्ड' के द्वारा ही होगा। क्योंकि दण्ड 'स्वजन्यभ्रमण' अर्थात् दण्ड से उत्पन्न हुए चक्कर के द्वारा घट का कारण होता है, अर्थात् उन चक्करों से घट बनता है। परन्तु 'दण्डत्व' 'स्वाश्रयजन्यभ्रमण' के द्वारा कारण होगा, अर्थात् 'स्व' – 'दण्डत्व', उसका आश्रय 'दण्ड', उससे उत्पन्न हुए भ्रमण के द्वारा कारण होगा। इस प्रकार 'दण्डत्व' की कारणता 'दण्ड' के द्वारा होती है। इसलिये 'दण्डत्व' की अपेक्षा 'दण्ड' को ही कारण मानना उचित होगा।

अब प्रसङ्ग में आए कारण का लक्षण और विभाग करने के बाद साधर्म्य के प्रकरण में अन्य पदार्थों के साधर्म्य को बतलाते हैं :—

का०:–समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्।
गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ॥२३॥

अनु०:— समवायिकारण होना केवल द्रव्य का ही साधर्म्य है, और असमवायिकारण होना केवल गुण और कर्म का साधर्म्य है।

व्याख्या :—यह ऊपर बतलाया जा चुका है, कि द्रव्य, गुण, और कर्म

तीनों का समवायिकारण केवल द्रव्य ही होता है। परन्तु द्रव्य असमवायिकारण कदापि नहीं हो सकता। बाकी सामान्य आदि चार पदार्थ तो किसी प्रकार के भी कारण होते ही नहीं, इसलिए उनका तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार केवल गुण और कर्म ही असमवायिकारण होते हैं। ऊपर असमवायिकारण की व्याख्या में बतलाया जा चुका है कि पट का असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' होता है। और पटरूप का असमवायिकारण 'तन्तुरूप' होता है। अर्थात् वे दोनों असमवायिकारण गुण हैं। इसी प्रकार कर्म (क्रिया) भी संयोगविभाग का असमवायिकारण होता है। जब पक्षी उड़कर पेड़ पर बैठता है, तब 'पक्षी और वृक्ष के संयोग' रूपी कार्य का असमवायिकारण पक्षी की क्रिया (उड़ना) है, क्योंकि उस संयोग का समवायिकारण वृक्ष और पक्षी हैं। उनमें से एक समवायिकारण अर्थात् पक्षी में क्रिया समवेत है। इस प्रकार पक्षी में कार्य (संयोग) और उसका असमवायिकारण (कर्म) दोनों प्रत्यासन्न हैं। इस प्रकार असमवायिकारण का लक्षण 'कर्म' (क्रिया) में घट जाता है।

सि० मु० :— गुणकर्मेति। असमवायिकारणत्वं गुणकर्मभिन्नानां वैधर्म्यं, नतु गुणकर्मणोः साधर्म्यमित्यत्र तात्पर्यम्। अथवा असमवायिकारणवृत्तिसत्ताभिन्नजातिमत्त्वं तदर्थः, तेन ज्ञानादीनामसमवायिकारणत्वविरहेऽपि न क्षतिः।

अनु०:— कारिका के उत्तरार्ध 'गुणकर्म' इत्यादि की टीका करते हैं। असमवायिकारण होना गुण और कर्म से भिन्न पदार्थों का वैधर्म्य है, न कि गुण और कर्म का साधर्म्य, ऐसा तात्पर्य है। अथवा 'असमवायिकारण में रहने वाली सत्ता भिन्न जाति वाला होना' उस (कारिका में बताए साधर्म्य) का अर्थ है, जिससे ज्ञान आदि के असमवायिकारण न होने पर भी कोई दोष नहीं आता।

व्याख्या:— कारिका में यह कहा गया है कि असमवायिकारण होना गुण और कर्म का साधर्म्य है। परन्तु आत्मा के विशेष गुण ज्ञान आदि किसी

के भी असमवायिकारण नहीं होते। ज्ञान से इच्छा होती है, इच्छा से प्रयत्न या चेष्टा होती है। यहाँ पर ज्ञान को इच्छा के प्रति और इच्छा को प्रयत्न के प्रति निमित्तकारण माना जाता है। और यहां असमवायिकारण 'आत्ममनः-संयोग' को ही मानते हैं। ऐसी दशा में गुणों के असमवायिकारण होने का साधर्म्य ज्ञानादि गुणों में नहीं जाता और इस प्रकार दोष आजाता है। उसका उत्तर दो प्रकार से दिया गया कि या तो यह माना जाय कि असमवायिकारण होना गुण और कर्मों का साधर्म्य नहीं, प्रत्युत गुण और कर्मों से भिन्न पदार्थों का वैधर्म्य है, अर्थात् गुण और कर्म से भिन्न कोई पदार्थ असमवायिकारण नहीं होता, और इस प्रकार वैधर्म्य मानने से यह आवश्यक नहीं होता कि प्रत्येक गुण अवश्य ही असमवायिकारण हो। अथवा, कारिका में बताए साधर्म्य का का यह परिष्कार कर लिया जाय कि 'जो असमवायिकारण में रहने वाली, 'सत्ता' से भिन्न जाति वाला हो'। असमवायिकारण गुण और कर्म ही होते हैं, इसलिए असमवायिकारण में रहने वाली या तो गुणत्व और कर्मत्व जातियाँ हो सकती हैं, या 'सत्ता' हो सकती है। इसलिए 'साधर्म्य' के स्वरूप में 'सत्ता' को अलग कर दिया। 'सत्ता' को अलग कर देने से असमवायिकारण में रहने वाली केवल 'गुणत्व' व 'कर्मत्व' जाति ही रह जाती हैं। आत्मा के गुण ज्ञानादि यद्यपि असमवायिकारण नहीं होते, परन्तु उनमें असमवायि-कारण में रहने वाली सत्ता-भिन्न जाति अर्थात् 'गुणत्व' रहती है। इसलिए उनमें भी उपर्युक्त साधर्म्य चला जाता है। और, अव्याप्ति दोष नहीं होता।

का०—अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते।

सि० मु०:— नित्यद्रव्याणि परमाण्वाकाशादीनि विहायाश्रितत्वं साधर्म्यमित्यर्थः। आश्रितत्वं तु समवायादि-सम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वम्। विशेषणतया नित्यानामपि कालादौ वृत्तेः।

अनु०:— नित्य द्रव्यों से भिन्न पदार्थों का साधर्म्य 'आश्रितत्व' (अर्थात्

किसी दूसरे में रहना) कहा जाता है ।

नित्यद्रव्य परमाणु, आकाश आदि हैं, उनको छोड़कर (बाकी पदार्थों का) साधर्म्य 'आश्रितत्व' (किसी दूसरे में रहना) है । 'आश्रितत्व' का अर्थ है 'समवाय आदि सम्बन्धों से रहना' । क्योंकि विशेषणता सम्बन्ध से नित्य (द्रव्य) भी काल आदि में रहते हैं ।

व्याख्याः— पृथ्वी आदि के चार प्रकार के परमाणु तथा आकाश आदि पांच द्रव्य नित्यद्रव्य हैं । वे किसी दूसरे पदार्थ में नहीं रहते । क्योंकि द्रव्य होने से वे अपने अवयवों में ही रह सकते थे, और परमाणु, आकाश आदि नित्य द्रव्यों के अवयव होते नहीं, इसलिये वे किसी दूसरे द्रव्यों में नहीं रहते, यह स्पष्ट है । परन्तु नित्य द्रव्यों को छोड़कर बाकी सब पदार्थ किसी दूसरे आश्रय में रहते हैं । जितने अनित्य द्रव्य हैं, वे अपने अवयवों से बने हुए हैं । इसलिये अपने अवयवरूप द्रव्यों में रहते हैं । गुण और कर्म द्रव्यों में रहते हैं, यह स्पष्ट है । जाति व्यक्तियों में रहती है, और विशेष नित्य द्रव्य में तथा समवाय भी द्रव्यादि में रहता है । परन्तु यहां पर यह शंका हो सकती है कि आकाश आदि नित्य पदार्थ भी सब देशों में और सब कालों में वर्त्तमान हैं । इस प्रकार आकाशादि नित्य पदार्थों में भी दिक् और काल के रहने के कारण 'आश्रितत्व' धर्म आगया । इसका उत्तर देते हैं कि यहां 'रहना' समवाय और संयोग सम्बन्ध से लिया जाता है, क्योंकि ये दो ही मुख्यतया वृत्तिनियामक सम्बन्ध हैं । अर्थात् इन्हीं दो सम्बन्धों का बाह्य वस्तुरूपेण अस्तित्व (external objective reality) माना जाता है । काल और दिक् में जो सब पदार्थ रहते हैं, वे इन दोनों में से किसी सम्बन्ध से नहीं रहते, प्रत्युत कालिक, दैशिक विशेषणता रूप सम्बन्ध से रहते हैं । और वह सम्बन्ध मुख्य सम्बन्ध (objectively real) नहीं है ।

सि० मु० :— इदानीं द्रव्यस्यैव विशिष्य साधर्म्यं वक्तुमारभते ।

का०—क्षित्यादीनां नवानां तु द्रव्यत्वगुणयोगिता ॥२४

अनु०—अब द्रव्य का ही विशेषरूप से साधर्म्य कहना प्रारम्भ करते हैं —

पृथ्वी से लेकर नौ द्रव्यों का साधर्म्य 'द्रव्यत्व' जाति और 'गुण' वाला होना (गुणयोगिता) है

का०—क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च ।
परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी ॥२५॥

सि० मु०:— पृथिव्यप्तेजोवायुमनसां परत्वापरत्ववत्त्वं मूर्तत्ववत्त्वं क्रियावत्त्वं वेगवत्त्वं च साधर्म्यम् । न च यत्र घटादौ परत्वमपरत्वं वा नोत्पन्नं तत्राव्याप्तिरिति वाच्यं, परत्वादिसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । मूर्तत्वमपकृष्टपरिमाणवत्त्वम् । तच्च तेषामेव, गगनादिपरिमाणस्य कुतोऽप्यपकृष्टत्वाभावात् । पूर्ववत् कर्मवत्त्वं कर्मसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं, 'वेगवत्त्वं वेगवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं च बोध्यम् ।

अनु०:— पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मनस् (ये पांच द्रव्य) परत्व और अपरत्व (गुण), मूर्तत्व (अविभुपरिमाण गुण), कर्म तथा वेग (नामक गुण) के आश्रय हैं ।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मनस् का साधर्म्य परत्व और अपरत्व (नामक गुण) वाला होना, मूर्तत्व, क्रिया वाला होना और वेग वाला होना है । यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि जहां घट आदि में परत्व और अपरत्व उत्पन्न नहीं हुआ है, वहां अव्याप्ति होगी । क्योंकि परत्व आदि गुणों के साथ साथ रहने वाली द्रव्यत्व की व्याप्य (पृथ्वीत्व आदि) जाति

वाला होना, यह तात्पर्य है। मूर्तत्व अपकृष्ट (छोटे, सीमित, परिच्छिन्न अर्थात् अविभु द्रव्यों में रहने वाले) परिमाण को कहते हैं, वह उन्हीं (पृथिवी आदि पांच) में पाया जाता है। क्योंकि आकाश आदि विभु द्रव्यों का परिमाण कभी भी परिच्छिन्न (अपकृष्ट) नहीं होता। पहिले के समान ही 'कर्मवत्त्व' का अर्थ – "कर्म के साथ रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य (पृथिवीत्व आदि जाति वाला होना" और 'वेगवत्त्व' का अर्थ—"वेगवाले में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना" समझना चाहिए।

व्याख्याः – पृथिवी आदि चार भूत और मनस् के साधर्म्य यहां बताये गए हैं। परत्व और अपरत्व (परला और उरला होना) देश सम्बन्धी और काल सम्बन्धी दो प्रकार के हैं। दोनों ही प्रकार के ये गुण किसी पदार्थ में हर समय नहीं रहते। प्रत्युत कभी कभी दो पदार्थों में 'यह इससे सन्निकृष्ट है' या 'यह इसकी अपेक्षा अल्पतर काल से सम्बद्ध है' इस प्रकार की अपेक्षा बुद्धि से थोड़ी देर के लिये उत्पन्न होते हैं, और फिर नष्ट हो जाते हैं। प्रश्न यह होता है कि जिस घटादि द्रव्य में 'परत्व' और 'अपरत्व' उत्पन्न नहीं हुए हैं, वहाँ इस साधर्म्य की अव्याप्ति होगी। उसका उत्तर यह दिया कि 'परत्व' आदि गुणों के साथ साथ रहने वाली द्रव्यत्व की व्याप्य जाति वाला होना'। द्रव्यत्व की व्याप्य जातियां जो परत्व और अपरत्व गुण के साथ साथ पाई जाती हों, केवल पाँच ही हैं— अर्थात पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व और मनस्त्व। क्योंकि इन पाँच के अतिरिक्त द्रव्यत्व की व्याप्य जाति 'आत्मत्व' है, परन्तु वह परत्व और अपरत्व गुण के साथ २ कदापि नहीं पाई जाती। इसलिए उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। इस प्रकार जिस 'घटादि' में 'परत्वापरत्व' जाति उत्पन्न न भी हुई हो, वहाँ उपर्युक्त प्रकार की जाति अर्थात् पृथिवीत्व पाई ही जाती है। अतः कोई दोष न होगा।

मूर्त्तत्व अविभु, परिच्छिन्न या सीमित परिमाण को कहते हैं। आकाश, काल, दिक् और आत्मा का विभु परिमाण है। सीमित परिमाण केवल उपर्युक्त पृथ्वी आदि पाँच का ही है।

जहां घट आदि में क्रिया या वेग उत्पन्न नहीं हुआ, वहां पर क्रियावत्त्व

और वेगवत्त्व नहीं पाया जाता। इसलिए उनका अर्थ भी क्रमश; 'कर्म के साथ रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' और 'वेगवाले में (या वेग के साथ) रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' कर दिया, जिससे क्रिया और वेग रहित घट आदि में भी साधर्म्य चला जाय। क्योंकि यद्यपि उनमें क्रिया और वेग नहीं हैं, तो भी क्रिया और वेग के अधिकरण में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति 'पृथ्वीत्व' आदि विद्यमान हैं। इसलिए उन स्थानों पर साधर्म्य-लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती ?

का०-कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत्।

सि० मु०—कालाकाशात्मदिशां सर्वगतत्वं सर्वमूर्तद्रव्य संयोगित्वं, परममहत्त्वं च साधर्म्यम्। परममहत्त्वत्वं जाति-विशेषः, अपकर्षानाश्रयपरिमाणत्वं वा।

अनुः—काल, आकाश, आत्मा और दिक् इन चारों की सर्वव्यापकता और परममहत् परिमाण साधर्म्य है।

काल, आकाश, आत्मा, दिशा का सर्वगतत्व अर्थात् सब मूर्त (परिच्छिन्न परिमाण वाले) पदार्थों के साथ संयोग युक्त होना और परम-महत्परिमाण ये समान धर्म हैं। 'परममहत्त्वत्व' एक जाति विशेष है अथवा ऐसा परिमाण जो अपकर्ष (सीमा या परिच्छेद) का आश्रय न हो (अर्थात् मूर्त द्रव्य में न रहता हो)।

व्याख्याः— पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मनस् इन पांच के अतिरिक्त जो चार आकाशादि द्रव्य रह गए उनका साधर्म्य सर्वगतत्व और परममहत् परिमाण बतलाया गया है। साधारणतया दोनों का अर्थ सर्वव्यापक होता है। परन्तु फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उन दोनों का अन्तर है। 'सर्व-गतत्व' का अर्थ है कि जो सब जगह गया हुआ हो अर्थात् जिसका प्रत्येक 'मूर्त्त (अविभु अर्थात् परिच्छिन्न परिमाण वाले) द्रव्य से संयोग हो। आकाश आदि का प्रत्येक मूर्त द्रव्य के साथ संयोग है। परममहत्परिमाण का निरूपण दो प्रकार से हो सकता है। या तो 'परममहत्त्वत्व' एक जाति विशेष

मानी जाय, और वह जाति जिसमें रहती हो वही परममहत्परिमाण है, अन्यथा यदि 'परममहत्त्वत्व' को जाति न माना जाय, (क्योंकि जाति किसी कारणता के अवच्छेदक के रूप में मानी जाती है और 'परममहत्परिमाण' किसी का कारण न होने से कारणता का अवच्छेदक होता नहीं, इसलिए यदि 'परममहत्त्वत्व' को जाति न मानें) तो परममहत्परिमाण का निरूपण इस प्रकार होगा कि ऐसा परिमाण जो परिच्छेद या सीमा का आश्रय न हो अर्थात् मूर्त्त द्रव्य में न रहता हो।

का०—क्षित्यादिपञ्चभूतानि चत्वारि स्पर्शवन्ति हि॥२६

सि० मु०:—क्षित्यादीति। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां भूतत्वं साधर्म्यम्। तच्च बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्। अत्र ग्राह्यत्वं लौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यत्वं बोध्यम्। तेन ज्ञातो घट इत्यादि प्रत्यक्षे ज्ञानस्याप्युपनीतभानविषयत्वात्तद्वत्यात्मनि नातिव्याप्तिः। न वा प्रत्यक्षाविषयरूपादिमति परमाण्वादाव-व्याप्तिः, तस्यापि स्वरूपयोग्यत्वात्। महत्त्वलक्षणकारणान्तरा-सन्निधानाच्च न प्रत्यक्षम्। अथवा आत्मावृत्तिविशेषगुणवत्त्वं तत्त्वम्। चत्वारीति। पृथिव्यप्तेजोवायूनां स्पर्शवत्त्वम्।

अनु०:—पृथिवी आदि (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) पांच भूत हैं और चार (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) स्पर्श वाले हैं।

'क्षित्यादि' इस कारिकांश की व्याख्या करते हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इनका साधर्म्य 'भूतत्व' है (अर्थात् ये पांचों 'भूत' हैं)। और उसका (अर्थात् भूतत्व का) अर्थ है 'बाहर की इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य विशेष गुणवाला होना'। यहां 'ग्रहण करने योग्य' का अर्थ 'लौकिक प्रत्यक्ष की स्वरूप-योग्यता' समझना चाहिये। इस कारण से 'जाना हुआ घट' इस प्रत्यक्ष में ज्ञान के भी ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष (उपनीतभान=ज्ञान-

लक्षण-सन्निकर्ष) का विषय होने से ज्ञान वाले आत्मा में इस साधर्म्य की अतिव्याप्ति नहीं होगी। और न प्रत्यक्ष के विषय न होने वाले रूपादि युक्त परमाणुओं में अव्याप्ति होगी, क्योंकि (प्रत्यक्ष के विषय न होने पर भी) वे (परमाणु) स्वरूपतः प्रत्यक्ष के योग्य हैं। महत्त्व नामक (प्रत्यक्ष के) दूसरे कारण के न होने से प्रत्यक्ष नहीं होता। अथवा आत्मा में न रहने वाले विशेष गुण से युक्त होना उसका (भूतत्व का) लक्षण है। 'चत्वारि' इत्यादि अंश का अर्थ है:—पृथिवी, जल, अग्नि और वायु स्पर्श वाले हैं।

व्याख्या:— सांख्य आदि शास्त्र, जो परमाणुवाद नहीं मानते, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच भूतों को सृष्टि का और शरीर का उपादान कारण मानते हैं। उनके मत में सभी स्थूल पदार्थ या शरीर पाञ्च-भौतिक अर्थात् पञ्चभूतों से बने हैं। परन्तु न्याय-वैशेषिक के मत में आकाश को छोड़कर बाकी पृथिवी आदि चार ही परमाणु वाले हैं, और उन्हीं से स्थूल पदार्थ (कार्य-द्रव्य) या शरीर बनते हैं। पञ्चभूतों में रहने वाला कोई 'भूतत्व' नामक जाति नहीं, प्रत्युत उपाधि है। और न पञ्चभूत मिलकर ही कोई काम करते हैं। आकाश सहित पृथ्वी आदि पांचों में रहने वाले 'भूतत्व' का स्वरूप न्याय-वैशेषिक में यही है कि बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य विशेष गुण वाला होना। विशेष गुण या तो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द है जो कि क्रमशः पांच बाह्येन्द्रिय नासिका, रसना (जिह्वा), चक्षु, त्वक्, और श्रोत्र से प्रत्यक्ष किए जाते हैं, या ज्ञान, इच्छा आदि आत्मा के विशेष गुण हैं जो मनस् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष किये जाते हैं। मनस् इन्द्रिय 'आन्तर' इन्द्रिय मानी गई है, इसलिए 'बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य' कहने से केवल उपर्युक्त गन्ध आदि पांच विशेष गुण ही आते हैं जो क्रमशः पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश में रहते हैं। अर्थात् पृथिवी आदि पांच ही 'बाह्य-इन्द्रिय-ग्राह्य विशेष गुण वाले' हैं। इस प्रकार बाह्य-इन्द्रिय-ग्राह्य विशेष गुण वाला होना 'भूतत्व' का लक्षण पृथिवी आदि पांचों में घट जायगा तथा और कहीं न जायगा। इस प्रकार वह 'भूतत्व' का निर्दोष लक्षण है।

परन्तु इस लक्षण में भी एक कठिनता आएगी। प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। एक लौकिक सन्निकर्ष द्वारा होने वाला लौकिक प्रत्यक्ष और दूसरा अलौकिक सन्निकर्ष द्वारा होने वाला अलौकिक प्रत्यक्ष। पाँचों इन्द्रियों से गन्ध आदि गुणों का या चक्षु से रूपादि युक्त वस्तुओं का (घट, पट आदि का) साधारणतया सन्निकर्ष होने पर जो प्रत्यक्ष होता है, वह लौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है। परन्तु 'लौकिक प्रत्यक्ष' के अतिरिक्त न्याय-वैशेषिक में 'अलौकिक प्रत्यक्ष' भी माना जाता है जो (i) सामान्यलक्षण और (ii) ज्ञानलक्षण, तथा (iii) योगज, इन तीन प्रकार के सन्निकर्षों से होता है। उसका विशद वर्णन तो ६१ वीं तथा उससे आगे की कारिकाओं में किया गया है, परन्तु उनमें से 'सामान्य लक्षण' का संक्षिप्त विवरण १५ वीं कारिका की व्याख्या में (पृ० ८६ पर) आ चुका है। यहाँ हमें 'ज्ञानलक्षण' सन्निकर्ष से होने वाले अलौकिक प्रत्यक्ष का संक्षिप्त निरूपण करना है। यह माना गया है कि जब हम 'चन्दन' को देखते हैं तो 'सुरभि चन्दनम्' (अर्थात् चन्दन सुगन्धित है) इस प्रकार चन्दन में सुगन्ध का ज्ञान नासिका से उस 'सुगन्ध' का सन्निकर्ष हुए विना भी होता है, जो कि चाक्षुष प्रत्यक्ष माना जाता है। इसी प्रकार जब हमारे सामने 'अङ्गूर' आएँ तो उनका स्वाद लिए विना भी उसके मधुर होने का प्रत्यक्ष चक्षु से होता है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त स्थलों पर सुगन्ध और माधुर्य का प्रत्यक्ष नहीं अपितु स्मृति ही होती है। परन्तु न्याय-वैशेषिक का उत्तर यह है कि ऐसे स्थल पर स्मृति नहीं, प्रत्युत सुगन्ध और माधुर्य का प्रत्यक्ष ही है। यदि ऐसा न मानें तो 'सुरभिचन्दनम्' यह एक ज्ञान नहीं होगा, प्रत्युत प्रत्यक्ष और स्मृतिरूप दो ज्ञान होंगे, और अनुभव से यह एक ही ज्ञान प्रतीत होता है। रही साधारण बुद्धि से विरोध की बात, उसके विषय में न्याय-वैशेषिक का यह उत्तर है कि नाक से साक्षात् सूँघने या रसना से साक्षात् चखने का और उपर्युक्त स्थल पर नेत्र द्वारा हुए सुगन्ध और रस के प्रत्यक्ष में यह अन्तर है कि साक्षात् नाक और रसना द्वारा प्रत्यक्ष लौकिक प्रत्यक्ष है और नेत्र द्वारा सुगन्ध और रस का प्रत्यक्ष अलौकिक है। ऐसा क्यों माना गया है, इसका पूरा विवेचन अलौकिक सन्निकर्ष के प्रकरण में किया जायगा।

'सुरभि चन्दनम्' इस प्रत्यक्ष के समान ही 'ज्ञातो घट:' अर्थात् 'ज्ञान-विशिष्टो घटः' (जाना गया घट अथवा 'ज्ञान हुआ है जिसका ऐसा घट') इस स्थल पर घट का प्रत्यक्ष चक्षु से होता है। उस घट का 'ज्ञान' विशेषण है। 'सुरभिचन्दनम्' में सुगन्ध और चन्दन दोनों ही चक्षु के विषय होते हैं। उसमें चन्दन तो लौकिक 'संयोग' सन्निकर्ष से चक्षु का विषय होता है, परन्तु 'गन्ध' लौकिक सन्निकर्ष से तो चक्षु का विषय नहीं हो सकता, इसलिए उसे अलौकिक 'ज्ञानलक्षण' सन्निकर्ष से चक्षु का विषय मानते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी 'ज्ञानविशिष्ट घट' का चक्षु से प्रत्यक्ष होता है। उसमें से घट तो लौकिक 'संयोग' सन्निकर्ष से चक्षु का विषय हो जाता है। परन्तु 'ज्ञान' का लौकिक सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष केवल मनस् इन्द्रिय द्वारा ही होता है। ज्ञान का लौकिक प्रत्यक्ष (अर्थात् लौकिक सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष) चक्षुरिन्द्रिय से नहीं हो सकता। अतः ज्ञान का चाक्षुष प्रत्यक्ष 'ज्ञानलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकर्ष द्वारा ही माना जाता है। इसलिए 'बहिरिन्द्रिय-ग्राह्य-विशेष-गुणवत्व' इस साधर्म्य रूप लक्षण में यदि 'बहिरिन्द्रिय ग्राह्य' का सीधा अर्थ 'बहिरिन्द्रिय से ग्राह्य (प्रत्यक्ष योग्य) विशेष गुण' किया जाय तो 'ज्ञातो घटः' इस स्थल पर, जैसा कि ऊपर बताया गया है, 'ज्ञान' का भी बहिरिन्द्रिय (चक्षु) से प्रत्यक्ष होता है, और 'ज्ञान' विशेषगुण भी है, इसलिये ज्ञान भी 'बहिरिद्रियग्राह्य विशेषगुण' होगा, उससे युक्त अर्थात् 'बहिरिन्द्रिय-ग्राह्य-विशेष-गुणवत्' आत्मा हुआ। क्योंकि 'ज्ञान' आत्मा में ही रहता है। इस प्रकार 'भूत' का साधर्म्य आत्मा में भी चला जायगा और अतिव्याप्ति दोष आएगा। इसलिए कहा कि 'ग्राह्य' का अर्थ यहाँ 'लौकिक प्रत्यक्ष स्वरूप योग्य' है अर्थात् ऐसा विशेषगुण जिसका लौकिक सन्निकर्ष के द्वारा बहिरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो या जिसमें प्रत्यक्ष की योग्यता हो। 'ज्ञातोघटः' इस स्थल में बाह्य चक्षुरिन्द्रिय से ज्ञान का जो प्रत्यक्ष है वह लौकिक नहीं प्रत्युत अलौकिक (अर्थात् अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा हुआ) है। इसलिए 'ज्ञान' लौकिक सन्निकर्ष से बहिरिन्द्रिय ग्राह्य विशेषगुण नहीं हुआ और इस प्रकार अतिव्याप्ति दोष नहीं आया।

इस लक्षण में एक और भी दोष आता है। पृथ्वी, जल तेजस् और वायु के परमाणु भी 'भूत' हैं, परन्तु उन परमाणुओं में यह साधर्म्य नहीं जाता। क्योंकि परमाणुओं में जो रूप आदि विशेष गुण हैं वे बहिरिन्द्रिय चक्षुरादि से ग्राह्य नहीं हैं। इसीलिये यह माना जाता है कि परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता। इस अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिये यहां 'ग्राह्य' का अर्थ 'लौकिक प्रत्यक्ष स्वरूपयोग्य' किया जाता है अर्थात् 'जो स्वरूपतः प्रत्यक्ष के योग्य हो', वैसे चाहे उसका प्रत्यक्ष न भी होता हो। परमाणु भी स्वरूपतः प्रत्यक्ष योग्य है, परन्तु उसका प्रत्यक्ष इसलिये नहीं होता कि प्रत्यक्ष में महत्त्व (महत्परिमाण) भी कारण है (देखो व्याख्या का० सं० २०) और परमाणु में महत्परिमाण नहीं होता (क्योंकि परमाणु में 'अणु' परिमाण माना जाता है) इसलिये 'ग्राह्य' का अर्थ 'स्वरूपतः लौकिक प्रत्यक्ष योग्य' कर देने से 'अव्याप्ति' दोष दूर हो जाता है।

अथवा, 'आत्माऽवृत्तिगुणवत्त्व' यह भूतत्व' का स्वरूप माना जा सकता है। जिसका अर्थ होगा कि 'आत्मा में न रहने वाले विशेष गुण वाला होना' विशेष गुणों में यदि आत्मा के ज्ञान, इच्छा आदि गुणों को छोड़ दिया जाय तो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पांच विशेष गुण बच रहते हैं जो पांच भूतों में ही रहते हैं। इसलिये कोई दोष नहीं आता।

इसके बाद बतलाया गया कि पाँच भूतों में से चार भूत अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु स्पर्श वाले हैं। अर्थात् इन चारों में ही स्पर्श गुण पाया जाता है जो इन चारों के सिवाय और कहीं नहीं रहता।

कारिका:—द्रव्यारम्भश्चतुर्षु स्यात्।

सि० मु०—पृथिव्यप्तेजोवायुषु चतुर्षु द्रव्यारम्भकत्वं साधर्म्यम्। न च द्रव्यानारम्भके घटादावव्याप्तिः, द्रव्यसमवायिकारणवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

अनु०:—(नये) द्रव्य को उत्पन्न करना चार (भूतों में- पृथिवी, जल, अग्नि और वायु) में रहता है।

पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चारों में 'द्रव्य को उत्पन्न करना' (द्रव्यारम्भकता) नामक साधर्म्य (पाया जाता है)। और यह शङ्का न करनी चाहिये कि (अगले या नए) द्रव्य को उत्पन्न न करने वाले घट आदि में (इस लक्षण की) अव्याप्ति होगी, क्योंकि ('द्रव्यारम्भक होना' रूप साधर्म्य कहने से) 'द्रव्य के समवायिकारण में रहने वाली द्रव्यत्वव्याप्यजाति वाला होना' यह तात्पर्य है।

व्याख्या:—न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में केवल चार द्रव्य पृथिवी, जल, अग्नि, वायु परमाणु वाले द्रव्य हैं। उनसे ही द्व्यणुक आदि क्रम से नये नये द्रव्य उत्पन्न होते हैं। आकाश से लेकर आत्मा पर्यन्त नित्य पदार्थ हैं और उनसे कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। परन्तु परमाणु से लेकर द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि क्रम से कपाल और कपाल से घट तक द्रव्य होते जाते हैं, परन्तु घट को अन्त्यावयवी मानते हैं अर्थात् दो या तीन घटों से मिलकर अन्य कोई नया द्रव्य या अवयवी नहीं बनता। इस प्रकार 'घट' आदि अन्त्य अवयविद्रव्य किसी अगले द्रव्य के 'अवयव' नहीं होते। इसलिए वे अन्त्यावयवी हैं और उनसे आगे कोई द्रव्य नहीं बनता। ऐसी दशा में 'द्रव्य उत्पन्न करना' यह पृथिवी आदि चार द्रव्यों में रहने वाला साधर्म्य अन्त्यावयवी घट आदि में (जो कि पृथिवी आदि द्रव्य ही हैं) नहीं जायगा। इस प्रकार अव्याप्ति दोष हो जायगा। इस पर कहते हैं कि साधर्म्य के लक्षण का परिष्कार यह कर लेंगे कि 'द्रव्य के समवायिकारण में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना'। द्रव्यत्व-व्याप्य पृथिवीत्व आदि नौ जातियाँ या उपाधियाँ हैं उनमें से 'द्रव्य के समवायिकारण में रहने वाली केवल चार जातियाँ पृथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व और वायुत्व ही हैं, शेष पाँचों पदार्थों में से आकाश, काल, और दिक् के एक होने से उनमें तो जाति ही नहीं रहती, और 'आत्मत्व' तथा 'मनस्त्व' जातियां आत्मा और मनस् में रहती हैं जो कि समवायिकारण कदापि नहीं होते। इस प्रकार साधर्म्य का उपर्युक्त स्वरूप कर देने से 'पृथिवीत्व' आदि चार जातियां ही आएँगी। अन्त्यावयवी घट आदि यद्यपि नए घट को उत्पन्न नहीं करते, पर उनमें 'पृथिवीत्व' जाति

रहती है जोकि द्रव्यत्वव्याप्य जाति है और द्रव्य के समवायिकारण (द्व्यणुक, त्र्युणक आदि) में रहने वाली हैं। इस प्रकार दोष निवारण हो जाता है।

आलोचना:— यहां यह विचारणीय है कि 'न्याय-वैशेषिक' का अन्त्यावयवी का सिद्धान्त कहाँ तक बुद्धिसंगत है। किसी भी द्रव्य को अन्त्यावयवी कैसे कहा जा सकता है? दो या अधिक द्रव्यों के मिलने से अगला द्रव्य नहीं बनेगा, इसमें क्या प्रमाण है? उदाहरणार्थ अनेक घटों को मिलाकर एक 'घट-नौका' बन सकती है जो कि उसी प्रकार नया द्रव्य माना जा सकता है जैसे कि दो कपालों के संयोग से बना हुआ घट, या अनेक तन्तुओं के संयोग से बना हुआ पट एक अलग द्रव्य है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'घट-नौका' केवल घटों का समूह मात्र है और उसमें कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि इस प्रकार तो 'पट' को भी 'तन्तुओं का समूहमात्र' माना जा सकता है। ऐसा क्यों समझा जाय कि 'पट' कोई नया द्रव्य उत्पन्न होगया है। यदि यह कहा जाय कि 'पट' की तन्तुओं से अलग प्रतीति होती है और शरीर का आवरण आदि काम जो केवल तन्तुओं से नहीं हो सकता, वह 'पट' से होता है, इसलिए पट को अलग द्रव्य माना जाता है तो यह बात तो 'घट-नौका' के विषय में भी कही जा सकती है। उसकी घड़ों से अलग प्रतीति होती है और पानी में कई आदमियों का ऊपर बैठकर तरने आदि का काम जो एक घड़े से नहीं हो सकता वह 'घट नौका' से हो सकता है। वस्तुतः 'अन्त्यावयवी' कहाँ पर माना जाय, इस विषय में न्याय-वैशेषिक के पास कोई निश्चित आधार नहीं प्रतीत होता।

का०— ....अथाकाशशरीरिणाम्।

अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेषगुण इष्यते ॥२७

सि० मु०:— आकाशशरीरिणामिति। आकाशात्मना-मव्याप्यवृत्तिक्षणिकविशेषगुणवत्त्वं साधर्म्यमित्यर्थः आकाशस्य विशेषगुणः शब्दः, स चाव्याप्यवृत्तिर्यदा

किञ्चिदवच्छेदेन शब्द उत्पद्यते तदाऽन्यावच्छेदेन तदभावस्यापि सत्त्वात् । क्षणिकत्वञ्च तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम् । योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्त्तिविशेषगुणनाश्यत्वात् प्रथमशब्दस्य द्वितीयशब्देन नाशः, एवं ज्ञानादीनामपि । ज्ञानादिकं हि यदाऽऽत्मनि विभौ शरीराद्यवच्छेदेनोत्पद्यते तदा घटाद्यवच्छेदेन तदभावोऽस्त्येव । एवं ज्ञानादिकमपि क्षणद्वयावस्थायि । इत्थं चाऽव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्वं क्षणिकविशेषगुणवत्त्वं चाऽर्थः । पृथिव्यादौ रूपादि विशेषगुणोऽस्तीत्यतोऽव्याप्यवृत्तीत्युक्तम् । पृथिव्यादावव्याप्यवृत्तिः संयोगादिरस्तीत्यतो विशेषगुणेत्युक्तम् ।

अनु०— एक देश में रहने वाला अव्याप्यवृत्ति) तथा क्षणिक विशेष गुण आकाश और आत्मा का साधर्म्य है ।

'आकाश शरीरिणाम्' इत्यादि अंश की टीका करते हैं । आकाश और आत्मा का अव्याप्यवृत्ति तथा क्षणिक विशेष गुणवाला होना साधर्म्य है, ऐसा अर्थ हुआ । आकाश का विशेष गुण शब्द है, और वह अव्याप्यवृत्ति (एक देश में रहने वाला) है । जिस समय किसी (वस्तु विशेष) के अवच्छेद से (अर्थात् उससे अवच्छिन्न=विशिष्ट आकाश के प्रदेश में) शब्द उत्पन्न होता है, उसी समय दूसरी वस्तु के अवच्छेद से (अर्थात् उससे अवच्छिन्न-विशिष्ट प्रदेश में) उसका (शब्द का) अभाव भी होता है । क्षणिकत्व का अर्थ है कि (अपनी उत्पत्ति से) तृतीय क्षण में होने वाले ध्वंस (नाश) का प्रतियोगी होना (अर्थात् जिसका नाश अपनी उत्पत्ति से तृतीय क्षण में हो जावे) । (यह नियम है कि) 'विभु' पदार्थ के ऐसे विशेष गुण जो प्रत्यक्ष योग्य नहीं, अपने से बाद में उत्पन्न होने वाले गुण से नाश को प्राप्त होते हैं, इसलिए प्रथम शब्द का द्वितीय शब्द से नाश होता है । इसी प्रकार

ज्ञान आदि (आत्मा के विशेष गुणों) का भी अव्याप्यवृत्तित्व और क्षणिकत्व है। जब ज्ञान आदि (गुण) विभु (सर्वव्यापक) आत्मा में शरीरादि के अवच्छेद से (अर्थात् शरीरादि विशिष्ट प्रदेश में) उत्पन्न होते हैं, तब घटादि के अवच्छेद से (अर्थात् घटादि विशिष्ट प्रदेश में) उनका अभाव भी रहता है। इसी प्रकार ज्ञान आदि भी दो क्षण रहते हैं। इस प्रकार एक देश में रहने वाले (अव्याप्यवृत्ति) विशेष गुणों से युक्त होना और क्षणिक विशेष गुणों से युक्त होना (ये दोनों आकाश और आत्मा के साधर्म्य हैं) यह अर्थ हुआ। पृथिवी आदि में रूप आदि विशेषगुण विद्यमान हैं इसलिये 'एक देश में रहने वाला' (अव्याप्यवृत्ति) यह कहा गया, (अर्थात् 'विशेष गुण' के साथ 'अव्याप्यवृत्ति' जोड़ना आवश्यक हुआ)। पृथिवी आदि में 'एक देश में रहने वाले, संयोग आदि रहते हैं इसलिये 'विशेषगुण' ऐसा कहा (अर्थात् 'अव्याप्यवृत्ति' के साथ 'विशेषगुण' जोड़ना आवश्यक हुआ)

व्याख्याः— यहाँ यह बताया गया कि आकाश और आत्मा में यह साधर्म्य है कि उन दोनों में रहने वाले विशेष गुण अव्याप्यवृत्ति और क्षणिक होते हैं। अर्थात् (१) अव्याप्यवृत्ति विशेष गुण वाला होना और, (२) क्षणिक विशेष गुण वाला होना यह उन दोनों का साधर्म्य है। 'अव्याप्यवृत्ति' गुण का अर्थ है कि ऐसा गुण जो आधारभूत वस्तु में सम्पूर्ण रूप से 'व्याप्त' होकर न रहता हो, प्रत्युत उस वस्तु के केवल एक देश में रहता हो। उदाहरणार्थ 'घट' का रूप सम्पूर्ण घट में व्याप्त होकर रहता है। दूध का गुण अर्थात् उसका रस सम्पूर्ण दूध में रहता है। पर कुछ गुण ऐसे भी होते हैं जो वस्तु के केवल एक देश में रहते हैं। जैसे 'संयोग' एक देश में रहने वाला (अव्याप्यवृत्ति) गुण है:— कपि और वृक्ष का संयोग कपि और वृक्ष में रहता है, वह सम्पूर्ण कपि या सम्पूर्ण वृक्ष में व्याप्त होकर नहीं रहता प्रत्युत उनके एक देश में ही रहता है। इसी प्रकार आकाश का गुण शब्द है, वह भी अव्याप्यवृत्ति है अर्थात् एक देश में ही होता है। जिस समय 'घण्टा से अवच्छिन्न' प्रदेश में शब्द होता है उसी समय घण्टा से रहित आकाश के दूसरे प्रदेश में शब्द का अभाव भी विद्यमान रहता है। इसलिए शब्द 'अव्याप्यवृत्ति' विशेषगुण है।

शब्द 'क्षणिक' भी है। परन्तु न्याय-वैशेषिक शास्त्र में 'क्षणिक' का अर्थ बौद्धों के 'क्षणिक' के अर्थ से भिन्न है। बौद्धों के मत में 'क्षणिक' का अर्थ है कि 'उत्पत्ति' से अगले क्षण में अर्थात् द्वितीय क्षण में ही नष्ट होने वाला, परन्तु न्याय-वैशेषिक में किसी भी पदार्थ का द्वितीय क्षण में नाश नहीं मानते। वे जिस पदार्थ को 'क्षणिक' मानते हैं उसके विषय में भी यह सिद्धान्त है कि पहिले क्षण में उसकी उत्पत्ति होती है और द्वितीय क्षण में स्थिति और तृतीय क्षण में नाश होता है। अर्थात् उत्पत्ति के सिवाय एक 'स्थिति' का भी क्षण है। परन्तु बौद्धों के मत में उत्पत्ति के सिवाय स्थिति का कोई क्षण नहीं। इसलिए न्याय-वैशेषिक में 'क्षणिक' का अर्थ यह होता है कि जो 'तृतीय क्षण में रहने वाले ध्वंस (नाश) का प्रतियोगी हो'। यह बता ही चुके हैं कि जिसका नाश कहा जाय वही उस नाश का प्रतियोगी होता है। इस प्रकार 'तृतीय क्षण में रहने वाले ध्वंस का प्रतियोगी' इसक तात्पर्य यही हुआ कि जिसका तृतीय क्षण में नाश हो जाता हो। शब्द के विषय में न्याय-वैशेषिक का मत यह है कि जो शब्द घण्टा देश में उत्पन्न होता है वही शब्द चलकर हमारे कान तक नहीं पहुंचता, प्रत्युत वह शब्द अगले शब्द को उत्पन्न करता है और उस अगले शब्द से पहिले शब्द का नाश हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द पहिले क्षण में उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में अगले शब्द को उत्पन्न करता है और तीसरे क्षण में अगले शब्द के द्वारा नष्ट हो जाता है। इस प्रकार शब्द तीसरे क्षण में रहने वाले अपने नाश का प्रतियोगी होने से क्षणिक है। अतः आकाश का विशेषगुण शब्द अव्याप्यवृत्ति भी है और क्षणिक भी है।

इसी प्रकार आत्मा के विशेषगुण ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि भी अव्याप्यवृत्ति और क्षणिक हैं, क्योंकि आत्मा तो सर्वव्यापक है, परन्तु 'ज्ञान' आत्मा के उसी प्रदेश में उत्पन्न होता है जो कि 'शरीर से अवच्छिन्न' है अर्थात् आत्मा के जिस प्रदेश में उस आत्मा का अपना शरीर विद्यमान है। जिस प्रदेश में घट है, आत्मा तो उस प्रदेश में भी है परन्तु वहां ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार आत्मा के विशेष गुण ज्ञान आदि आत्मा के एक

देश में रहने वाले हैं अर्थात् 'अव्याप्यवृत्ति हैं। इसी प्रकार 'ज्ञान' आदि भी केवल दो क्षण रहते हैं और तृतीय क्षण में उनका नाश हो जाता है। जहां किसी वस्तु 'घट' आदि का ज्ञान लगातार कुछ देर तक रहता प्रतीत होता हो, वहां भी यही समझना चाहिए कि वह एक ही ज्ञान नहीं होता, परन्तु उसी ज्ञान से उसी प्रकार का दूसरा ज्ञान और फिर उससे अगला ज्ञान उत्पन्न होता रहता है। इस प्रकार तृतीय क्षण में नाश वाला होने से ज्ञान भी 'तृतीय क्षण वृत्ति ध्वंस का प्रतियोगी' अर्थात् 'क्षणिक' है। इस प्रकार आत्मा के विशेष गुण 'ज्ञान' आदि भी अव्याप्यवृत्ति और क्षणिक हैं। अतः (१) अव्याप्यवृत्ति विशेष गुण वाला होना और (२) क्षणिक विशेष गुण वाला होना आकाश और आत्मा का साधर्म्य है।

यहां पर यदि केवल 'विशेषगुण' इतना ही साधर्म्य कहते तो विशेषगुण रूप आदि पृथिवी आदि में भी पाये जाते हैं और उनमें भी साधर्म्य की अतिव्याप्ति हो जाती, इसलिए 'अव्याप्यवृत्ति' यह भी साथ में जोड़ दिया। पृथिवी आदि के विशेषगुण रूप आदि अव्याप्यवृत्ति नहीं प्रत्युत व्याप्यवृत्ति हैं, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। इसी प्रकार यदि साधर्म्य में केवल 'अव्याप्यवृत्ति' गुण इतना ही कहते अर्थात् 'विशेषगुण' अंश न जोड़ते तो संयोग आदि गुण भी अव्याप्यवृत्ति हैं, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। और, संयोग आदि गुणवाले पृथिवी आदि में भी साधर्म्य की अतिव्याप्ति हो जाती। इसलिए 'विशेषगुण' अंश साथ में जोड़ दिया। 'संयोग' आदि 'अव्याप्यवृत्ति' होने पर भी 'विशेषगुण' नहीं, इसलिये पृथ्वी आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

सि० मु०:— न च रूपादीनामपि कदाचित्तृतीयक्षणे नाशसम्भवात् क्षणिकविशेषगुणवत्त्वं क्षित्यादावतिव्याप्तमिति वाच्यम्, चतुःक्षणवृत्तिजन्यावृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्वस्य तदर्थत्वात्। अपेक्षाबुद्धिः क्षणत्रयं तिष्ठति, क्षणचतुष्टयं तु न

किमपि जन्यज्ञानादिकं तिष्ठति । रूपत्वादिकं तु क्षणचतुष्टय-स्थायिन्यपि रूपादौ वर्तत इति तद्व्युदासः । ईश्वरज्ञानस्य चतुःक्षणवृत्तित्वाज्ज्ञानत्वस्य तद्वृत्तित्वाज्जन्येत्युक्तम् । यद्या-काशजीवात्मनोः साधर्म्यं तदा जन्येति न देयम्, द्वेषत्वादिक-मादाय लक्षणसमन्वयात् परममहत्त्वस्य तादृशगुणत्वात् चतुर्थ-क्षणे द्वित्वादीनामपि नाशाभ्युपगमाद् द्वित्वादीनामपि तथा-त्वात्तद्वारणाय विशेषति । त्रिक्षणवृत्तित्वं वा वक्तव्यम् । द्वेषत्वादिकमादायात्मनि लक्षणसमन्वयः ।

अनु०:— और न यह शङ्का करनी चाहिये कि रूप आदि का भी कदाचित् तृतीय क्षण में नाश सम्भव है इसलिए क्षणिकविशेषगुणवत्त्व (रूप आदि से युक्त) पृथ्वी आदि में अतिव्याप्त होगा, क्योंकि 'चार क्षण रहने वाले जन्य (अर्थात् उत्पन्न होने वाले, कार्य) पदार्थ में न रहने वाली जाति वाले विशेषगुण से युक्त होना' उसका (क्षणिकविशेषगुणवत्त्व का) अर्थ है । 'अपेक्षा बुद्धि' (देखो व्याख्या) तीन क्षण रहती है (परन्तु) चार क्षण कोई भी जन्यज्ञान आदि नहीं रहता । रूपत्व आदि तो चार क्षण रहने वाले रूप आदि में भी रहता है इसलिए उसकी व्यावृत्ति हो जाती है । ईश्वर का ज्ञान (नित्य होने से) चार क्षण रहता है और 'ज्ञानत्व' (जाति) उसमें भी (ईश्वर के ज्ञान में भी) रहती है इसलिए (साधर्म्य के स्वरूप में) 'जन्य' यह डाल दिया (ईश्वर का ज्ञान 'जन्य' नहीं है प्रत्युत नित्य है) । परन्तु यदि आकाश और (केवल) जीवात्मा का साधर्म्य कहना हो तो 'जन्य' यह विशेषण देने की आवश्यकता नहीं, 'द्वेषत्व' आदि जाति को लेकर (साधर्म्य रूप) लक्षण घट जायगा । परन्तु 'परममहत्त्व' वैसा (अर्थात् यदि 'विशेष गुण' यह अंश न रक्खें तो 'चार क्षण रहने वाले जन्य पदार्थ में न रहने वाली जाति वाला) गुण है और चतुर्थ क्षण

में 'द्वित्व' आदि का भी नाश माना जाता है इसलिए 'द्वित्व' आदि भी वैसे गुण होंगे, उनकी व्यावृत्ति करने के लिए 'विशेषगुण' यह अंश भी साधर्म्य में डाला गया। अथवा ('चतुःक्षणवृत्ति' इसके बदले) 'त्रिक्षण-वृत्ति' कहा जा सकता है और 'द्वेषत्व' जाति को लेकर (साधर्म्य) लक्षण घट जायगा।

व्याख्या:— ऊपर क्षणिक का अर्थ किया है कि जिसका तृतीय क्षण में नाश हो जाता हो। कभी कभी किसी रूप आदि का भी किसी विशेष कारण से तृतीय क्षण में नाश होना सम्भव है। ऐसी दशा में 'रूप' आदि भी क्षणिक विशेष गुण हो जाएँगे और उन रूप आदि से युक्त पृथिवी आदि में साधर्म्य की अतिव्याप्ति होगी। इसलिए 'क्षणिकविशेषगुणवत्त्व' के स्वरूप का परिष्कार इस प्रकार किया गया कि 'जो चार क्षण रहने वाले किसी भी जन्य (उत्पन्न होने वाले) पदार्थ में न रहने वाली जाति वाले विशेष गुण से युक्त हो।' रूप आदि विशेष गुण, यह हो सकता है कि कभी तृतीय क्षण में ही नष्ट हो जावें। परन्तु रूप में 'रूपत्व' जाति रहती है वह तीन, चार या अधिक क्षण रहने वाले 'रूप' में भी तो रहती है। इसलिए कदाचित् तृतीय क्षण में रूप आदि का नाश होने पर भी दोष न आएगा। परन्तु 'चार क्षण रहने वाले जन्य ....' इत्यादि अंश में 'चार क्षण' क्यों कहा, तीन क्षण कहने से भी काम चल जाता, क्योंकि 'रूपत्व, जाति 'तीन क्षण रहने वाले' जन्य पदार्थ में न रहने वाली जाति हो यह बात नहीं है। परन्तु यहां यदि 'तीन क्षण' डालें, तो विशेष गुण ज्ञान भी साधर्म्य न हो सकेगा क्यों-कि साधारणतया ज्ञान दो क्षण ही रहता है और तृतीय क्षण में उसका नाश हो जाता है, परन्तु 'अपेक्षा बुद्धि' नामक ज्ञान तीन क्षण रहता है और ज्ञानत्व जाति 'अपेक्षा बुद्धि' (बुद्धि=ज्ञान) में भी रहती है। दो पदार्थों के देखने पर 'यह एक है', 'यह एक है', इस प्रकार का इकट्ठा ज्ञान अपेक्षा बुद्धि का स्वरूप है। अपेक्षा बुद्धि का स्वरूप ही इस प्रकार का है कि उसको तीन क्षण रहने वाला मानना पड़ता है। परन्तु चार क्षण कोई जन्य (उत्पन्न हुआ) ज्ञान नहीं रहता, इस प्रकार चार क्षण रहने वाले किसी जन्य पदार्थ में न रहने वाली

ज्ञानत्व जाति है, उससे युक्त ज्ञान यहां पर साधर्म्य रूप से कहे गए विशेष गुण में आजायगा। यहां 'चार क्षण रहने वाले जन्य (उत्पन्न हुए) पदार्थ में न रहने वाली' इस स्थल पर 'जन्य' शब्द इसलिये डाला कि ईश्वर का ज्ञान जो कि नित्य है अतएव चार क्षण रहने वाला है, उसमें भी 'ज्ञानत्व' जाति रहती है। इसलिए यदि 'जन्य' शब्द न डालते तो 'चार क्षण रहने वाले पदार्थ में न रहने वाली' 'ज्ञानत्व' जाति न हो सकती। परन्तु 'जन्य' डालने से दोष दूर हो गया, क्योंकि 'ज्ञानत्व' जाति, नित्य 'ज्ञान' पदार्थ में रहने पर भी चार क्षण रहने वाले जन्य पदार्थ में नहीं रहती। 'आत्मन्' शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही आ जाते हैं। परन्तु यहां यदि परमात्मा न लेकर केवल 'जीवात्मा' और 'आकाश' का ही साधर्म्य कहना अभीष्ट हो तो 'जन्य' पद डालने की आवश्यकता नहीं; यद्यपि 'जन्य' पद न डालने से जैसा कि उपर बताया गया है कि 'चार क्षण रहने वाले पदार्थ में न रहने वाली' जाति ज्ञानत्व न हो सकेगी, परन्तु उस प्रकार की जाति 'द्वेषत्व' हो जायगी और 'द्वेषत्व' जाति जिसमें रहती हो ऐसा 'द्वेष' जीवात्मा का क्षणिक विशेष गुण है। परन्तु यदि 'ईश्वर' को भी आत्मा के अन्तर्गत लेना हो तो ईश्वर में 'द्वेष' न रहने से 'क्षणिक विशेष गुण' से ज्ञान ही लेना होगा और उस दशा में 'जन्य' शब्द डालना आवश्यक होगा, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है।

अब यह प्रश्न उठता है कि 'क्षणिक' पद के इस प्रकार परिष्कार करने के बाद क्षणिक के साथ 'विशेष गुण' डालने की क्या आवश्यकता है? इस का उत्तर यह है कि 'चार क्षण रहने वाले किसी भी जन्य पदार्थ में न रहने वाली जाति वाला 'परममहत्त्व' गुण है क्योंकि परममहत्त्व में 'परममहत्त्वत्व' जाति रहती है। वह किसी भी चार क्षण रहने वाले जन्य पदार्थ (घट आदि) में नहीं रहती, प्रत्युत 'परममहत्त्व' गुण में ही रहती है, वह चार क्षण रहने वाला जन्य पदार्थ नहीं है अर्थात् यद्यपि नित्य होने से 'परममहत्त्व' गुण चार क्षण तो रहता है, पर 'जन्य' नहीं है। इस प्रकार 'परममहत्त्व' वैसा गुण होगा। इसके सिवाय 'द्वित्व' आदि भी ऐसे गुण हैं जिनका चतुर्थ क्षण

में नाश माना जाता है। इस लिए ऐसा गुण द्वित्व भी होगा। इस लिए 'परममहत्त्व' और 'द्वित्व' की व्यावृत्ति करने के लिए साधर्म्य में 'विशेष गुण' भी 'क्षणिक' के साथ डालना आवश्यक हुआ।

अथवा यहां पर 'चतुःक्षणवृत्तिजन्यावृत्तिजातिमत्' इसमें 'चतुःक्षणवृत्ति' को जगह 'त्रिक्षणवृत्ति' कर देना चाहिए। और उस दशा में 'जन्य' डालने की भी आवश्यकता न रहेगी, अर्थात् 'त्रिक्षणवृत्यवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्व' कहना होगा, क्योंकि तीन क्षण में रहने वाले किसी पदार्थ में न रहने वाली जाति 'द्वेषत्व' होगी, 'द्वेषत्व' जाति केवल 'द्वेष' में रहती है जो केवल दो क्षण रहता है। 'द्वेषत्व' जाति तीन क्षण रहने वाले किसी पदार्थ में नहीं रहती, इसलिए 'द्वेष' ऐसा क्षणिक विशेष गुण है जो कि 'जीवात्मा' में रहता हैं। इस प्रकार 'चतुःक्षणवृत्ति' की जगह 'त्रिक्षणवृत्ति' डालने और 'जन्य' पद हटा लेने से आकाश और जीवात्मा का साधर्म्य कहा जायगा।

का०:— रूपद्रवत्वप्रत्यक्षयोगिनः प्रथमास्त्रयः।

सि० मु० :—पृथिव्यप्तेजसां रूपवत्त्वं द्रवत्ववत्त्वं प्रत्यक्षविषयत्वं च साधर्म्यमित्यर्थः। न च चक्षुरादीनां भर्जनकपालस्थवह्नेरूष्मणश्च रूपवत्त्वे किं मानमिति वाच्यम्, तत्रापि तेजस्त्वादिना रूपानुमानात्। एवं वाय्वानीतपृथिवीजलतेजोभागानामपि पृथिवीत्वादिना रूपानुमानं बोध्यम्। न च घटादौ द्रुतसुवर्णादिभिन्ने तेजसि च द्रवत्ववत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यम्, द्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। घृतजतुप्रभृतिषु पृथिवीषु, जलेषु, द्रुतसुवर्णादौ तेजसि च द्रवत्वसत्त्वात्तत्र च पृथिवीत्वादिसत्त्वात्तदादाय सर्वत्र लक्षणसमन्वयः। न च प्रत्यक्षविषयत्वं परमाण्वादावव्याप्त-

मतिव्याप्तं च रूपादाविति वाच्यम् चाक्षुषप्रत्यक्ष-विषयवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय चाक्षुषेति ।

अनु०— पहिले तीन (पृथ्वी, जल, तेजस्) रूपयुक्त, द्रवत्वयुक्त और प्रत्यक्ष के विषय होते हैं ।

पृथिवी, जल और तेजस् रूप वाले, द्रवत्व वाले और प्रत्यक्ष के विषय होते हैं । यह शङ्का न करनी चाहिए कि चक्षु आदि, भूनने के कपाल (खपरे) में स्थित अग्नि और गर्मी (*heat*) के रूप वाला होने में क्या प्रमाण है । (उत्तर देते हैं कि) उनमें भी 'तेजस्त्व' होने से (अर्थात् उन उन पदार्थों के अग्नि होने से) उनमें 'रूप' का अनुमान किया जाता है । इसी प्रकार वायु (वेग) से उड़ाए हुए पृथिवी, जल और तेजस् के अंशों में भी (यद्यपि प्रत्यक्ष से रूप प्रतीत नहीं होता) पृथिवीत्व आदि होने से रूप का अनुमान करना चाहिये । और न यह शङ्का करनी चाहिए कि घट आदि में और पिघले हुए सुवर्णादि से भिन्न तेजस् में 'द्रवत्व गुण वाला होना' (द्रवत्ववत्) साधर्म्य अव्याप्त है (अर्थात् नहीं रहता), क्योंकि 'द्रवत्व गुण वाले में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' द्रवत्ववत् का अर्थ है । घृत, लाख आदि पृथिवी में, जल में और पिघले हुए सुवर्ण में द्रवत्व (गुण) होने से वहां पर पृथिवीत्व आदि होने से उसको लेकर सर्वत्र लक्षण घट जायगा । और न यह शङ्का करनी चाहिए कि 'प्रत्यक्ष-विषय होना' परमाणु आदि में अव्याप्त है और रूप आदि में अतिव्याप्त है । क्योंकि 'चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' उसका (प्रत्यक्ष-विषय होने का) अर्थ है । आत्मा में अतिव्याप्ति हटाने के लिए (प्रत्यक्ष विषय में) 'चाक्षुष' जोड़ दिया ।

व्याख्याः— यहां यह बतलाया गया कि पृथिवी, जल और अग्नि इन तीन द्रव्यों का साधर्म्य है— रूपवत्त्व, द्रवत्ववत्त्व और प्रत्यक्ष का विषय

होना। यह स्पष्ट है कि नौ द्रव्य हैं उनमें से केवल पृथ्वी आदि तीन द्रव्य ही रूपवाले हैं। शेष वायु से लेकर आत्मा तक सभी रूपरहित हैं। इसी प्रकार द्रवत्व (liquidity) अर्थात् तरलता भी इन्हीं तीन में पाई जाती है क्योंकि जितने द्रव पदार्थ हैं वे पृथिवी आदि तीन में से ही कोई एक द्रव्य होंगे। घृत, तेल, लाख आदि पृथिवी द्रवत्व युक्त हैं और जल तो (बर्फ आदि की अवस्था को छोड़कर) द्रवत्वयुक्त दशा में ही पाया जाता है। 'सुवर्ण' को तेजस् माना जाता है और सुवर्ण पिघला हुआ भी होता है। इस प्रकार अग्नि भी द्रवत्व युक्त होती है। इसी प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय भी केवल पृथिवी आदि तीन ही हैं। ध्यान रखना चाहिये कि यहां प्रत्यक्ष का अभिप्राय केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष है, क्योंकि मानस-प्रत्यक्ष तो आत्मा का भी माना जाता है।

यहां यह शङ्का होती है कि 'चक्षु' जो कि तैजस है तथा भाड़ के अन्दर की अग्नि और गरमी, इन तीनों में 'रूप' नहीं है अतः वहां अव्याप्ति होगी। इसका उत्तर यह दिया गया कि ये तैजस हैं, इसलिये इनमें रूप प्रतीत न होने पर भी रूप का अनुमान कर लेना चाहिए। इसी प्रकार वायु में उड़ते हुए अथवा वायु में मिले हुए पृथिवी, जल, और तेजस् के कणों में भी रूप प्रतीत नहीं होता, उसके विषय में भी वही उत्तर है कि उन कणों के 'पृथिवी' आदि होने से उनमें रूप का अनुमान कर लेना चाहिए। इसके बाद यह शङ्का उठाई कि 'द्रवत्व' गुण सब पृथिवी में (अर्थात् घट आदि में) नहीं पाया जाता और पिघले हुए सुवर्ण को छोड़कर 'अग्नि' में भी अन्यत्र नहीं पाया जाता। इसका उत्तर 'द्रवत्ववत्' का यह परिष्कार करके दिया गया कि 'द्रवत्व गुण जिन वस्तुओं में रहता है उनमें रहने वाली द्रव्यत्वव्याप्य जाति वाला होना'। द्रवत्व के साथ रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जातियां पृथिवीत्व, जलत्व, और तेजस्त्व ये तीन ही हैं इस लिये अव्याप्ति का दोष दूर हो जाता है। यह भी शङ्का होती है कि 'प्रत्यक्ष-विषय होना' परमाणु में अव्याप्त है अर्थात् पृथिवी, जल, तेजस् के परमाणु प्रत्यक्ष के विषय नहीं, उनमें यह साधर्म्य नहीं जायगा। इसी प्रकार 'रूप'

गुण या 'आदि' से रूपत्व जाति भी (जो कि पृथिवी, जल, तेजस् इन तीन द्रव्यों से भिन्न है) प्रत्यक्ष के विषय हैं। इसलिए 'प्रत्यक्ष का विषय होना' यह साधर्म्य रूप आदि में भी चला जायगा। इसलिए 'प्रत्यक्ष-विषय होने' का परिष्कार इस प्रकार करते हैं कि 'चाक्षुष प्रत्यक्ष में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जातिवाला होना'। यह स्पष्ट है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जातियां केवल पृथिवीत्व, जलत्व और तेजस्त्व यह तीन ही होंगी, और ये जातियां क्योंकि परमाणुओं में रहती हैं इसलिए वहां भी अव्याप्ति नहीं होगी, तथा ये जातियां 'रूप' या 'रूपत्व' में नहीं रहती इसलिए वहां भी अतिव्याप्ति नहीं होगी।

का०-गुरुणी द्वे रसवती द्वयोर्नैमित्तिको द्रवः॥२८

सि० मु०:— गुरुणी इति। गुरुत्ववत्त्वं रसवत्त्वं च पृथिवीजलयोरित्यर्थः। न च घ्राणेन्द्रियादीनां वाय्वानीतपार्थिवादिभागानां च रसादिमत्वे किं मानमिति वाच्यम्, तत्रापि पृथिवीत्वादिना तदनुमानात्। द्वयोरिति। पृथिवीतेजसोरित्यर्थः। न च नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्वं घटादौ वह्न्यादौ चाव्याप्तमिति वाच्यम्, नैमित्तकद्रवत्वसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

अनु०— दो (पृथिवी और जल) गुरु (भार युक्त) और रसवाले हैं।

'गुरुणी' इस अंश की टीका करते हैं। गुरुत्व वाला होना (भार रखना), और रसवाला होना पृथिवी और जल का (साधर्म्य है), यह अर्थ है। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि घ्राणेन्द्रिय आदि तथा वायु से उड़ाए गये पृथिवी आदि के अंशों के रसादि वाला होने के विषय में क्या प्रमाण है, क्योंकि उन कणों में पृथिवीत्व आदि होने से उसका (रसादि का) अनुमान किया जाता है। 'द्वयोः' इस अंश की टीका करते हैं।

पृथिवी और तेजस् का (साधर्म्य नैमित्तिक द्रवत्व वाला होना है); ऐसा अभिप्राय है। यह शङ्का न करनी चाहिए कि 'नैमित्तिक द्रवत्व वाला होना' घट आदि में और अग्नि आदि में अव्याप्त है, क्योंकि 'नैमित्तिक द्रवत्व के साथ रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' 'द्रवत्ववत्त्व' का अर्थ अभिप्रेत है।

व्याख्या:—न्याय-वैशेषिक में 'गुरुत्व' (भार) पृथिवी और जल में ही माना जाता है। सुवर्ण तैजस पदार्थ है इसलिए उसका भार पार्थिव अंशों के कारण है, ऐसा मानना पड़ेगा। इसी प्रकार पृथिवी और जल इन दोनों में ही 'रस' माना जाता है अर्थात् जल में मधुर रस और पृथिवी में नाना प्रकार के रस रहते हैं। पृथिवी और जल के कण जो कि वायु में उड़ते रहते हैं और जिनमें 'रस' की प्रतीति नहीं होती उनमें भी 'रस' होने का अनुमान कर लेना चाहिए।

ऊपर यह आ चुका है कि 'द्रवत्व' गुण पृथिवी, जल और तेजस् इन तीन में रहता है। उनमें से 'जल' में तो स्वाभाविक 'द्रवत्व' होता है, और जहाँ 'हिम' आदि की अवस्था में जल में 'काठिन्य' पाया जाता है वह किसी विशेष निमित्त से होता है, ऐसा माना गया है। परन्तु पृथिवी और तेजस् में जो 'द्रवत्व' गुण है वह स्वाभाविक नहीं प्रत्युत किसी विशेष निमित्त से होता है। पार्थिव घृत, तेल, लाख आदि में, तथा तैजस सुवर्ण में जो 'द्रवत्व' होता है वह किसी निमित्त से ही होता है। इसलिए 'नैमित्तिक-द्रवत्व वाला होना' पृथिवी और तेजस् का साधर्म्य है। घट आदि पृथिवी, तथा चूल्हे में जलने वाली अग्नि में यद्यपि 'द्रवत्व' नहीं है, तथापि वहां अव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि परिष्कृत अर्थ के करने पर उनमें भी 'नैमित्तिक द्रवत्व के साथ रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति' अर्थात् पृथिवीत्व या तेजस्त्व विद्यमान है।

का०—आत्मानो भूतवर्गाश्च विशेषगुणयोगिनः।

सि० मु०— पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मनां विशेषगुण-वत्त्वमित्यर्थः।

अनु०—आत्मा और भूत विशेष गुण वाले होते हैं।

पृथिवी, जल, तेजस्, वायु, आकाश और आत्मा इनका विशेषगुणवत्व (साधर्म्य) है, ऐसा अर्थ है।

व्याख्या:— गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द तथा स्नेह और सांसिद्धिक द्रवत्व, तथा ज्ञानादि छै, तथा धर्म, अधर्म और भावना ये गुण विशेषगुण कहलाते हैं। यह स्पष्ट है कि ये विशेष गुण पांचों भूतों में और आत्मा में रहते हैं। इस प्रकार पांच भूत और आत्मा को छोड़कर शेष द्रव्यों में— दिक् काल और मनस् में कोई विशेष गुण नहीं पाए जाते। विशेष गुण वे हैं जो कि किसी खास द्रव्य में रहें, सामान्य गुण वे हैं जो सामान्य रूप से कई जगह पाए जायँ। जैसे, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग ऐसे गुण हैं जो सभी द्रव्यों में पाए जाते हैं, इसलिए वे सामान्य गुण कहलाते हैं। तथा परत्व और अपरत्व भी सामान्य गुण हैं।

का०—यदुक्तं यस्य साधर्म्यं वैधर्म्यमितरस्य तत् ॥२६

सि० मु०—ज्ञेयत्वादिकं विहायेतिबोध्यम् । तत्तु न कस्यापि वैधर्म्यं केवलान्वयित्वात् ।

अनु०— जो जिसका साधर्म्य कहा है वह उससे भिन्न का वैधर्म्य है।

(यहां पर जो जिसका साधर्म्य कहा है वह उससे भिन्न का वैधर्म्य है, यह बात) 'ज्ञेयत्व' आदि साधर्म्यों को छोड़कर समझनी चाहिए, क्योंकि वे (ज्ञेयत्व, अभिधेयत्व आदि) 'केवलान्वयी' हैं (अर्थात् सब पदार्थों में रहने वाले धर्म हैं) इसलिए वे किसी के वैधर्म्य नहीं हो सकते। (बाकी जो जो साधर्म्य जिन २ पदार्थों के कहे हैं, वे उनसे भिन्नों के वैधर्म्य हैं अर्थात् उन पदार्थों से भिन्न पदार्थों में वे नहीं रहते)।

का०—स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः।

स्पर्शाद्यष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः ॥३०॥

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम् ।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश ॥३१॥
स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश ।
बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादिपञ्चकं भावना तथा ॥३२॥
धर्माधर्मौ गुणा एते ह्यात्मनः स्युश्चतुर्दश ।
संख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे ॥३३
संख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे ।
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे ॥३४॥

सि० मु०— ते च खे आकाशे ।

अनु०—स्पर्श आदि आठ (स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व और अपरत्व) और वेग नामक संस्कार ये (९) वायु के गुण हैं। स्पर्श आदि आठ, रूप, वेग और द्रवत्व ये (११) तेजस् के गुण हैं। स्पर्श आदि आठ, वेग, गुरुत्व, द्रवत्व, रूप, रस तथा स्नेह ये (१४) गुण जल में रहते हैं। (उपर्युक्त १४ गुणों में से) स्नेह को छोड़ और गन्ध को जोड़कर १४ गुण पृथिवी में रहते हैं। बुद्धि आदि [बुद्धि (ज्ञान), सुख दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न] छै, तथा संख्या आदि पांच [संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग], तथा भावना नामक संस्कार, धर्म और अधर्म ये १४ गुण आत्मा में रहते हैं। संख्या आदि पांच काल और दिक् में रहते हैं। वे (संख्या आदि पांच गुण) तथा शब्द (ये छः गुण) आकाश में रहते हैं। संख्या आदि पांच, तथा बुद्धि, इच्छा, यत्न (ये ८ गुण) ईश्वर में रहते हैं। परत्व, अपरत्व, तथा संख्या आदि पांच, और वेग (ये आठ गुण) मनस् में रहते हैं।

(सिद्धान्त मुक्तावली ने इन कारिकाओं के स्पष्ट होने से केवल इतने अंश की टीका की है कि शब्द) और वे (संख्या आदि पांच गुण) आकाश (ख = आकाश) में रहते हैं।

व्याख्या:— न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त का मर्म समझने के लिये यह आवश्यक है कि २४ गुणों का स्वरूप और उनमें से कौन कौन किस किस द्रव्य में रहते हैं, यह भली प्रकार समझ लिया जाय।

गुणों का विभाग (का० ३-५) करते हुए यह बताया था कि आधुनिक न्याय-वैशेषिक में माने २४ गुणों में से १७ कणाद ने बताए, और शेष ७ प्रशस्तपाद ने वैशेषिक शास्त्र में जोड़े। कणाद के बताए १७ गुणों में से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये चार पृथ्वी आदि चार अणु-द्रव्यों के विशेष गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व और अपरत्व ये सामान्य गुण हैं अर्थात अनेक द्रव्यों में पाए जाते हैं। इनमें से परत्व और अपरत्व को छोड़कर बाकी संख्या आदि पांच गुण ऐसे हैं जो कि प्रत्येक द्रव्य में पाए जाते हैं। ज्ञान (बुद्धि), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये छः गुण आत्मा के विशेष गुण हैं। इसके बाद प्रशस्तपाद द्वारा सात गुण— गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म और अधर्म तथा शब्द— जोड़े गए, जिनमें से 'गुरूत्व' (भार) पृथिवी और जल में रहता है, 'द्रवत्व' स्वाभाविक रूप से जल में और नैमित्तिक रूप से पृथ्वी और तेजस् में रहता है; 'स्नेह' जल में रहता है; 'संस्कार तीन प्रकार का है अर्थात् वेग, स्थितिस्थापक, और भावना, जिनमें से (१) वेग पृथिवी आदि चार अणु-द्रव्यों में और मनस् में, तथा (२) स्थितिस्थापक गुण (जिसके कारण चटाई आदि कोई वस्तु अपनी पहिली स्थिति में आजाती है) केवल पृथ्वी में रहता है, और (३) भावना (जिसके द्वारा किसी अनुभव की फिर स्मृति होती है) आत्मा में रहता है; और शब्द आकाश में रहता है।

इन गुणों के स्वरूप पर विशेष रूप से ध्यान देने पर पता लगता है कि पृथिवी, जल, तेजस् और वायु इन चार अणु-द्रव्यों के क्रमशः विशेष गुण गन्ध, रस, रूप और स्पर्श, तथा आकाश नामक पांचवें 'भूत' का विशेष

गुण शब्द, ये क्रमशः घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। यद्यपि 'आकाश' का, जो सर्वव्यापक द्रव्य है, पृथ्वी आदि चार अणु-द्रव्यों※ से (जिनके अणुओं से संसार की सब मूर्त्त वस्तुएं बनी हुई हैं) किसी प्रकार का कोई सादृश्य नहीं, फिर भी आकाश उन 'चारों के साथ पांचवां 'भूत' इसीलिए गिना जाता है कि जैसे उन चारों के विशेष गुण एक एक विशेष इन्द्रिय के विषय हैं, उसी प्रकार आकाश का भी विशेष गुण 'शब्द' एक इन्द्रिय का विषय है। पृथिवी आदि चार अणु-द्रव्यों में पहिला पहिला अगले के विशेष गुणों को भी रखता है अर्थात् पृथ्वी में 'गन्ध' के सिवाय रस, रूप और स्पर्श भी हैं, जल में 'रस' के सिवाय रूप और स्पर्श भी हैं, और तेजस् में रूप के सिवाय स्पर्श भी है, तथा वायु में केवल 'स्पर्श' ही विशेष गुण है। इस प्रकार पांच भूतों में रहने वाले और अलग अलग पांच इन्द्रियों से ग्रहण किए जाने वाले ये पांच विशेष गुण कहलाते हैं।

सामान्य सात गुणों में से, जैसा कि ऊपर कहा गया है, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये प्रत्येक द्रव्य में रहते हैं। इनमें से संख्या एक से लेकर परार्द्ध पर्यन्त मानी जाती है। वस्तुतः परार्द्ध से आगे भी संख्या की कल्पना हो सकती है। 'एकत्व' संख्या पदार्थ में स्थिर रूप से रहती है। वह नित्य पदार्थों में नित्य और अनित्य पदार्थों में अनित्य मानी जाती है। परन्तु 'द्वित्व' और उससे आगे की संख्याएं अनित्य हैं और वे पदार्थों में स्थिर रूप से नहीं रहती। वे केवल तीन क्षण रहती है। वे बाह्य वस्तु में द्रष्टा की 'अपेक्षा बुद्धि' से उत्पन्न होती हैं। अर्थात् किन्हीं दो या अधिक वस्तुओं में द्वित्व आदि संख्याएं स्थिर रूप से नहीं रहती। प्रत्युत उन वस्तुओं को मिलाकर 'दो' या अधिक वस्तुओं का साथ साथ प्रत्यक्ष करने पर केवल तीन क्षण के लिये 'द्वित्व' आदि संख्यायें उत्पन्न होती हैं। 'यह पदार्थ एक है' और 'यह पदार्थ एक है' इस प्रकार दो 'एकत्वों' (एक संख्याओं) का साथ साथ प्रत्यक्ष होना ही 'अपेक्षाबुद्धि' कहलाती है। इस

※पृथिवी आदि चार द्रव्यों के लिये जिनके अणु होते हैं, 'अणु-द्रव्य' का शब्द प्रयोग हमारा अपना है।

'अपेक्षाबुद्धि' से बाह्य पदार्थ में एक नया गुण बाह्यरूपेण अस्तित्व रखने वाला (external objective reality) 'द्वित्व' नामक पैदा हो जाता है। मनुष्य की साधारण बुद्धि (common sense) के अनुसार यह सोचा जा सकता है कि 'द्वित्व' आदि बाह्यवस्तु में वस्तु रूपेण अस्तित्व रखने वाले कोई गुण नहीं प्रत्युत वे द्रष्टा के मानस प्रत्यय (ज्ञान) ही हैं। परन्तु न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में प्रत्येक वस्तु का, जो दीखती है, बाह्य जगत् में वस्तु रूप अस्तित्व (objective realty) आवश्यक रूपेण माना जाता है। इस लिए 'द्वित्व' बाह्यवस्तुरूपेण तीन क्षण के लिये उत्पन्न हो जाता है, ऐसी न्याय-वैशेषिक शास्त्र की कल्पना है। इसी प्रकार द्वित्व से आगे की अन्य संख्याओं के विषय में भी समझना चाहिए।

परिमाण चार प्रकार का माना गया है। अणुत्व (अणु परिमाण), महत्त्व (महत्परिमाण), ह्रस्वत्व (ह्रस्व परिमाण), और दीर्घत्व (दीर्घ परिमाण)। इनमें से ह्रस्वत्व और दीर्घत्व नामक परिमाण अणुत्व और महत्त्व के साथ साथ रहते हैं अर्थात् जहां अणुत्व है वही ह्रस्वत्व और जहां महत्त्व है वहीं दीर्घत्व। इसलिये व्यवहारिक दृष्टि से दो ही परिमाण हैं, अर्थात् अणुत्व और महत्त्व। इन में से अणुपरिमाण (अणुत्व) केवल अणु और द्व्यणुक और मनस् में रहता है और महत्परिमाण त्र्यणुक से लेकर प्रत्येक द्रव्य में जो हमारे अनुभव में आ सकता है, अर्थात् छोटे से छोटे दृश्यमान कण और बड़े २ पहाड़ और लाखों मील लम्बे आकाश में स्थित चन्द्र सूर्य आदि पिण्डों में भी महत्परिमाण ही रहता है। परन्तु सर्वव्यापक आकाश, काल, दिक् और आत्मा में परममहत्परिमाण रहता है जिसको विभु परिमाण भी कहते हैं। इस प्रकार जिस परिमाण का हमें परिच्छिन्न या सीमित रूप में अनुभव होता है, वह छोटे से छोटा हो या बड़े से बड़ा, 'महत्परिमा' कहलाता है। परन्तु जो विभु अपरिच्छिन्न अर्थात् सर्वव्यापक परिमाण है जिससे बड़ा कोई परिमाण हो ही नहीं सकता, उसे परममहत्परिमाण कहते हैं, जो आकाश आदि चार द्रव्यों में रहता है। महत्परिमाण और परममहत्परिमाण दोनों के लिए भी एक साधारण शब्द 'महत्परिमाण' ही आता है।

इसी प्रकार ऐसा छोटा परिमाण जो परिच्छिन्न होते हुए भी इतना छोटा है कि उससे छोटा सोचा ही नहीं जा सकता और जो हमारे अनुभव में भी नहीं आ सकता, उसे अणु परिमाण कहते हैं, और जैसा कि ऊपर कहा गया, वह अणु, द्वयणुक, और मनस् में रहता है। परिच्छिन्न होने की दृष्टि से यदि (परममहत्परिमाण को छोड़कर) केवल महत्परिमाण और अणु परिमाण को साथ साथ लें तो दोनों के लिए 'मूर्त्त परिमाण' शब्द आता है। अर्थात् 'अविभु' (विभु आकाश आदि में न रहने वाले) परिच्छिन्न परिमाण-मात्र को 'मूर्त्त-परिमाण' (मूर्त्तत्व) कहा जाता है। 'मूर्त्त परिमाण' अणु, द्वयणुक, मनस् और घट, पट आदि प्रत्येक कार्य द्रव्य में रहता है, अर्थात् आकाश, काल, दिक् और आत्मा को छोड़कर बाकी प्रत्येक द्रव्य में रहता है। हम अणु परिमाण और महत्परिमाण (= महत्परिमाण + परममहत्परिमाण) का विभाग इस प्रकार दिखा सकते हैं:—

परिमाण
- अणुपरिमाण
- महत्परिमाण
  - महत्परिमाण
  - परममहत्परिमाण

(अणुपरिमाण + महत्परिमाण) → मूर्तपरिमाण
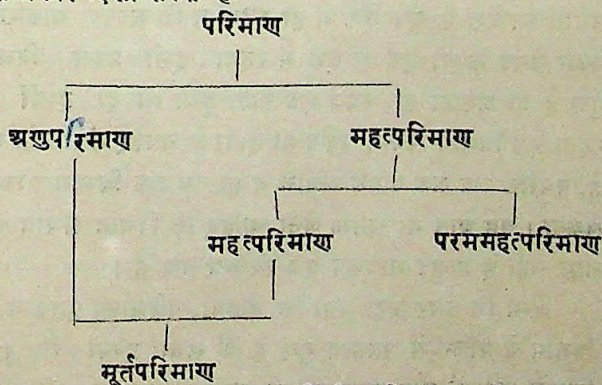
संख्या और परिमाण के सिवाय सब द्रव्यों में रहने वाला तीसरा गुण 'पृथक्त्व' है। प्रत्येक पदार्थ दूसरे से पृथक् प्रतीत होता है। अतएव एक पदार्थ की दूसरे से पृथक्त्व-प्रतीति का कारण प्रत्येक पदार्थ में रहने वाला 'पृथक्त्व' नामक गुण होना चाहिए। यह शंका हो सकती है कि यह काम अन्योन्याभाव से भी चल सकता है, क्योंकि 'अन्योन्याभाव' भी 'घट में पट का अभाव' अर्थात् 'घट और पट एक व्यक्ति नहीं' इस प्रकार प्रतीत होता है और एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से पृथक् करता है। परन्तु 'अन्योन्याभाव'

से जो प्रतीति होती है वह 'अभावात्मक' है। यहाँ 'पृथक्त्व' गुण के द्वारा एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ के अलग होने की प्रतीति 'भावरूप' होती है इसलिए 'अन्योन्याभाव' से अतिरिक्त पृथक्त्व गुण मानना पड़ता है।

सब द्रव्यों में रहने वाले पांच गुणों में से बाकी दो गुण संयोग और विभाग हैं। जिन दो द्रव्यों का—उदाहरणार्थ, पुरुष और दण्ड का—संयोग होता है, उन दोनों द्रव्यों में *एक ही संयोग* एक साथ रहता है अर्थात् पुरुष और दण्ड में रहने वाला संयोग एक ही गुण है। दो विभु (सर्वव्यापक) द्रव्यों में, जैसे काल और दिक् में, (साधारणतया) संयोग नहीं माना जाता, परन्तु किसी परिच्छिन्न (मूर्त्त) द्रव्य का किसी विभु द्रव्य से भी संयोग हो सकता है। क्योंकि संयोग का स्वभाव ही है कि वह अव्याप्यवृत्ति गुण है अर्थात् जिन द्रव्यों का संयोग होता है वह उन द्रव्यों को पूर्णतया व्याप्त नहीं करता, प्रत्युत उसके एक देश में रहता है। इसलिए 'आकाश-दण्ड' का संयोग आकाश के एक देश में ही रहेगा न कि सम्पूर्ण आकाश में और उसी प्रकार दण्ड के भी एक ही देश में रहेगा। इसी प्रकार 'विभाग' भी ऐसा गुण है जो अकेला ही, स्वयं एक होता हुआ भी दो द्रव्यों में साथ साथ रहता है। विभाग संयोग पूर्वक ही होता है अर्थात् संयोग के बाद ही होता है, क्योंकि जब तक पहिले संयोग न हो तब तक विभाग सोचा ही नहीं जा सकता। यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि विभाग संयोग के 'अभाव' का नाम नहीं है प्रत्युत भावरूप एक स्वतन्त्र गुण है।

जैसा कि ऊपर कहा गया कि, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच ऐसे सामान्य गुण हैं जो सभी द्रव्यों में रहते हैं। इनके सिवाय 'परत्व' और 'अपरत्व' भी सामान्य गुण हैं जो अनेक द्रव्यों में रहते हैं, परन्तु सब द्रव्यों में नहीं रहते। परत्व और अपरत्व दो प्रकार के होते हैं: एक दैशिक (दिक् सम्बन्धी) परत्व और अपरत्व तथा दूसरा कालिक (काल सम्बन्धी)। ये दोनों प्रकार के परत्व और अपरत्व स्थिर रूप से किसी द्रव्य में नहीं रहते, प्रत्युत 'अपेक्षा बुद्धि' से किसी द्रव्य में उत्पन्न होते हैं और अपेक्षा बुद्धि के नाश से इनका नाश हो जाता है। इनमें

से दैशिक परत्व और अपरत्व प्रत्येक मूर्त्त द्रव्य में अर्थात् अणु और महत्परिमाण वाले सब द्रव्यों में रहता है। और कालिक परत्वापरत्व प्रत्येक 'जन्य' उत्पन्न हुए पदार्थ में रहता है। दैशिक परत्वापरत्व के उत्पन्न होने की प्रक्रिया इस प्रकार होती है: उदाहरणार्थ पटना से लेकर काशी तक बीच के मूर्त्त पदार्थों के संयोग कम होते हैं और अपेक्षया पटना से प्रयाग तक, बीच के मूर्त्त पदार्थों के संयोग अधिक होंगे। इसलिये यह ज्ञान होता है कि 'पटना से प्रयाग, काशी की अपेक्षा, मूर्त्त पदार्थों के अधिकतर संयोगों के व्यवधान से युक्त है'। यही ज्ञान अपेक्षा बुद्धि कहलाता है। इस अपेक्षा-बुद्धि से प्रयाग में 'परत्व' नामक गुण उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार 'पटना से काशी' प्रयाग की अपेक्षा, अल्पतर मूर्त्त पदार्थों के संयोगों से व्यवहित है' इस प्रकार की अपेक्षा-बुद्धि से काशी में 'अपरत्व' नामक गुण उत्पन्न हो जाता है। परन्तु अधिकतर और 'अल्पतर' मूर्त्त पदार्थों के संयोगों से व्यवहित होने का अर्थ यह है कि अधिकतर या अल्पतर संयोगों का सम्बन्ध प्रयाग और बनारस से है। वह सम्बन्ध स्थापित करने वाला पदार्थ ही 'दिक्' है जो कि विभु अर्थात् सर्वव्यापक है। ये परत्व और अपरत्व गुण अपेक्षा बुद्धि के नाश से नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि 'देवदत्त यज्ञदत्त की अपेक्षा बड़ा है' या 'यज्ञदत्त देवदत्त की अपेक्षा छोटा है' तो इसका अर्थ यह है कि देवदत्त में 'कालिक परत्व' गुण है और यज्ञदत्त में 'कालिक अपरत्व' गुण है। यहाँ 'यज्ञदत्त की अपेक्षा देवदत्त का अधिकतर सूर्य के परिस्पन्दों (सूर्य की गति) से सम्बन्ध है' इस अपेक्षा बुद्धि से देवदत्त में 'कालिक परत्व' और 'देवदत्त की अपेक्षा यज्ञदत्त का न्यूनतर सूर्य की गति से सम्बन्ध है' इस अपेक्षा बुद्धि से यज्ञदत्त में 'कालिक अपरत्व' उत्पन्न होता है। यह कहा जा सकता है कि सूर्य की गति तो सूर्य में रहती है, उससे यज्ञदत्त या देवदत्त का सम्बन्ध किस प्रकार होगा। इसका उत्तर यही है कि 'काल' पदार्थ ही इसलिये माना जाता है कि वह संसार के प्रत्येक पदार्थ का सूर्य के परिस्पन्दों (सूर्य की गति) से सम्बन्ध करा देता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि प्राचीन विचार के अनुसार यहाँ यह मान लिया गया है कि दिन और वर्ष जिनसे किसी की

आयु निश्चित होती है सूर्य की गति पर निर्भर हैं। किन्तु आधुनिक विज्ञान ने यह बात सन्देह-सीमा से परे सिद्ध कर दी है कि दिन और वर्ष पृथिवी की गति पर निर्भर हैं, न कि सूर्य की। 'परत्व' और 'अपरत्व' गुण के विषय में यह भी स्पष्ट हो है कि मनुष्य की साधारण बुद्धि की दृष्टि में वे मानस विचार मात्र हैं, नकि बाह्यवस्तु में रहने वाले वस्तुसत् (objectively real) गुण। परन्तु द्वित्व आदि संख्या के समान न्याय उनको भी वस्तुसत् मानता है। क्योंकि न्याय-वैशेषिक का यह मौलिक सिद्धान्त है कि हमें जो भी प्रतीति होती है, उसका प्रतिरूप पदार्थ बाह्य जगत् में अवश्य होना चाहिये।

इससे आगे के छः गुण— ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आत्मा के विशेष गुण हैं। ये छः गुण जीवात्मा में रहते हैं। ईश्वर भी एक विशेष प्रकार का आत्मा ही है। उसमें ज्ञान, इच्छा और यत्न ये तीन गुण माने जाते हैं, अर्थात् सुख, दुःख और द्वेष यह गुण नहीं माने जाते, क्योंकि स्पष्टतः यह जीव से ही सम्बन्ध रखते हैं। मोक्ष की अवस्था में जीवात्मा में भी इन सभी विशेष गुणों का अभाव हो जाता है।

इन १७ गुणों के साथ प्रशस्तपाद द्वारा जोड़े हुए सात गुणों—गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म तथा अधर्म और शब्द- का स्वरूप और वे कहां कहां रहते हैं, यह पहिले ही बताया जा चुका है।

गुणों की इस मीमांसा से कारिका में वायु आदि का जो स्वरूप बताया है वह भी स्पष्ट हो जाता है। वायु में सँख्या आदि सात सामान्य गुण, तथा स्पर्श और वेग, मिला कर नौ गुण रहते हैं। तेजस् में वायु के नौ गुणों के सिवाय 'रूप' और द्रवत्व गुण होने से ११ गुण रहते हैं। तथा जल में तेजस् के ११ गुणों के अतिरिक्त 'रस', 'स्नेह' और 'गुरुत्व' के होने से १४ गुण रहते हैं। पृथिवी में जल के गुणों में से 'स्नेह' न होने से और 'गन्ध' के अधिक होने से १४ गुण ही रहते हैं। आत्मा में संख्या आदि पांच सामान्य गुण (संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग जो सभी द्रव्यों में रहते हैं), तथा 'ज्ञान' आदि छः (ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न) तथा 'भावना'

(संस्कार) और 'धर्म' तथा 'अधर्म' ये ६ विशेष गुण, इस प्रकार १४ गुण रहते हैं। काल और दिक् में केवल संख्या आदि पांच गुण रहते हैं। अर्थात् उन दोनों का कोई विशेष गुण नहीं है। आकाश में संख्या आदि पांच सामान्य गुणों के साथ साथ 'शब्द' विशेष गुण होने से छः गुण, तथा ईश्वर में संख्या आदि पांच सामान्य गुणों के अतिरिक्त ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के होने से ८ गुण, तथा मनस् में संख्या आदि पांच सामान्य गुणों के सिवाय परत्व, अपरत्व और वेग के होने से आठ गुण रहते हैं।

सि० मु० — साधर्म्यवैधर्म्ये निरूप्य सम्प्रति प्रत्येकं पृथिव्यादिकं निरूपयतिः—

का०:— तत्र क्षितिर्गन्धहेतुः ....।

सि० मु० :—गन्धहेतुरिति । गन्धसमवायिकारण-मित्यर्थः । यद्यपि गन्धवत्त्वमात्रं लक्षणमुचितम्, तथापि पृथिवीत्वजातौ प्रमाणोपन्यासाय कारणत्वमुपन्यस्तम् । तथा हि–पृथिवीत्वं हि गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिध्यति, अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्नस्याऽकस्मिकत्वापत्तेः । न च पाषाणादौ गन्धाभावाद् गन्धवत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यं, तत्रापि गन्धसत्त्वात् । अनुपलब्धिस्त्वनुत्कटत्वेनाऽप्युपपद्यते । कथमन्यथा तद्भस्मनि गन्ध उपलभ्यते ? भस्मनो हि पाषाण-ध्वंसजन्यत्वात्पाषाणोपादानोपादेयत्वं सिध्यति । यद् द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमिति व्याप्तेः । दृष्टञ्चैतत् खण्डपटे महापटध्वंसजन्ये । इत्थञ्च पाषाणपरमाणोः पृथिवीत्वात्तज्जन्यस्य पाषाणस्यापि पृथिवीत्वम् । तथा च

तस्यापि गन्धवत्त्वे बाधकाभावः ।

अनु० :—साधर्म्य वैधर्म्य का निरूपण करके अब प्रत्येक पृथिवी आदि का (क्रमशः प्रत्येक द्रव्य का) वर्णन किया जाता है :—

उन (द्रव्यों) में से पृथिवी गन्ध का कारण है ।

'गन्ध हेतु' इत्यादि अंश की टीका करते हैं । (गन्ध का कारण है) इसका अर्थ है कि (पृथिवी) गन्ध की समवायिकारण है । यद्यपि (केवल) 'गन्धवत्त्व' इतना ही लक्षण उचित है, तो भी पृथिवीत्व जाति में प्रमाण देने के लिए 'कारणत्व' (अंश को पृथिवी के लक्षण में) डाल दिया । क्योंकि 'पृथिवीत्व' (जाति) गन्ध की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में सिद्ध हो जाती है । अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्न ('गन्ध' कार्य) आकस्मिक (अर्थात् विना नियत या निश्चित कारण के) होता है, यह बात आपड़ेगी । यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि पाषाण आदि में गन्ध के न होने से 'गन्धवत्त्व' लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि वहां (पाषाण आदि में) भी गन्ध विद्यमान है । (गन्ध का) ग्रहण न होना तो अनुद्भूत होने के कारण भी हो सकता है, अन्यथा उसकी भस्म में गन्ध क्यों पाया जाता है ? (पाषाण का) भस्म पाषाण के नाश से उत्पन्न होने के कारण पाषाण के उपादान कारण (समवायिकारण) का कार्य है । क्योंकि यह नियम है कि जो द्रव्य जिस द्रव्य के नाश से उत्पन्न होता है वह उस द्रव्य के उपादान कारण (समवायिकारण) का कार्य होता है । यह बात बड़े कपड़े (महापट) के नाश से उत्पन्न हुए छोटे कपड़े (खण्ड पट) में देखी जाती है । इस प्रकार पाषाण परमाणु के पृथ्वी होने से उससे उत्पन्न पाषाण का भी पृथिवीत्व (सिद्ध हो जाता) है और इस प्रकार इसके (पाषाण के) गन्धवत्त्व में कोई बात बाधक नहीं ।

व्याख्या: - यहां पृथिवी का लक्षण 'गन्ध का समवायिकारण होना' किया गया । यद्यपि 'गन्ध वाला होना' ही लक्षण पर्याप्त है, क्योंकि 'गन्ध' सिवाय 'पृथिवी' के और कहीं भी नहीं पाया जाता । परन्तु लक्षण में 'गन्ध का समवायिकारण होना' इसलिए डाला गया जिससे 'पृथिवीत्व' जाति के

अस्तित्व में प्रमाण भी स्थापित हो जाय। यों तो 'जाति' की कल्पना पदार्थों के सामान्य स्वरूप को लेकर होती है, परन्तु सामान्य स्वरूप तो 'उपाधि' से भी आ जाता है। 'जाति' की कल्पना वहीं होती है जहां वह सामान्य धर्म किसी प्रकार की कारणता का अवच्छेदक हो। जैसे कि कारिका सं० ३ में कार्यमात्र की अथवा संयोग-विभाग की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में 'द्रव्यत्व' जाति को स्थापित किया गया है। उसी प्रकार वहां यह कहा गया कि 'गन्ध' नामक गुण की समवायिकारणता का अवच्छेदक धर्म 'पृथिवीत्व' है और कारणता के अवच्छेदक होने के कारण ही उसे 'जाति' माना जाता है। यहां यह कहा गया है कि कारणता का अवच्छेदक धर्म कोई न हो तो कारणता आकस्मिक अर्थात् बिना किसी नियत, निश्चित कारण के आ पड़ेगी, क्योंकि जो जो गन्ध का कारण होता है यदि उस उस में कोई ऐसा 'समान धर्म' नहीं है कि जिसके होने से उसकी कारणता होती है तो फिर यह आ पड़ेगा कि कोई भी 'गन्ध' का कारण हो सकता है। परन्तु जो जो गन्ध उत्पन्न करता है उसमें यदि ऐसा कोई विशेष धर्म है जिसके सबब से वह कारण होता है तो कारण होना किसी विशेष धर्म पर आश्रित होगा अर्थात् वह आकस्मिक न होगा। ऐसे धर्म को ही, जिसके सबब से किसी पदार्थ की कारणता हो, कारणता का 'अवच्छेदक' अर्थात् कारणता का नियम करने वाला (अवच्छेदक=नियामक) धर्म कहते हैं, और वह धर्म यहां पर 'पृथिवीत्व जाति' के रूप में है। इस प्रकार कारणता की नियामक होने से पृथिवीत्व जाति की सिद्धि हो जाती है।

अब यह शङ्का होती है कि जो जो पृथिवी है उसमें गन्ध होनी चाहिये। पाषाण भी पृथिवी है, पर पाषाण में गन्ध नहीं पाई जाती। इसका उत्तर यह दिया गया कि पाषाण में पृथिवीत्व के होने से गन्ध तो अवश्य है, पर वह उत्कट अर्थात् स्पष्ट रूप से प्रकट—'उद्भूत' नहीं है। कहीं २ कोई गुण विद्यमान होने पर भी यदि उद्भूत अर्थात् प्रकट न हो तो उसका ग्रहण नहीं होता। पाषाण में गन्ध होने का यह भी प्रमाण है कि पाषाण जब जलाते हैं तो उसके भस्म में गन्ध होती है। यदि पाषाण में गन्ध न होती तो उसके

भस्म में गन्ध कहाँ से आती, क्योंकि जो त्र्यणुक आदि पाषाण के समवायिकारण हैं वे ही उसकी भस्म के भी समवायिकारण हैं । इस प्रकरण में न्याय के कारणवाद का एक नया स्वरूप भी उपस्थित किया गया है, वह इस प्रकार है :—

जब एक बड़े कपड़े के कुछ टुकड़े कर दिये जायँ तो यह तो स्पष्ट है कि बड़ा कपड़ा नष्ट हो गया, और उसके नाश के बाद कुछ छोटे कपड़े दिखलाई देते हैं । इन छोटे कपड़ों का समवायिकारण और असमवायिकारण क्या है ? इन कपड़ों का समवायिकारण तन्तुओं को और असमवायिकारण तन्तुओं के संयोग को कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि तन्तुओं के संयोग से तो बड़ा कपड़ा (महापट) उत्पन्न हुआ था, वह नष्ट हो गया । फिर इनका समवायिकारण और असमवायिकारण कौन है यह प्रश्न रह जाता है । इसका उत्तर न्याय-वैशेषिक में इस प्रकार दिया जाता है कि ये छोटे छोटे कपड़े बड़े कपड़े के नाश से उत्पन्न हुए हैं, परन्तु बड़े कपड़े के नाश (महापट ध्वंस) को तो केवल निमित्तकारण ही माना जा सकता है । इसलिए यह सिद्धान्त माना गया है कि जो वस्तु जिसके नाश से उत्पन्न होती है, उस नष्ट हुए द्रव्य का समवायिकारण ही इस नये (नाश से उत्पन्न हुए) द्रव्य का समवायिकरण होता है । यहां 'महापट के ध्वंस' से 'खण्डपट' (छोटा कपड़ा) उत्पन्न हुआ है इसलिए महापट के समवायिकारण जो 'तन्तु', वे ही 'खण्ड पट' के भी समवायिकारण होंगे और 'तन्तुओं का संयोग' असमवायिकारण होगा । 'तन्तु' नामक समवायिकारण और 'तन्तु संयोग' नामक असमवयिकारण के होते हुए भी अब तक 'खण्ड पट' नामक कार्य उत्पन्न क्यों नहीं हुआ था, इसका उत्तर यही दिया जायगा कि उन्हीं समवायिकारण और असमवायिकारण का कार्य 'महापट' था और उसका नाश भी उस 'खण्डपट' नामक कार्य के निमित्तकारण के रूप में अपेक्षित था, इसलिए 'महापटनाश' रूप उस निमित्तकारण के आते ही वह कार्य अर्थात् 'खण्डपट' उत्पन्न हो गया ।

अब इस नियम के अनुसार पाषाण की भस्म पाषाण के नाश से (जो कि उसका निमित्तकारण है) उत्पन्न होती है, इसलिए जो पाषाण का समवायिकारण है वही उस भस्म का भी समवायिकारण होगा। अब पाषाण और पाषाण के भस्म का कारण एक ही है और भस्म में गन्ध पाई जाती है तो यह मानना पड़ेगा कि पाषाण में भी गन्ध अवश्य होगी, केवल वह अनुद्भूत या अनुत्कट अर्थात् अप्रकट है। इसलिए पाषाण का भी गन्ध वाला होना निश्चित है।

आलोचना:—अब यहाँ से 'पृथिवी' आदि के वर्णन का जो प्रकरण चला है वह वस्तुतः दर्शनशास्त्र का विषय नहीं है, प्रत्युत विज्ञान (साइंस) का विषय है। आधुनिक विज्ञान ने जिसका 'सत्य' होना परीक्षणों से प्रमाणित है, इस सिद्धान्त को कि संसार के सारे कार्य-द्रव्य (अर्थात् उत्पन्न हुई सारी वस्तुएं) पृथिवी आदि चार प्रकार के परमाणुओं से बनी हैं, बिलकुल निराधार सिद्ध कर दिया है। वर्तमान विज्ञान के अनुसार १०० से अधिक मूलतत्त्व (elements) हैं जिनके अलग अलग परमाणु होते हैं और उनसे ही संसार के सारे पदार्थ बने हैं। पृथिवी आदि चारों भूत मूलतत्त्व नहीं हैं, क्योंकि जिसे न्याय-वैशेषिक में पृथिवी माना गया है, वह तो न जाने कितने मूल-तत्त्वों से बनी हुई वस्तु है। इसी प्रकार 'जल' भी 'मूलतत्त्व' नहीं, प्रत्युत आक्सीजन और हाइड्रोजन नामक दो प्रकार के तत्त्वों से, जो कि वायु के समान सूक्ष्म 'गैसियस' (gaseous) रूप में पाए जाते हैं, 'जल' उत्पन्न होता है। और जल में जो 'मधुर रस' माना गया है वह तो जल का गुण है ही नहीं, प्रत्युत जल में सूक्ष्म रूप से मिले हुए कतिपय खनिज पदार्थों का गुण है। इसी प्रकार 'अग्नि' भी कोई मूलतत्त्व नहीं, प्रत्युत वह मूलतत्त्वों में अर्थात् भौतिक वस्तु (मैटर=matter) में रहने वाली एक शक्ति है न कि स्वयं भौतिक तत्त्व (matter)। इस प्रकार वह भी भौतिक मूलतत्त्वों में नहीं गिनी जा सकती। इसी प्रकार वायु भी एक मूलतत्त्व नहीं है प्रत्युत वह आक्सीजन नामक गैस तथा अन्य गैसों के सम्मिश्रण से बना है। यहाँ पर

आया है कि जो पाषाण के उपादान हैं वे ही पाषाण की भस्म के भी हैं, यह भी वैज्ञानिक दृष्टि से भ्रमपूर्ण है, क्योंकि पाषाण के जलने की प्रक्रिया में उसके कुछ तत्त्व निकल जाते हैं और उसमें कुछ तत्त्व बढ़ भी जाते हैं।

इस प्रकार भौतिक तत्त्वों के विषय में न्याय-वैशेषिक में जो बातें कही गई हैं, उनका वैज्ञानिक तत्त्व दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं, उनका केवल ऐतिहासिक दृष्टि से हमें अध्ययन करना चाहिए। परन्तु न्याय-वैशेषिक का जो दार्शनिक भाग है अर्थात् सारे पदार्थों का द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय आदि के विभागों में निरूपण, उसका आज भी उतना ही महत्त्व है, क्योंकि वह आधुनिक विज्ञान से विरूद्ध नहीं है, प्रत्युत दार्शनिक विवेचन है जिसका महत्त्व आज भी पहिले के समान ही है।

का०:— नानारूपवती मता।

सि० मु०:— नानारूपेति। शुक्लनीलादिभेदेन नानाजातीयं रूपं पृथिव्यामेव वर्त्तते न तु जलादौ, तत्र शुक्लस्यैव सत्त्वात। पृथिव्यां तु एकस्मिन्नपि धर्मिणि पाकवशेन नानारूपसम्भवात्। न च यत्र नानारूपं नोत्पन्नं तत्राव्याप्तिरिति वाच्यम्, रूपद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य, रूपनाशवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य वा वाच्यत्वात्। वैशेषिकनये पृथिवीपरमाणौ रूपनाशस्य रूपान्तरस्य च सत्त्वात्, न्यायनये घटादावपि तत्सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः।

अनु०:— पृथिवी अनेक प्रकार के रूप वाली है।

शुक्ल और नील आदि के भेद से अनेक प्रकार के रूप पृथिवी में ही होते हैं न कि जल आदि में, वहां (जल आदि में) शुक्ल रूप ही होता है। परन्तु पृथिवी यद्यपि एक ही धर्मी (गुणों का आश्रय) है, तथापि (उस एक में भी) अग्निसंयोग (पाक) के द्वारा नाना अर्थात् अनेक रूप

सम्भव हैं। (यहां यह शङ्का हो सकती है कि) जिस (पृथिवी) में नाना रूप उत्पन्न नहीं हुये, वहां अव्याप्ति होगी। (उसका उत्तर यही है कि) 'दो (प्रकार के) रूप वाले (पदार्थ) में रहने वाली द्व्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' अथवा 'रूप का नाश जहां हुआ है ऐसे (पदार्थ) में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' (नानारूपवत्त्व का) अर्थ है। वैशेषिक सिद्धान्त में पृथिवी के परमाणु में 'रूपनाश' और 'दूसरा रूप' होता है, और न्याय सिद्धान्त में घट आदि (अवयविद्रव्य) में भी वे (रूपनाश और दूसरा रूप) होते हैं, इसलिए पृथिवी का) लक्षण घट जायगा।

व्याख्याः— रूप केवल तीन जगह — पृथिवी, जल और तेजस् में— पाया जाता है। उनमें से जल और तेजस् दोनों में ही केवल शुक्ल रूप पाया जाता है। अर्थात् तेजस् में चमकने वाला (भास्वर) शुक्ल रूप और जल में न चमकने वाला (अभास्वर) शुक्लरूप। परन्तु पृथिवी में काला, नीला, पीला, लाल आदि अनेक रूप पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, जो घट पहिले नील होता है वही पकने के बाद लाल हो जाता है। अर्थात् यह माना जाता है कि पार्थिव पदार्थ में 'अग्नि संयोग' के द्वारा रूप बदलता रहता है। दूसरा उदाहरण यह भी दिया जा सकता है कि वृक्ष पर लगे 'फल' का भी पहिले हरा, पीछे पीला रंग होता है, वह भी 'सूर्य' रूपी अग्नि के संयोग से बदलता है। परन्तु जल और अग्नि का सदा सफेद ही रूप रहता है। वह कभी नहीं बदलता। यहां यह शङ्का हो सकती है कि जिस पार्थिव पदार्थ का— उदाहरणार्थ किसी श्वेत पट का— रूप अग्नि संयोग से नहीं बना है, उसमें एक ही रूप रहता है, वहां यह लक्षण अर्थात् 'अनेक रूप वाला होना' कैसे घटेगा? इसका उत्तर वही है कि 'अनेक अर्थात् दो रूप वाली वस्तु में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना', अथवा 'जहां रूप का नाश होता हो, ऐसी वस्तु में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' साधर्म्य है। दो रूप वाली वस्तु या जहां रूप का नाश होता है ऐसी वस्तु पृथिवी ही होगी और उसमें पृथिवीत्व जाति ही रहेगी। और वह पृथिवीत्व जाति उस पार्थिव पदार्थ में भी रहती है जहां अनेक रूप नहीं हैं। इस प्रकार कोई

दोष नहीं आएगा।

यहां अग्नि संयोग से रूप बदलने के विषय में एक सूक्ष्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है जिसके विषय में न्यायशास्त्र और वैशेषिकशास्त्र में भी परस्पर मतभेद है, यद्यपि साधारणतया इन दोनों शास्त्रों में कोई विरोध नहीं पाया जाता। प्रश्न यह है कि 'कच्चे घड़े का नील रूप बदल कर जब लाल रूप होता है तब उसकी प्रक्रिया (process) क्या होती है? यह माना जाता है कि प्रत्येक कार्य-द्रव्य के रूप आदि गुण कारण-पूर्वक होते हैं अर्थात् नीलघट का नीलरूप कपालों के नीलरूप से आया है, और उनका अपने अवयवों से, और इसी क्रम से घट के त्र्यणुक, द्व्यणुक और अणु में भी नीलरूप विद्यमान है। घट का नीलरूप बदल कर लाल होने के लिए यह आवश्यक है कि उसके अवयवों का— अर्थात् कपाल से लेकर क्रमशः अणु तक प्रत्येक का-रूप बदले। यह तभी सम्भव है कि जब घट के अवयव टूटकर अणु की अवस्था तक पहुंच जाएं। इसलिए वैशेषिक का यह सिद्धान्त है कि अग्निसंयोग से घट क्रमशः टूटता हुआ परमाणु की अवस्था तक पहुंच जाता है और फिर उस परमाणु में नीलरूप का नाश होकर रक्तरूप उत्पन्न होता है, और उन अणुओं से द्व्यणुक आदि क्रम से घट फिर बन जाता है, और उसमें अणुओं का रक्तरूप क्रमशः आजाता है। घट का टूटना और फिर बनना यह कार्य इतनी शीघ्रता से होता है कि हमें वह होता हुआ दिखाई नहीं देता। परन्तु अग्निसंयोग से रूप का नाश होकर दूसरे रूप के आने के लिए, इस प्रकार की प्रक्रिया, अर्थात् घट का टूट कर अणुओं तक पहुंचना और फिर घट बनना, ऐसा मानना आवश्यक हो जाता है। वैशेषिक के इसी सिद्धान्त को 'पीलुपाक' सिद्धान्त कहते हैं (पीलु=परमाणु, उसका अग्नि संयोग से पाक)। इस प्रकार वैशेषिक के मत में पहिले रूप का नाश और दूसरे रूप का उत्पन्न होना, ये दोनों बातें पृथिवी के अणुओं में ही होती हैं, न कि कार्य-द्रव्य 'घट' में।

परन्तु नैयायिकों का मत है कि घट का टूट कर 'अणु' तक पहुंचना और फिर अणुओं से घट का बनना तो दिखाई नहीं देता, इसलिए यह सब बुद्धि और

अनुभव के विरुद्ध है। वास्तविक बात यही है कि अग्निसंयोग से 'घट' की अवस्था के रहते रहते ही 'पहिले रूप का नाश' और 'दूसरे रूप की उत्पत्ति' होजाती है। न्याय के इस सिद्धान्त को 'पिठरपाक' कहते हैं (पिठर=बर्त्तन, अर्थात् 'घट', उसका पाक)।

का०:-षड्विधस्तु रसस्तत्र.........।

सि० मु०:—षड्विधइति। मधुरादिभेदेन यः षड्विधो रसः स पृथिव्यामेव। जले च मधुर व रसः। अत्रापि पूर्ववद् 'रसद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं' लक्षणार्थोऽवसेयः।

अनु०—उसमें (पृथिवी) में रस छः प्रकार का है।

'षड्विध' इत्यादि अंश की टीका करते हैं। 'मधुर' आदि भेद से जो छः प्रकार का रस है वह पृथिवी में ही (पाया जाता) है। जल में मधुर ही रस है। यहां भी पहिले के समान ही 'दो प्रकार के रस वाले में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' लक्षण का अर्थ जानना चाहिए।

व्याख्याः—'रस' केवल जल और पृथिवी में रहता है, जल में मधुर रस माना जाता है अर्थात् जल के रस में मीठापन होता है। परन्तु मधुर, कटु, कषाय आदि छः प्रकार का रस 'पृथिवी' में ही पाया जाता है। अनेक प्रकार के रस वाले फल पार्थिव ही होते हैं। जिन पार्थिव वस्तुओं में रस नहीं है उनमें भी लक्षण चला जाय, इसलिए लक्षण का इस प्रकार परिष्कार किया जाता है कि 'दो प्रकार के रसवाले में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना'। ऐसी जाति 'पृथिवीत्व' ही हो सकती है, क्योंकि 'जलत्व' जाति दो प्रकार के रसवाले पदार्थ में कभी नहीं रहती।

का०:-.......गन्धस्तु द्विविधो मतः॥३५॥

सि० मु०:-गन्धस्त्विति। द्विविध इति वस्तुस्थितिमात्रम्, न तु द्विविधगन्धवत्त्वं लक्षणम्, द्विविधत्वस्य व्यर्थत्वात्।

द्वैविध्यञ्च सौरभासौरभभेदेन बोध्यम् ।

अनु॰:—(पृथिवी का) गन्ध दो प्रकार का माना गया है।

'गन्धस्तु' इत्यादि अंश की व्याख्या करते हैं। (गन्ध के विषय में) 'दो प्रकार का है' यह कथन केवल वास्तविक बात (वस्तुस्थिति) का कथन मात्र है, न कि 'दो प्रकार की गन्ध वाला होना' (पृथिवी का) लक्षण है, क्योंकि (लक्षण में) 'दो प्रकार का' कहना व्यर्थ है। (गन्ध के) 'दो प्रकार' सुगन्ध और दुर्गन्ध भेद से जानने चाहिएं।

व्याख्याः—पृथिवी का लक्षण 'गन्धवाला होना' इतना ही पर्याप्त है। लक्षण में 'दो प्रकार का' (गन्ध) यह डालने की आवश्यकता नहीं। परन्तु गन्ध दो प्रकार का होता है, यह बताने के लिए 'द्विविध' यह शब्द यहां डाला गया है।

का॰-स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः।

सि॰मु॰—स्पर्श इति। तस्याः पृथिव्याः। अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वं वायोरपि वर्तत इत्युक्तं पाकज इति। इत्थं च पृथिव्याः स्पर्शोऽनुष्णाशीत इतिज्ञापनार्थं तदुक्तम्। वस्तुतस्तु पाकजस्पर्शवत्त्वमात्रं लक्षणम्, अधिकस्य वैयर्थ्यात्। यद्यपि पाकजस्पर्शः पटादौ नास्ति तथापि पाकजस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमर्थो बोध्यः।

अनु॰:—उस (पृथिवी) का स्पर्श 'अनुष्णाशीतपाकज' (अर्थात् जो न गरम और न ठण्डा और अग्निसंयोग से उत्पन्न होने वाला) है।

'स्पर्शः' इत्यादि अंश की व्याख्या करते हैं। 'तस्याः' का अर्थ है कि 'पृथिवी का'। अनुष्णाशीत स्पर्श वायु का भी होता है। इसलिए 'पाकज' यह कहा। 'पृथिवी का स्पर्श अनुष्णाशीत है, यह बताने के लिए यह (अर्थात् स्पर्श को अनुष्णाशीत) कहा गया। यथार्थ तो यह है कि 'पाकज स्पर्श

वाला होना' केवल इतना ही लक्षण है, (इससे) अधिक व्यर्थ है। यद्यपि पाकज स्पर्श पट आदि में नहीं है तथापि 'पाकज स्पर्श वाले में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना' उसका ('पाकजस्पर्श वालाहोना' इस साधर्म्य का) अर्थ जानना चाहिए।

व्याख्या:— जल में शीत स्पर्श रहता है और अग्नि में उष्ण स्पर्श, और वायु तथा पृथिवी में अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है। अन्तर यह है कि वायु का अनुष्णाशीत स्पर्श अपाकज है और पृथिवी का पाकज। यहां पर पृथिवी का लक्षण तो 'पाकजस्पर्श वाला होना' इतना ही पर्याप्त है, परन्तु यह बतलाने के लिए कि पृथिवी का स्पर्श 'अनुष्णाशोत' होता है वह बात भी कह दी, यद्यपि लक्षण के लिए उसके कहने की आवश्यकता नथी। द्वितीय बात यह है कि 'घट' को भाड़ में डाल कर पकाया जाता है। इसलिए उसके स्पर्श में अग्नि संयोग भी कारण है। इसलिए पृथिवी के स्पर्श को 'पाकज' कहा गया है। परन्तु 'पट' आदि का 'स्पर्श' पाकज नहीं है, यह स्पष्ट है कि उसमें लक्षण की अव्याप्ति होगी। इसलिए 'पाकज स्पर्श वाले में रहने वाली द्रव्यत्वव्याप्य जाति वाला होना' ऐसा लक्षण का परिष्कार कर लिया गया।

का०:—नित्याऽनित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा ॥३६॥

अनित्या तु तदन्या स्यात्सैवावयवयोगिनी।

सि० मु०:— सा पृथिवी द्विविधा नित्याऽनित्या चेत्यर्थः। अणुलक्षणा परमाणुरूपा पृथिवी नित्या। तदन्या परमाणुभिन्ना पृथिवी द्व्यणुकादिरूपा सर्वाऽप्यनित्येत्यर्थः। सैव अनित्या पृथिव्येवावयववतीत्यर्थः।

अनु०:— पृथिवी नित्य और अनित्य दो प्रकार की है। 'अणु' के

स्वरूप में पृथिवी नित्य है, और उससे भिन्न अवयवयुक्त (कार्यरूपा) पृथिवी अनित्य है।

वह पृथिवी दो प्रकार की है नित्य और अनित्य, यह अर्थ है। अणु-लक्षणा अर्थात् परमाणु के स्वरूप में पृथिवी नित्य है। उससे भिन्न द्वयणुकादि रूप में सारी पृथिवी अनित्य है, ऐसा अर्थ है। वह अनित्य पृथिवी ही अवयववाली है, यह अर्थ हुआ।

व्याख्या:—अणु और परमाणु का एक ही अर्थ है, यह बताया जा चुका है। 'अणु' के स्वरूप में पृथिवी नित्य है। क्योंकि अणु निरवयव है, इसलिए 'अणु' रूप पृथिवी का (अवयवनाश या अवयवों के संयोग का नाश सम्भव न होने से) नाश नहीं हो सकता, इसलिए वह नित्य है। अणु से आगे द्वयणुक, त्र्यणुक तथा आगे स्थूल कार्य बनते हैं, वे सब अवयवयुक्त हैं; और अवयवयुक्त सब पृथिवी अनित्य है, यह स्पष्ट है।

सि० मु० :—ननु अवयविनि किं मानम्, परमाणुपुञ्जैरेवोपपत्तेः। न च परमाणूनामतीन्द्रियत्वाद् घटादेः प्रत्यक्षं न स्यादिति वाच्यम्, एकस्य परमाणोरप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वात्। यथैकस्य केशस्य दूरेऽप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वम्। न चैको घटः स्थूल इति बुद्धेरनुपपत्तिरिति वाच्यम्, एको महान् धान्यराशिरितिवदुपपत्तेः। मैवम्, परमाणोरतीन्द्रियत्वेन तत्समूहस्यापि प्रत्यक्षत्वायोगात्। दूरस्थकेशस्तु नातीन्द्रियः, सन्निधाने तस्यैव प्रत्यक्षत्वात्।

अनु०:- प्रश्न यह होता है कि (ननु) (अवयवों से पृथक्) अवयवी के मानने में क्या प्रमाण है, जब कि परमाणु के समूह (को मानने) से ही काम चल सकता है। और, यहां यह शङ्का भी नहीं हो सकती कि परमाणुओं के प्रत्यक्ष के अयोग्य (अतीन्द्रिय) होने से (यदि घट को परमाणु-समूह ही

माना जाय तो, घट का प्रत्यक्ष नहीं होगा; क्योंकि एक परमाणु के अप्रत्यक्ष होने पर भी उसके समूह का प्रत्यक्ष हो सकता है। जैसे, दूर होने की दशा में एक केश का प्रत्यक्ष न होने पर भी उसके समूह का प्रत्यक्ष होता है। और, न यह शङ्का करनी चाहिये कि (घट को बहुत से सूक्ष्म परमाणुओं का समूह मानने पर) घट एक है और स्थूल है, इस प्रकार का ज्ञान नहीं बन सकेगा, क्योंकि जिस प्रकार (अनेक छोटे छोटे अनाज के दानों से बनी) अनाज के दानों की राशि को एक और बड़ा (कहते हैं), उसी प्रकार (घट एक है और स्थूल है) यह ज्ञान भी (बन जायगा)।

(नैयायिक उत्तर देता है कि) उपर्युक्त बात ठीक नहीं, क्योंकि परमाणु के प्रत्यक्ष के अयोग्य होने से उसका समूह भी प्रत्यक्ष के अयोग्य होगा। (और यहां केश का दृष्टान्त नहीं बन सकता, क्योंकि) दूरस्थित केश को भी प्रत्यक्ष के अयोग्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पास लाने पर उसी का प्रत्यक्ष हो जाता है।

व्याख्या:—अवयविवाद— अर्थात् अवयवी अवयवों से अतिरिक्त पदार्थ है और वह अपने अवयवों का समूहमात्र नहीं, प्रत्युत अवयवों से भिन्न एक नई वस्तु है, उदाहरणार्थ 'पट' तन्तुओं का समूहमात्र नहीं, प्रत्युत तन्तुओं में उत्पन्न हुआ एक नया पदार्थ है—यह न्यायवैशेषिक का आधारभूत सिद्धान्त है। न्यायवैशेषिक का कार्यकारणवाद भी इसी सिद्धान्त पर निर्भर है। साँख्य, वेदान्त, बौद्ध आदि सभी इस सिद्धान्त के विरोधी हैं। साँख्य के अनुसार 'पट' तन्तुओं से अतिरिक्त कोई नई वस्तु नहीं, केवल 'तन्तु' ही 'पट' के रूप में आजाते हैं। साँख्य का यह सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद' कहलाता है। परन्तु न्यायवैशेषिक के अनुसार तन्तु पट के स्वरूप में नहीं बदलते प्रत्युत तन्तु अपने 'तन्तुस्वरूप' में ही बने रहते हैं, परन्तु उन तन्तुओं में एक सर्वथा नई वस्तु 'पट' नामक उत्पन्न हो जाती है। जो पहिले नहीं थी। इस सिद्धान्त को असत्कार्यवाद या आरम्भवाद कहते हैं (देखो पृ० ६६)। तन्तुओं में 'पट' नामक नई वस्तु के उत्पन्न होने का अर्थ ही यह है कि

अवयवों में एक नई वस्तु 'अवयवी' उत्पन्न होगई। अर्थात् अवयवों से अवयवी भिन्न है। क्योंकि यदि अवयवों को अवयवी से भिन्न न माना जाय और उसे केवल अवयवों का समूहमात्र माना जाय तो 'पट' कोई नई वस्तु न होगी और केवल तन्तुओं का समूहमात्र होगा। इसी प्रकार 'तन्तु' के विषय में भी कहा जा सकता है कि वह भी कोई नई वस्तु नहीं, प्रत्युत अपने कारण का समूहमात्र है। इस प्रकार हम मूलकारण तक (चाहे उसे न्यायवैशेषिक के अनुसार परमाणु, या साँख्य के अनुसार प्रकृति, या वेदान्त के अनुसार ब्रह्म, या बौद्ध के अनुसार 'स्वलक्षण' कहें) चले जाएँगे, और मूलकारण के सिवाय कोई वस्तु यथार्थ न रह सकेगी। इसलिए न्याय-वैशेषिक शास्त्र, जिसका उद्देश्य बाह्यवस्तुवाद (realism) अर्थात् 'संसार के दृश्यमान पदार्थों के वास्तविक अस्तित्व की स्थापना करना' है, इस बात को आग्रह पूर्वक सिद्ध करता है कि 'तन्तुओं' से 'पट' का अलग अस्तित्व है अर्थात् (दूसरे शब्दों में) अवयवों से अवयवी पृथक् है, अवयवी अवयवों का समूहमात्र नहीं।

अवयवों से अतिरिक्त अवयवी को, जैसा कि ऊपर कहा गया है, साँख्य, वेदान्त और बौद्ध कोई भी नहीं मानते। परन्तु यहाँ बौद्ध की ओर से अवय-विवाद के खण्डन का प्रश्न उठाया गया है। बौद्ध, जैसा कि पहिले बताया जा चुका है (देखो पृ० ४९-५१), 'स्वलक्षण' नामक तत्वों को मानता है, जो अनन्त हैं, यथार्थ हैं, परन्तु क्षणिक हैं। उन स्वलक्षणों के आधार पर ही यह सारा दृश्यमान जगत् और उसके पदार्थ प्रतीत होते हैं। परन्तु उन स्वलक्षणों को मिलाकर कोई कार्य-द्रव्य घट, पट आदि बनते हों, ऐसा नहीं है। यद्यपि कई दृष्टियों से स्वलक्षणों का स्वरूप परमाणुओं से भिन्न है, परन्तु स्वलक्षणों को न्यायवैशेषिक के परमाणुओं के समान ही मूलतत्त्व माना गया है। इस लिए यहां बौद्ध 'स्वलक्षण' और 'परमाणु' में भेद न करता हुआ कहता है कि 'परमाणुओं के समूह' से ही जब घट, पट आदि स्थूल पदार्थों की प्रतीति बन सकती है तो अवयवी को अलग पदार्थ क्यों माना जाय? उसका कहना है कि यद्यपि एक परमाणु अप्रत्यक्ष होता है, परन्तु परमाणुओं के समूह का

प्रत्यक्ष हो सकता है जैसे कि एक केश दूर से दिखाई नहीं देता, परन्तु केशों का समूह दूर से भी दिखाई देता है]। और, जैसे अनाज के दानों के ढेर में 'एक' और 'बड़ा' होने की प्रतीति होती है इसी प्रकार परमाणुओं के समूह-रूप 'घट' में भी 'एक' और 'स्थूल' वस्तु होने की प्रतीति हो जायगी। न्यायवैशेषिक इसका यह उत्तर देता है कि केश यद्यपि सूक्ष्म होने के कारण दूर से नहीं दिखाई देता, परन्तु वह वस्तुतः प्रत्यक्ष के अयोग्य वस्तु तो नहीं है, क्योंकि पास से केश दिखाई देता है। इसलिए केश जो कि प्रत्यक्ष योग्य है, वह सूक्ष्म होने से अकेला दूर से नहीं दीखता, परन्तु उसका समूह दूर से भी दीख जाता है। परन्तु 'परमाणु' जो कि सर्वथा प्रत्यक्ष के अयोग्य हैं, उनका कितना ही बड़ा समूह क्यों न हो वह भी प्रत्यक्ष के अयोग्य ही होगा, क्योंकि वस्तु का स्वभाव नहीं बदल सकता। इसलिए 'अवयवी' को अवयवों से पृथक् वस्तु माने विना काम नहीं चल सकता।

आलोचना:— हमने यहाँ कहा है कि बौद्ध 'परमाणु' और 'स्वलक्षण' में भेद न करता हुआ कहता है कि परमाणुओं के समूह से ही 'अवयवी' का का काम चल जायगा और अवयवी को पृथक मानने की आवश्यकता नहीं। परन्तु, जैसा कि पहले (४६–५१ पृ० पर) बतलाया जा चुका है कि बौद्धों के 'स्वलक्षणों' और न्यायवैशेषिक के 'परमाणुओं' में बहुत अन्तर है। इसलिए बौद्ध की ओर से 'परमाणु समूह से काम चल जायगा' इत्यादि तर्क ठीक नहीं जँचता। यथार्थ बात कदाचित् यह हो सकती है कि विश्वनाथ का समय १७ वीं शताब्दी है, जिस समय बौद्धों के सिद्धान्त सर्वथा भुला दिए गए थे, और न्यायवैशेषिक के पण्डित 'स्वलक्षण' का स्वरूप और उसका 'परमाणु' से भेद ठीक ठीक प्रकार से नहीं समझते थे। १० वीं शताब्दी तक के ग्रन्थों में बौद्धों के सिद्धान्तों का ठीक ठीक प्रतिपादन किया गया है। उसके बाद भी जितना ही प्राचीनतर ग्रन्थ होगा, उसमें बौद्धों के सिद्धान्त पीछे की पुस्तकों की अपेक्षा ठीक मिलेंगे। उदाहरणार्थ, १३वीं, १४ वीं सदी के ग्रन्थों में १६ वीं, १७ वीं सदी के ग्रन्थों की अपेक्षा बौद्ध सिद्धान्तों का निरूपण अधिक भी पाया जाता है और ठीक भी पाया जाता है।

एक और भी बात इस विषय में ध्यान रखनी चाहिए। न्यायवैशेषिक भी अवयव-समूह से पृथक् एक नया पदार्थ 'अवयवी' वहीं मानते हैं जहाँ उनकी दृष्टि में अवयवों से एक नई वस्तु की उत्पत्ति प्रतीत होती है; जैसे 'तन्तु'– अवयवों में 'पट' एक नई वस्तु उत्पन्न होती है, इसलिये 'पट' तन्तु समूह नहीं प्रत्युत एक नई वस्तु 'अवयवी' के रूप में है। परन्तु 'वृक्षों का समूह' 'वन' होता है या 'मनुष्यों का समूह' 'सेना' कहलाती है। यहां 'वन' और 'सेना' वृक्षों या मनुष्यों (अवयवों) में उत्पन्न हुई कोई नई वस्तु अर्थात् नया 'अवयवी' नहीं है, प्रत्युत वृक्षों के समूहमात्र को वन और मनुष्यों के समूहमात्र को सेना कहते हैं। दूसरे शब्दों में वृक्ष और मनुष्य अन्त्यावयवी हैं और अन्त्यावयवी पदार्थों के समूह में कोई नया अलग 'अवयवी' नहीं माना जाता (देखो 'अन्त्यावयवी' की आलोचना पृ० १३४)।

अब 'अवयविवाद' के विषय में ही और विवेचन करते हैं :—

सि० मु०— न च तदानीमदृश्यपरमाणुपुञ्जाद् दृश्यपरमाणुपुञ्जस्योत्पन्नत्वान्न प्रत्यक्षत्वे विरोधइति वाच्यम्, अदृश्यस्य दृश्यानुपादानत्वात्। अन्यथा चक्षुरूष्मादिसन्ततेरपि कदाचिद् दृश्यत्वप्रसङ्गात्। न चातितप्ततैलादौ कथमदृश्यदहनसन्ततेर्दृश्यदहनोत्पत्तिरिति वाच्यम्, तत्र तदन्तःपातिभिर्दृश्यदहनावयवैः स्थूलदहनोत्पत्तेरुपगमात्। न चादृश्येन द्व्यणुकेन कथं दृश्यत्रसरेणोरुत्पत्तिरिति वाच्यम्, यतो न दृश्यत्वमदृश्यत्वं वा कस्यचित्स्वभावादाचक्ष्महे किन्तु महत्त्वोद्भूतरूपादिकारणसमुदायवशात् दृश्यत्वम्, तदभावे चादृश्यत्वम्। तथा च त्रसरेणोर्महत्त्वात्प्रत्यक्षत्वं नतु द्व्यणुकादेस्तदभावात्। न हि त्वन्मतेऽपि सम्भवतीदम्, परमाणौ महत्त्वाभावात्।

अनु०: – और यह भी नहीं कहा जा सकता कि उस समय (कार्योत्पत्ति काल में) प्रत्यक्ष के अयोग्य (अदृश्य) परमाणुओं के समूह से प्रत्यक्ष योग्य परमाणुओं की उत्पत्ति होने से (घटादि) के प्रत्यक्ष होने में कोई विरोध नहीं आता। क्योंकि अदृश्य पदार्थ दृश्य का उपादान कारण नहीं हो सकता। अन्यथा (अर्थात् यदि अदृश्य वस्तु दृश्य का उपादान कारण हो सकती हो तो) चक्षु और गरमी की परम्परा (सन्तति जो कि अदृश्य अग्नि है, वह) भी कदाचित् दृश्य हो जाय, यह बात आपड़ेगी। और न यही कहा जा सकता है कि अत्यन्त गरम तेल आदि में अदृश्य अग्नि की धारा से दृश्य (ज्वालादि के रूप में) अग्नि की उत्पत्ति कैसे हो जाती है, क्योंकि वहां (उस गरम तेल आदि में) दृश्य अग्नि के अवयवों से ही स्थूल अग्नि की उत्पत्ति होती है। और न यह शङ्का करनी चाहिए कि अदृश्य द्व्यणुक से दृश्य त्र्यणुक की उत्पत्ति कैसे हो जाती है, क्योंकि किसी वस्तु का दृश्यत्व और अदृश्यत्व स्वभाव से ही हो, यह बात नहीं है, किन्तु महत्प-रिमाण और उद्भूत रूप आदि कारण समूह के होने पर दृश्यत्व और उनके न होने पर अदृश्यत्व होता है। इस प्रकार त्र्यणुक का महत्परिमाण होने से प्रत्यक्ष होता है और द्व्यणुक का उसके (महत्परिमाण के) न होने से (प्रत्यक्ष) नहीं होता। तुम्हारे मत में यह बात नहीं बन सकती, क्योंकि परमाणु में महत्परिमाण नहीं है (और तुम्हारे मत में परमाणु से बनी अन्य कोई महत्परिमाण वाली वस्तु, त्र्यणुक के समान, मानी नहीं जाती)।

व्याख्या:— इससे पहिले यह कहा गया था कि यदि परमाणु समूह के अतिरिक्त कोई अवयवी न माना जाय तो 'घट' आदि वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। इस पर बौद्ध की ओर से यह कहा गया कि ऐसा क्यों न मान लिया जाय कि अदृश्य परमाणुओं के समूह से दृश्य परमाणुओं के समूह उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु नैयायिक उत्तर देता है कि अदृश्य वस्तु दृश्य का उपादान कारण हो ही नहीं सकती। इस पर बौद्ध यह प्रश्न करता है कि कढ़ाई में गर्म तेल आदि में अदृश्य आग होती है, परन्तु उसी में कभी किसी

वस्तु के आ पड़ने से लपट निकलने लगती है, वहां अदृश्य आग से दृश्य आग कैसे पैदा हो जाती है? नैयायिक उत्तर देता है कि तेल के अन्दर विद्यमान अग्नि के सूक्ष्म अवयव वस्तुतः दृश्य ही होते हैं और उन्हीं से (लपट के रूप में) स्थूल अग्नि की उत्पत्ति होती है। परन्तु बौद्ध प्रश्न करता है कि नैयायिक अदृश्य द्व्यणुक से दृश्य त्र्यणुक की उत्पत्ति कैसे मानते हैं? इस पर नैयायिक का उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष होना जिन कारणों पर निर्भर होता है, उनमें से एक कारण महत्परिमाण भी है। द्व्यणुक में अणु परिमाण होता है, इसलिए महत्परिमाण के न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। परन्तु त्र्यणुक में महत्परिमाण होता है, इसलिए उसका प्रत्यक्ष होता है। और यह पहिले ही बताया जा चुका है (देखो पृ० ८६-८७) कि त्र्यणुक का महत्परिमाण द्व्यणुक के (अणु) परिमाण से उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत तीन द्व्यणुकों में रहने वाली त्रित्व संख्या से उत्पन्न होता है। बौद्ध के मत में इस प्रकार अदृश्य से दृश्य के उत्पन्न होने का समाधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि परमाणु में तो बौद्ध भी महत्परिमाण नहीं मानता और परमाणु से, जिस प्रकार नैयायिक के मत में द्व्यणुक और द्व्यणुक से त्र्यणुक बनते हैं, इस प्रकार, कोई वस्तु बनती नहीं जिसमें किसी प्रकार से महत्परिमाण का उत्पन्न होना मान लिया जाय। इस प्रकार केवल परमाणु समूह के मानने से घट आदि का प्रत्यक्ष नहीं बन सकता, इसलिए अवयवों के समूह से अतिरिक्त अवयवी का मानना आवश्यक हो जाता है। अब इसी प्रसङ्ग में न्याय-वैशेषिक 'परमाणुवाद' को स्थापित करता है:-

सि० मु०:— इत्थञ्चावयविसिद्धौ तेषामुत्पादविनाशयोः प्रत्यक्षसिद्धत्वादनित्यत्वम्। तेषां चावयवावयवधाराया अनन्तत्वे मेरुसर्षपयोरपि साम्यप्रसङ्गः। अतः क्वचिद्विश्रामो वाच्यः, यत्र तु विश्रामस्तस्यानित्यत्वेऽसमवेतभावकार्योत्पत्ति-प्रसङ्ग इति तस्य नित्यत्वम्। महत्परिमाणतारतम्यस्य गगनादौ

विश्रान्तत्वमिवाऽणुपरिमाणतारतम्यस्यापि क्वचिद्विश्रान्तत्वम-स्तीति तस्य परमाणुत्वसिद्धिः, न च त्रसरेणावेव विश्रामोऽस्त्विति वाच्यम्, 'त्रसरेणुः सावयवः चाक्षुषद्रव्यत्वात्, घटवदित्यनुमानेन' तदवयवसिद्धौ, 'त्रसरेणोरवयवाः सावयवाः महदारम्भकत्वात् कपालवदित्यनुमानेन' तदवयवसिद्धेः । न चेदमप्रयोजकम्, अपकृष्टमहत्त्वं प्रत्यनेकद्रव्यवत्त्वस्य प्रयोजकत्वात् । न चैवं क्रमेण तदवयवधारापि सिध्येदिति वाच्यम्, अनवस्थाभयेन तदसिद्धेरिति ।

अनु०:— इस प्रकार अवयवी के सिद्ध होने पर उन (अवयवियों) की उत्पत्ति और विनाश के प्रत्यक्ष से सिद्ध होने के कारण (उन अवयवियों का) अनित्यत्व (सिद्ध हो जाता) है । यदि उनकी अवयवधारा के अनन्त मानने से (अर्थात् उनके अवयवों के अवयव, फिर उनके अवयव, इस प्रकार लगातार विना किसी जगह समाप्ति किए लगातार अवयव धारा मानने से) मेरु (पर्वत) और सरसों के दाने (के परिमाण) की भी समानता आपड़ेगी (अर्थात् उनका एक ही परिमाण होगा)। इसलिए कहीं पर (अवयवधारा की) समाप्ति कहनी पड़ेगी । जहाँ पर (अवयवधारा की) समाप्ति हो जाती है यदि उसे अनित्य माना जाय तो असमवेत (अर्थात् अवयवों में समवाय सम्बन्ध से न रहने वाले) 'भाव' कार्य की उत्पत्ति का होना आ पड़ेगा, और उस (पदार्थ) की (अपने अवयवों में समवाय सम्बन्ध से न रहने के कारण) नित्यता होगी। और महत्परिमाण के अधिकतर और अधिकतम होने (तारतम्य) की जिस प्रकार आकाश आदि में विश्रान्ति (समाप्ति, पराकाष्ठा) हो जाती है (अर्थात् आकाश आदि का ऐसा परममहत्परिमाण होता है जिससे बड़ा दूसरा परिमाण हो ही नहीं सकता) उसी प्रकार अणु (सूक्ष्म) परिमाण के भी न्यूनतर और न्यूनतम होने (तारतम्य) की कहीं समाप्ति हो जाती है और

(जिस वस्तु में वह समाप्ति हो जाती है अर्थात् जिसके परिमाण से छोटा और कोई परिमाण हो ही न सके), उसके परमाणु होने की सिद्ध हो जाती है। यह नहीं कहना चाहिए कि त्र्यणुक में ही (सूक्ष्म परिमाण की) समाप्ति हो जायगी, क्योंकि 'त्र्यणुक अवयवयुक्त है, चाक्षुष प्रत्यक्ष योग्य द्रव्य होने से, घट के समान' इस प्रकार के अनुमान से उसके (त्र्यणुक के) अवयव सिद्ध हो जाते हैं। फिर 'त्र्यणुक के अवयव भी अवयवयुक्त हैं, क्योंकि महत्परिमाण वाले द्रव्य को बनाते हैं, कपाल के समान' इस अनुमान से उस (द्व्यणुक) के भी अवयव (अर्थात् अणु) सिद्ध हो जाते हैं। और न यह कहा जा सकता है कि यह अनुमान अनुकूलतर्करहित (अप्रयोजक) है, क्योंकि अपकृष्ट महत्परिमाण (अर्थात् परममहत्परिमाण को छोड़ कर बाकी परिच्छिन्न महत्परिमाण, देखो पृ० १५३) के प्रति अनेकद्रव्यवत्त्व प्रयोजक (कारण) है। और न यह कहना ठीक होगा कि इस प्रकार उस (त्र्यणुक के अवयव के अवयव=परमाणु) के भी अवयव की धारा (अर्थात् लगातार अवयवों के अवयव होने की परम्परा) भी सिद्ध हो जायगी क्योंकि अनवस्था के भय से उसकी असिद्धि हो जायगी।

व्याख्या:— जब अवयवों से पृथक् अवयवों में रहने वाला 'अवयवी' नामक पदार्थ सिद्ध होगया तो यह स्पष्ट है कि वह 'अवयवी' अनित्य होगा, क्योंकि वह अपने अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला उत्पन्न होता है और अवयवों के नाश से अथवा अवयवों के संयोग के नाश से नष्ट हो जाता है, जैसे कि 'पट' नामक अवयवी अपने अवयव तन्तुओं के नाश से अथवा तन्तु-संयोग के नाश से नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अवयवी की उत्पत्ति और नाश होने से वह अनित्य है, यह निश्चित है। प्रत्येक अवयवी के जो अवयव हैं, वे भी अपने अवयवों से बने हैं। और, अपने अवयवों की दृष्टि से वे ('अवयव') भी 'अवयवी' हैं। जैसे, पट के अवयव तन्तु हैं और तन्तु के अवयव रेशे हैं। उन रेशों (अवयवों) की दृष्टि से तन्तु भी अवयवी हैं, क्योंकि उन रेशों में समवेत हैं। इसी प्रकार उन रेशों के भी अवयव होंगे और उसके आगे उनके भी अवयव होंगे। यह अवयवों के अवयव होने की

धारा यदि लगातार चलती चली जाय तो प्रत्येक वस्तु के अनन्त अवयव होंगे। यदि प्रत्येक वस्तु के अनन्त अवयव हैं तो प्रत्येक वस्तु का परिमाण बराबर ही होगा। सरसों के सूक्ष्म दाने का और एक बड़े पहाड़ का परिमाण एकसा होगा, क्योंकि परिमाण भेद का कारण तो यही है कि सरसों के दाने में कम परमाणु हैं और पहाड़ में अधिक परमाणु हैं। परन्तु यदि अवयव धारा कहीं भी समाप्त नहीं होती और परमाणु जैसी कोई वस्तु (जिसके आगे टुकड़े न हो सकें) नहीं हैं तो सरसों और पहाड़ दोनों के ही अनन्त अवयव होंगे, और ऐसी दशा में दोनों के समान (अनन्त) अवयव होने से उनका परिमाण भी समान होना चाहिए। पहाड़ के परिमाण में भेद होना, न्यायवैशेषिक शास्त्र में, अणुवाद की मुख्यतम युक्ति है। क्योंकि पदार्थों के परिमाण में भेद केवल इसलिए है कि वे ऐसे अणुओं से बने हुए हैं जिनके आगे टुकड़े (अवयव) नहीं हो सकते। और इस प्रकार अणुओं की न्यून और अधिक संख्या होने से परिणाम भी न्यून और अधिक होता है।

जहां अवयवधारा का विश्राम है अर्थात् जिसके आगे टुकड़े अर्थात् अवयव नहीं हो सकते उस परमाणु को नित्य मानना आवश्यक है, क्योंकि यदि उसे नित्य न माना जाय तो यह कहना होगा कि कोई भावरूप वस्तु ऐसी भी उत्पन्न हो सकती है जो अपने अवयवों में समवेत न हो। परन्तु न्यायवैशेषिक के सिद्धान्त के अनुसार यह असम्भव है। किसी वस्तु की उत्पत्ति का स्वरूप ही यह है कि वह अपने अवयवों में समवेत होकर (अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहती हुई) उत्पन्न हो। अवयवों में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होने के विना किसी भाव पदार्थ की उत्पत्ति ही नहीं सोची जा सकती। यहाँ 'भाव' पदार्थ इसलिए कहा है कि 'अभाव' पदार्थ की उत्पत्ति में 'अवयवों में समवेत' होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता, क्योंकि न तो अभाव के अवयव होते हैं और न अभाव समवाय-सम्बन्ध से ही रहता है। परन्तु भाव पदार्थ की उत्पत्ति, न्यायवैशेषिक के अनुसार, अपने अवयवों में समवाय-सम्बन्ध से रहने के रूप में ही होती है। इसके सिवाय और किसी तरह हो ही नहीं सकती। इसलिए 'परमाणु' को

निरवयव कहने से यह स्वयमेव आ जाता है कि वह 'नित्य' है।

परमाणु की सिद्धि में एक दूसरी युक्ति और भी दी गई है। जैसे बड़े परिमाण में बड़े और उससे भी बड़े का तारतम्य होते हुए अन्त में हम आकाश आदि के परममहत्परिमाण तक पहुंचते हैं जिससे बड़ा कोई परिमाण हो ही नहीं सकता, इसी प्रकार छोटे परिमाण की ओर भी छोटा और उससे छोटा, इस प्रकार के तारतम्य से हम ऐसे छोटे परिमाण पर पहुंचते हैं कि जिससे छोटा और कोई परिमाण हो ही नहीं सकता, और वह जिसमें रहता है वही 'अणु' है।

यह प्रश्न हो सकता है कि 'त्र्यणुक जिसका आँख से दीखने वाला छोटे से छोटा परिमाण है, उसी पर अवयव धारा की समाप्ति क्यों न मान ली जाय? अँधेरे में किसी छिद्र में से सूर्य की किरणें निकल रही हों तो उनके प्रकाश में जो अत्यन्त छोटे छोटे कण दिखाई देते हैं (देखो पृ० ८६) उनका परिमाण सबसे छोटा महत्परिमाण माना जाता है और वे कण ही त्र्यणुक होते हैं। उन पर अवयवधारा की समाप्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि त्र्यणुक सबसे छोटा कण होने पर भी दृश्यमान (चाक्षुष प्रत्यक्ष के योग्य) द्रव्य है, और 'जो जो चाक्षुष प्रत्यक्ष के योग्य द्रव्य है वह वह सावयव होगा, जैसे घट' इस अनुमान से त्र्यणुक का सावयव होना सिद्ध है। फिर यह प्रश्न होता है कि त्र्यणुक के अवयवों पर ही (जिनको वैशेषिक 'द्व्यणुक' के रूप में मानता है) अवयव धारा की समाप्ति क्यों न मान ली जाय अर्थात् त्र्यणुक के अवयवों को निरवयव मान लिया जाय। इसका उत्तर देते हैं कि त्र्यणुक के अवयव भी सावयव होंगे, क्योंकि वे महत्परिमाण रखने वाले द्रव्य के अवयव हैं। यह ऊपर बतलाया ही जा चुका है कि त्र्यणुक का महत्परिमाण होता है और महत्परिमाण के कारण ही वह प्रत्यक्ष योग्य होता है। यहां पर यह बतलाया गया कि जो महत्परिमाणयुक्त द्रव्य के अवयव होते हैं वे स्वयं भी सावयव होते हैं जैसे कपाल, अर्थात् कपाल महत्परिमाणयुक्त घट के अवयव हैं इसलिए वे भी सावयव हैं। इसी प्रकार महत्परिमाणयुक्त द्रव्य 'त्र्यणुक' के अवयव होने से द्व्यणुक भी सावयव

होंगे। परन्तु द्वयणुक का परिमाण महत्परिमाण नहीं, प्रत्युत अणु परिमाण ही है। इसलिए द्वयणुक के अवयव 'अणुओं' के सावयव होने का प्रश्न नहीं उठता और अणुओं पर अवयवधारा समाप्त हो जाती है।

यहाँ यह आक्षेप हो सकता है कि पहिला अनुमान अर्थात् 'चाक्षुष-द्रव्यत्व हेतु से त्र्यणुक के सावयव होने का अनुमान' अप्रयोजक अर्थात् अनुकूल तर्क रहित क्यों न कहा जाय ? यह पहिले (देखो पृ० १५—१६) बताया जा चुका है कि व्याप्ति में व्यभिचार की शङ्का होने पर उस व्यभिचार-शङ्का को दूर करने वाला तर्क ही अनुकूल तर्क कहा जाता है। यहाँ पर यदि इस प्रकार की व्यभिचार शङ्का होने लगे कि 'त्रसरेणु में 'चाक्षुष द्रव्यत्व' रूप हेतु तो हो परन्तु 'सावयवत्व' रूप साध्य न हो' तो इस व्यभिचार-शङ्का को दूर करने वाला अनुकूल तर्क नैयायिक के पास है, क्योंकि जैसा पहिले (पृ० १६ पर) बताया जा चुका है कि अनुकूलतर्क प्रायः कार्यकारण भाव के रूप में होता है। यहां भी उसी प्रकार कार्यकारण भाव के रूप में अनुकूल तर्क इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है कि अपकृष्ट महत्त्व के प्रति अनेक-द्रव्यवत्त्व प्रयोजक अर्थात् हेतु है। वह इस प्रकार कि चाक्षुष प्रत्यक्ष योग्य द्रव्य का व्यापक अपकृष्ट महत्परिमाण है अर्थात् जिस जिस द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है उस उसमें अपकृष्ट महत्परिमाण होता है। यह ऊपर बताया ही जा चुका है कि द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में महत्परिमाण कारण है। इस प्रकार जिस जिस द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होगा उसमें अपकृष्ट महत्परिमाण (विभु से अतिरिक्त महत्परिमाण=अपकृष्ट महत्परिमाण) अवश्य होगा। और अपकृष्ट महत्परिमाण का व्यापक अनेकद्रव्यवत्त्व है अर्थात् जहां जहां अपकृष्ट महत्परिमाण होता है वहां वहां अनेकद्रव्यवत्त्व अवश्य होता है, क्योंकि त्र्यणुक आदि जिनमें अपकृष्ट महत्परिमाण होता है वे अवश्य अनेक द्रव्यों से बने हुए अर्थात् अनेक द्रव्य वाले होते हैं, और यह भी स्पष्ट है कि अनेक द्रव्यवत्त्व का व्यापक सावयवत्व है अर्थात् जो जो अनेक द्रव्य वाला होगा वह सावयव अवश्य होगा इस प्रकार 'चाक्षुष प्रत्यक्ष योग्य द्रव्य का 'सावयवत्व' व्यापक होगया, इसलिए यदि किसी द्रव्य में चाक्षुषप्रत्यक्षयोग्य द्रव्यत्व है

तो उसमें सावयवत्व भी अवश्य होगा। इस प्रकार यह व्यभिचार शङ्का दूर हो जाती है कि त्र्यणुक में 'चाक्षुष द्रव्यत्व' हेतु हो और 'सावयवत्व' साध्य न हो, क्योंकि ऊपर बताए कार्यकारण भाव से यह निश्चित हो जाता है कि यदि त्र्यणुक में 'चाक्षुष द्रव्यत्व' है तो वह सावयव भी अवश्य है।

अब यह शङ्का होती है कि इस प्रकार अवयवधारा परमाणु के आगे भी क्यों न मान ली जाय। ऊपर यह कहा गया कि द्वयणुक का परिमाण महत्परिमाण नहीं है इसलिए द्वयणुक के अवयव अर्थात् 'अणु' सावयव नहीं होंगे। परन्तु अणु के सावयव होने का भी अनुमान निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—द्वयणुक के अवयव (अणु) सावयव होंगे क्योंकि वे महदारम्भक के आरम्भक हैं, अर्थात् महत् = महत्परिमाण युक्त जो त्र्यणुक, उसके आरम्भक = उत्पन्न करने वाले (समवायिकारण) जो द्वयणुक, उनके आरम्भक अणु हैं, जैसे कपालिका (छोटा कपाल)। महत्परिमाण युक्त जो घट उसका आरम्भक जो कपाल उस कपाल की आरम्भक कपालिका होती है। जैसे वह कपालिका सावयव होती है, उसी प्रकार त्र्यणुक (महत्) का आरम्भक जो द्वयणुक, उसका आरम्भक जो परमाणु वह भी सावयव होगा अर्थात् परमाणु के भी अवयव होंगे। इस प्रकार अनुमान तो परमाणु के सावयव होने का भी बन सकता है, परन्तु इस अनुमान के आधार पर अणु के भी यदि अवयव मान लिये जायं तो 'अनवस्था' (ad infinitum) दोष होगा, और यह परम्परा कहीं भी समाप्त न होगी। और, अनन्त अवयव धारा के होने पर मेरु और सरसों का समान परिमाण होना आपड़ेगा। इसलिए 'अणु' पर ही अवयव धारा की समाप्ति माननी पड़ती है।

आलोचना:— ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट रूप से आजाता है कि अनुमान के द्वारा त्र्यणुक से द्वयणुक और द्वयणुक से 'अणु' को नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि जिस प्रकार अनुमान द्वारा त्र्यणुक से द्वयणुक और द्वयणुक से अणु सिद्ध किया गया उसी प्रकार अनुमान से 'अणु' के भी अवयव सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु यदि अनवस्थाभय से उस अनुमान को छोड़ दिया तो अनवस्थाभय से ही त्र्यणुक से द्वयणुक और द्वयणुक से अणु

सिद्ध करने के अनुमानों को भी क्यों छोड़ दिया जाय और त्र्यणुक पर ही समाप्ति क्यों न मान ली जाय। यह स्पष्ट है कि अनुमान द्वारा त्र्यणुक के अवयव के रूप में द्व्यणुक, और द्व्यणुक के अवयव के रूप में अणु को सिद्ध करना न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त की एक निर्बलता है।

पहिले (पृ० १५३ पर) यह बताया गया है कि महत्-परिमाण दो प्रकार का होता है, एक अविभु द्रव्य में रहने वाला महत्परिमाण और दूसरा परम-महत्परिमाण (विभु द्रव्य में रहने वाला परिमाण)। 'महत्परिमाण' शब्द दो अर्थों में आता है :- एक तो व्यापक रूप से दोनों प्रकार के महत्परिमाणों के लिए और दूसरे, अविभु द्रव्य में रहने वाले परिमाण के लिए भी, जिसके लिए यहां 'अपकृष्ट महत्परिमाण' शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु 'अपकृष्ट-महत्परिमाण' शब्द का प्रयोग बहुत कम होता है। इसलिए इसका प्रयोग वहां नहीं किया गया। अविभु परिमाण के लिए अपकृष्टमहत्परिमाण शब्द का प्रयोग करें तो महत्परिमाण का विभाग इस प्रकार दिखाया जा सकता है: —

महत्परिमाण

अपकृष्ट महत्परिमाण | परममहत्परिमाण

यह स्पष्ट ही है कि अपकृष्ट महत्परिमाण और अणु परिमाण दोनों के लिए सामान्य शब्द 'मूर्त्तपरिमाण' आता है।

ऊपर परमाणुसिद्धि में यह भी युक्ति दी गई है कि जिस प्रकार बड़े परिमाण (महत्परिमाण) में अधिक और अधिक के तारतम्य की पराकाष्ठा आकाश आदि के परममहत् (विभु) परिमाण तक पहुंच जाती है, उसी प्रकार छोटे परिमाण (अणु परिमाण) के तारतम्य की पराकाष्ठा 'अणु' तक पहुंच जाती है जिससे छोटा कोई परिमाण नहीं हो सकता। परन्तु यह युक्ति निर्दोष प्रतीत नहीं होती। क्योंकि यद्यपि महत्परिमाण की पराकाष्ठा तो आकाश आदि के परममहत्परिमाण में होती है, परन्तु 'अणु' परिमाण तो सबसे छोटे 'अणु' में रहने वाले परिमाण को ही कहते हैं जिससे छोटा कोई

परिमाण हो ही नहीं सकता, उस परिमाण में न्यून और न्यूनतर आदि का तारतम्य नहीं हो सकता क्योंकि वह तो एक ही प्रकार का सबसे छोटा परिमाण है। इसलिये उसमें छोटे और अधिक छोटे होने के तारतम्य का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यह स्पष्ट है कि न्याय-वैशेषिक में बड़े और उससे बड़े का तारतम्य, या छोटे और उससे छोटे का तारतम्य यह सब महत्परिमाण में ही सम्भव है।

नित्य अर्थात् 'अणुरूप' पृथ्वी को बताकर अब अनित्य पृथ्वी का विभाग करते हैं :—

का०—सा च त्रिधा भवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा ॥३७

सि० मु०:—सा चेति । सा कार्यरूपा पृथिवी त्रिधेत्यर्थः शरीरेन्द्रियविषयभेदात् ।

अनु०:— वह (अनित्यरूपा पृथिवी) तीन प्रकार की है:— देह, इन्द्रिय और विषय।

'सा च' इत्यादि अंश की टीका करते हैं। वह कार्यरूपा (अनित्य) पृथिवी तीन प्रकार की है, यह अर्थ है, (तीन प्रकार) शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से (होते हैं)।

व्याख्या:— पृथिवी आदि चारों अणु द्रव्यों को तीन तीन प्रकार का बताया गया है। दर्शन शास्त्र का विशेषकर आत्मा से सम्बन्ध है। इसलिए 'आत्मा' से सम्बन्ध रखने वाले 'शरीर' और 'इन्द्रिय' को विशेष रूप से अलग बतालाया गया है। बाकी जितने भी पार्थिव पदार्थ हैं, वे सब विषय के अन्दर आजाते हैं, 'विषय' अर्थात् जिसका इन्द्रिय से ग्रहण होता हो।

सि० मु०:— देहमुदाहरति ।

का०:— योनिजादि भवेद्देहम्.......।

सि० मु०:— योनिजमयोनिजं चेत्यर्थः । योनिजमपि द्विविधं जरायुजमण्डजं च । जरायुजं मानुषादीनाम् । अण्डजं

सर्पादीनाम् । अयोनिजं स्वेदजोद्भिज्जादिकम् । स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः । उद्भिज्जास्तरुगुल्माद्याः । नारकिणां शरीरमप्ययोनिजम् । न च मानुषादिशरीराणां पार्थिवत्वे किं मानमिति वाच्यम्, गन्धादिमत्त्वस्यैव प्रमाणत्वात् । न च क्लेदोष्मादेरुपलम्भादाप्यत्वादिकमपि स्यादिति वाच्यम्, तथा सति जलत्वपृथिवीत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात् । न च तर्हि जलीयत्वादिकमेवास्तु न तु पार्थिवत्वमिति वाच्यम्, क्लेदादीनां विनाशेऽपि शरीरत्वेन प्रत्यभिज्ञानाद् गन्धाद्युपलब्धेश्च पृथिवीत्वसिद्धेः । तेन पार्थिवादिशरीरे जलादीनां निमित्तत्वमात्रं बोध्यम् । शरीरत्वं तु न जातिः, पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यात्, किन्तु चेष्टाश्रयत्वम् । वृक्षादीनामपि चेष्टासत्त्वान्नाव्याप्तिः ।

अनु०:— देह का निरूपण करते हैं:—

योनिज आदि (अर्थात् योनिज और अयोनिज, दो प्रकार के) देह होते हैं ।

योनिज और अयोनिज (दो प्रकार के देह होते हैं), यह अर्थ है । योनिज भी दो प्रकार का होता है, एक जरायुज (जरायु गर्भ के चारों ओर की झिल्ली, उससे निकले) और दूसरे अण्डज (अर्थात् अण्डे से उत्पन्न हुए) । जरायुज (शरीर) मनुष्य आदि के होते हैं और अण्डज सर्प आदि के होते हैं । अयोनिज (शरीर) स्वेदज (पसीने से उत्पन्न हुए) तथा उद्भिज्ज (भूमि को फोड़कर उत्पन्न हुए) आदि हैं । कीड़े और दंश (काटने वाले जूं, खटमल) आदि स्वेदज हैं, और पेड़, लता-झाड़ी आदि उद्भिज्ज हैं । नरकवासियों का शरीर भी अयोनिज ही होता है । यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि मनुष्य आदि के शरीर के पार्थिव होने में क्या प्रमाण है, क्योंकि 'गन्धवत्त्व' होना ही उसका प्रमाण है । और यह भी नहीं कहा जा सकता

कि (मनुष्य आदि के शरीर में) गीलापन और उष्णता आदि के पाए जाने से (वे शरीर) जलीय आदि (अर्थात् जल या तेजस् से बने) भी क्यों न माने जायें, क्योंकि वैसा मानने से जलत्व, पृथिवीत्व आदि जातियों की (परस्पर) सङ्कर आपड़ेगा। और न फिर यही कहा जा सकता है कि (मनुष्य आदि के शरीर को) जलीय ही क्यों न मान लिया जाय और पार्थिव न माना जाय, क्योंकि गीलापन आदि के नाश होने पर भी शरीर की पहिचान (प्रत्यभिज्ञा अर्थात् यह वही देवदत्त आदि का शरीर है) होती है, इसलिए (मनुष्य आदि के शरीर का) पार्थिव होना सिद्ध होता है। इस लिए पार्थिव आदि शरीर में जल आदि को निमित्तमात्र समझना चाहिए। परन्तु 'शरीरत्व' जाति नहीं है, क्योंकि पृथिवीत्व आदि से सङ्कर होगा, प्रत्युत 'चेष्टा का आश्रय होना' ही शरीरत्व है। वृक्ष आदि में भी चेष्टा होने से अव्याप्ति नहीं होगी।

व्याख्या:— मनुष्य आदि के शरीर को न्याय-वैशेषिक शास्त्र में पार्थिव माना गया है। परन्तु उनमें गीलापन, उष्णता आदि होने से उन्हें जलीय और तैजस आदि भी क्यों न माना जाय। अन्य बहुत से पुराने सम्प्रदाय शरीर को पाञ्चभौतिक मानते हैं, या यदि आकाश को छोड़ दिया जाय तो चातुर्भौतिक माना जा सकता है। परन्तु न्याय-वैशेषिक अपनी प्रक्रिया के अनुसार मनुष्यादि के शरीर को केवल 'पार्थिव' मानने के लिए विवश है, क्योंकि यदि उसे 'जलीय' आदि भी माना जाय तो मनुष्य के शरीर में 'पृथिवीत्व' जाति के साथ साथ 'जलत्व' आदि जाति भी रहेंगी। परन्तु 'पृथिवीत्व' और 'जलत्व' जाति को साथ साथ मानने में सङ्कर होगा। क्योंकि जातियों में व्याप्यव्यापक भाव होना चाहिए अर्थात् वे एक दूसरी को काटती न हों (देखो पृ० ३७—३६ तक)। परन्तु जलत्व और पृथिवीत्व जातियों में व्याप्यव्यापक भाव नहीं है। वे एक दूसरे को काटती हैं, अर्थात् जहां घट आदि में 'पृथिवीत्व' जाति रहती है वहां 'जलत्व' नहीं रहती, और जहां नदी आदि के प्रवाह में 'जलत्व' जाति रहती है वहां 'पृथिवीत्व' नहीं रहती। शरीर में दोनों के होने से सङ्कर होगा, इसलिए

न्यायवैशेषिक कोई भी वस्तु 'जल और पृथिवी' इन दो द्रव्यों से अथवा किन्हीं भी दो द्रव्यों से बनी हुई मान ही नहीं सकता, क्योंकि वैसा मानने से जाति सङ्कर आ पड़ता है। परन्तु स्पष्ट रूप से शरीर में जलीय अंश (रक्त आदि के रूप में) प्रतीत होता है। उसके विषय में यह उत्तर दिया गया कि मृत अवस्था में शरीर के सूख जाने की दशा में जलीय अंश के सर्वथा नष्ट हो जाने पर 'यह वही देवदत्त आदि का शरीर है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। [नोटः— यह स्पष्ट है कि न्यायवैशेषिक का यह उत्तर सन्तोषजनक नहीं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा तो कई बार वस्तु के सर्वथा बदल जाने पर भी भ्रम से हो जाया करती है। और, रक्त आदि शरीर के आवश्यक अङ्ग हैं। यह कहना कि 'जल' आदि शरीर में निमित्त कारण हैं सङ्गत नहीं हो सकता, क्योंकि निमित्त कारण तो बाह्य कारण होता है, जैसे, घड़े के विषय में कुम्हार, दण्ड आदि हैं। उस निमित्त कारण से वस्तु का स्वरूप नहीं बना करता]।

इसके बाद यह बतलाया गया कि 'शरीरत्व' जाति नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें भी पृथिवीत्व, जलत्व आदि से सङ्करता आ जायगी, अर्थात् शरीर पार्थिव और जलीय, तैजस और वायवीय होते हैं परन्तु शरीरत्व और पृथिवीत्व आदि जातियों में व्याप्यव्यापक भाव नहीं होता। पृथिवीत्व जाति पार्थिव शरीर को छोड़ कर पार्थिव वस्तु घट, पट आदि में भी रहेगी और उसी प्रकार जलत्व जाति नदी आदि के प्रवाह में रहेगी और शरीर में पृथिवीत्व और जलत्व दोनों जातियां रहेंगी। इस प्रकार 'शरीरत्व' को यदि जाति माने तो उसमें 'सङ्कर' दोष आ जायगा। इसलिए 'शरीरत्व' जाति नहीं मानी जाती, प्रत्युत वह उपाधि है जिसका स्वरूप है 'चेष्टा का आश्रय होना'। वृक्षों का भी शरीर माना जाता है, और चेष्टा वृक्षों में भी पाई जाती है. इसलिए 'शरीरत्व' की वृक्षों में भी अव्याप्ति नहीं होगी।

सि० मु०ः— न च वृक्षादेः शरीरत्वे किं मानमिति वाच्यम्, आध्यात्मिकवायुसम्बन्धस्य प्रमाणत्वात् । तत्रैव

किं मानमिति चेद्, भग्नक्षतसंरोहणादिना तदनुमानात् । यदि हस्तादौ शरीरव्यवहारो न भवति तदाऽन्त्यावयवित्वेन विशेषणीयम् । न च यत्र शरीरे चेष्टा न जाता तत्राऽव्याप्तिरिति वाच्यम्, तादृशे प्रमाणाभावात् । अथवा चेष्टावदन्त्यावयविवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्, अन्त्यावयविमात्रवृत्तिचेष्टावद्वृत्तिजातिमत्त्वं वा तत् । मानुषत्वचैत्रत्वादिजातिमादाय लक्षणसमन्वयः । न च नृसिंहशरीरे कथं लक्षणसमन्वयः, तत्र नृसिंहत्वस्यैकव्यक्तिवृत्तितया जातित्वाऽभावाज्ञलीयतैजसशरीरवृत्तितया देवत्वस्याऽपि जातित्वाभावादिति वाच्यम्, कल्पभेदेन नृसिंहशरीरस्य नानात्वेन नृसिंहत्वजात्या लक्षणसमन्वयात् ।

अनु०ः- और यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि वृक्ष आदि के शरीर होने में क्या प्रमाण है, क्योंकि प्राणवायु (आध्यात्मिक वायु) का सम्बन्ध ही (उनके शरीर के होने में) प्रमाण हैं । यदि प्रश्न हो कि (चेत्) उसी में (अर्थात् वृक्ष आदि में प्राणवायु के सम्बन्ध होने में ही) क्या प्रमाण है ? (तो उत्तर है कि वृक्ष में) टूटे हुए (भग्न) तथा कटे हुए (क्षत) (अङ्ग) के पुनः भर जाने (संरोहण) से उसका (प्राणवायु सम्बन्ध का) अनुमान किया जाता है । यदि हाथ आदि (अङ्गों) में शरीर (शब्द) का व्यवहार न होता हो तो ('चेष्टा का आश्रय' इस शरीर के लक्षण के साथ) 'अन्त्यावयवी' यह विशेषण लगा देना चाहिए । और यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि जिस शरीर में चेष्टा उत्पन्न नहीं हुई वहां अव्याप्ति होगी, क्योंकि ऐसे (चेष्टा रहित शरीर) में कोई प्रमाण नहीं । अथवा, 'चेष्टावाले अन्त्यावयवी में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जातिवाला होना' या 'अन्त्यावयवी मात्र में रहने वाली और चेष्टा वाले में रहने वाली जातिवाला होना' यह

(शरीर का लक्षण) है। 'मनुष्यत्व' या 'चैत्रत्व' जाति को लेकर लक्षण घट जायगा। और यह शङ्का न करनी चाहिए कि 'नृसिंह के शरीर' में लक्षण कैसे घटेगा, क्योंकि 'नृसिंहत्व' का, केवल एक व्यक्ति (विष्णु के एक अवतार) में रहने के कारण, जातित्व नहीं हो सकता, (और यदि वहां पर 'देवत्व' जाति के द्वारा काम चलाया जाय तो वह भी सम्भव नहीं, क्योंकि) 'देवत्व' का भी जलीय और तैजस शरीरों में रहने के कारण जातित्व नहीं हो सकता। (इसका उत्तर देते हैं कि) क्योंकि अनेक सृष्टियों के भेद से (कल्प भेद से) नृसिंह शरीर के अनेक होने से 'नृसिंहत्व' जाति के द्वारा लक्षण घट जायगा।

व्याख्या :— यहां प्रसङ्ग से यह प्रश्न उठ गया कि वृक्ष तो निर्जीव होते हैं, उनका शरीर ही क्यों माना जाय तो इसका उत्तर दिया कि वृक्षों में यह देखा जाता है कि यदि कहीं वृक्ष की शाखा टूट जाय या कहीं कुल्हाड़ी आदि से वृक्ष का कोई स्थान काट दिया जाय तो वह टूटा या कटा हुआ स्थान फिर भर जाता है। इससे पता चलता है कि वृक्षों के अन्दर प्राणवायु है जिसके कारण किसी सजीव पदार्थ की वृद्धि होती रहती है। जहां प्राण-वायु रहती है वह शरीर अवश्य होता है। इसलिए वृक्षों का भी शरीर होता है, यह सिद्ध हो गया।

हाथ इत्यादि जो शरीर के अङ्ग हैं उनमें 'शरीर' शब्द का यदि प्रयोग करना ठीक न समझा जाय तो 'चेष्टा का आश्रय होना' यह 'शरीर' का लक्षण ठीक न रहेगा, क्योंकि 'हाथ' आदि भी चेष्टा के आश्रय हैं और उनमें 'शरीरत्व' चला जायगा। इसलिये कहा कि 'चेष्टावत्' के साथ 'अन्त्यावयवी' जोड़ देना चाहिए। 'हाथ' इत्यादि 'अन्त्यावयवी' नहीं हैं क्योंकि 'अन्त्यावयवी' उसे कहते हैं जो स्वयं किसी का अवयव न हो, हाथ आदि शरीर के अवयव हैं। परन्तु शरीर 'अन्त्यावयवी' है अर्थात् वह किसी का अवयव नहीं, दो या अधिक शरीरों से कोई वस्तु नहीं बनती। इसलिए शरीर के लक्षण में 'अन्त्यावयवी' जोड़ देने से वह लक्षण 'हाथ' आदि अङ्गों में न घट कर शरीर में ही घटेगा।

यहां यह प्रश्न उठा कि 'मृतशरीर' में, जो कि चेष्टा रहित होता है, शरीर का लक्षण कैसे घटेगा ? उसके उत्तर में एक तो यह कहा कि 'मृत शरीर' को शरीर ही नहीं माना जा सकता। परन्तु यदि मृत शरीर को भी 'शरीर' ही कहा जाय तो शरीर के लक्षण में इस प्रकार परिष्कार कर लेंगे कि 'चेष्टा युक्त जो अन्त्यावयवी, उसमें रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला होना'। 'मनुष्यत्व' या 'चैत्रत्व' जाति को लेकर लक्षण घट जायगा, क्योंकि 'मनुष्यत्व' ऐसी जाति है जो चेष्टा युक्त अन्त्यावयवी अर्थात् मनुष्य में रहती है और द्रव्यत्व व्याप्य भी है। 'जाति' के साथ 'द्रव्यत्व-व्याप्य' इसलिए डाल दिया कि अन्यथा 'सत्ता' जाति भी चेष्टायुक्त अन्त्यावयवी में रहती है उसके द्वारा लक्षण की अति व्याप्ति हो जाती अर्थात् 'सत्ता' जाति द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहती है इस प्रकार तीनों में ही शरीर का लक्षण चला जाता। परन्तु 'द्रव्यत्व व्याप्य जाति' डालने पर भी दोष सर्वथा दूर नहीं होता। क्योंकि 'चेष्टा वाले अन्त्यावयवी' अर्थात् 'शरीर' में रहने वाली द्रव्यत्व व्याप्य जाति 'पृथिवीत्व' है. वह पृथिवीत्व जाति घट में भी रहती है। इस प्रकार शरीर का लक्षण घट में भी चला जायगा। इसलिए दूसरा परिष्कार इस प्रकार किया जो कि 'अन्त्यावयवी मात्र में रहती हो (अर्थात् जो केवल अन्त्यावयवी में ही रहती हो) और चेष्टा वाले में रहती हो, ऐसी जाति वाला होना'। पृथिवीत्व जाति केवल अन्त्यावयवी में ही रहती हो, यह बात नहीं है क्योंकि वह 'कपाल' में भी रहती है जो कि अन्त्यावयवी नहीं है। ऐसी जाति जो केवल अन्त्यावयवी में रहती हो और चेष्टा वाले में रहती हो, केवल 'मनुष्यत्व' आदि हो सकती है जो कि शरीर में ही रहती है। इस प्रकार कोई दोष न होगा। यदि केवल 'अन्त्यावयवी मात्र में रहने वाली जाति' इतना ही कहते तो 'घटत्व' जाति भी केवल अन्त्यावयवी में रहती है, उसमें भी शरीर का लक्षण चला जाता। इसलिए उसके साथ 'चेष्टा वाले में रहती हो' यह जोड़ दिया जिससे कि शरीर का लक्षण 'घट' में न जाए। इस प्रकार के परिष्कार में 'द्रव्यत्व व्याप्य जाति' यह डालने की भी आवश्यकता नहीं

रही, क्योंकि 'सत्ता' 'द्रव्यत्व' या 'पृथिवीत्व' ऐसी जातियां नहीं हैं जो केवल अन्त्यावयवी में ही रहती हों।

अब यह शङ्का उठाई गई है कि 'नृसिंह' जो कि 'विष्णु का अवतार' माना जाता है और जिसमें 'मनुष्यत्व' जाति नहीं मानी जा सकती, वह 'नृसिंह का शरीर' भी शरीर ही है, उसमें शरीर का लक्षण कैसे घटेगा, क्योंकि उसमें तो उपर्युक्त परिष्कार के अनुसार अन्त्यावयवी मात्र में रहने वाली और चेष्टा वाले में रहने वाली कोई जाति 'मनुष्यत्व' आदि हो ही नहीं सकती, और 'नृसिंह' के एक ही होने से 'नृसिंहत्व' भी कोई जाति नहीं हो सकती (यह बतलाया जा चुका है कि जाति केवल एक ही व्यक्ति में नहीं रहती, देखो पृ० ३६)। यद्यपि नृसिंह-शरीर में 'देवत्व' रहता है, पर 'देवत्व' कोई जाति नहीं, क्योंकि 'देवत्व' जलीय और तैजस शरीरों में भी रहता है। इसलिए 'देवत्व' को जाति मानने में 'सङ्कर' दोष आजायगा, क्योंकि 'तेजस्त्व' जाति 'देवत्व' को छोड़कर सुवर्णादि में रहती है और 'देवत्व' 'तेजस्त्व' को छोड़कर जलीय शरीरों में भी रहता है। ऐसी दशा में 'नृसिंह शरीर' में रहने वाली ऐसी कोई जाति नहीं जिसके द्वारा उपर्युक्त परिष्कृत शरीर का लक्षण नृसिंह-शरीर में घट जाय। इसका उत्तर यह दिया कि कल्पभेद से अर्थात् भिन्न भिन्न सृष्टियों में 'नृसिंह' बार बार उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार उनके अनेक होने से 'नृसिंहत्व' भी जाति होजायगी और उसे लेकर शरीर का लक्षण नृसिंह शरीर में घट जायगा। यहां पर यह मान लिया गया है कि प्रत्येक बार जब सृष्टि बनती है तो वह सर्वथा पहिले के समान ही होती है, अर्थात् प्रत्येक बार सृष्टि में 'नृसिंह' का अवतार होता है।

का०:— ....इन्द्रियं घ्राणलक्षणम्।

सि० मु०:— इन्द्रियमिति। घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वात्, कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकगोघृतवत्।

न च दृष्टान्ते स्वकीयरूपादिव्यञ्जकत्वादसिद्धिरिति वाच्यम्, परकीयरूपाद्यव्यञ्जकत्वस्य तदर्थत्वात् । न चैवं नवशरावगन्ध-व्यञ्जकजले ऽनैकान्तिकत्वमिति वाच्यम्, तस्य सक्तुरसा-भिव्यञ्जकत्वात् । यद्वा परकीयेति न देयम्, वायूपनीतसुरभिभागस्य दृष्टान्तत्वसम्भवात् । न च घ्राणेन्द्रियसन्निकर्षस्य गन्धमात्र-व्यञ्जकत्वात् तत्र व्यभिचार इति वाच्यम्, द्रव्यत्वे सतीति विशेषणात् ।

अनु :— 'घ्राण' नामक इन्द्रिय (पार्थिव) है।

'इन्द्रियम्' इत्यादि अंश की टीका करते हैं। घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है, यह अर्थ हुआ। यदि यह प्रश्न हो कि (चेत्) घ्राणेन्द्रिय का पार्थिवत्व कैसे है (तो उत्तर है कि) इस प्रकार :— घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है, क्योंकि रूप आदि में से वह केवल गन्ध की ही व्यञ्जक है, केसर की गन्ध के अभि-व्यञ्जक गाय के घृत के समान। और, यह शङ्का न करनी चाहिए कि दृष्टान्त (गोघृत) में अपने रूप आदि की अभिव्यञ्जकता होने से असिद्धि (दोष) हो जायगा, क्योंकि उसका (रूपादि में से केवल गन्ध की ही अभिव्यञ्जकता का) अर्थ है कि दूसरे के (न कि अपने) रूप आदि का व्यञ्जक न होना'। और न यह शङ्का करनी चाहिए कि मिट्टी के नए बर्तन की गन्ध के अभिव्यञ्जक जल में (उपर्युक्त हेतु का) व्यभिचार होगा, क्योंकि वह (अर्थात् जल) सक्तुरस का भी अभिव्यञ्जक होता है। अथवा ('दूसरे के रूप आदि का व्यञ्जक न होना' इस जगह 'दूसरे का' यह नहीं डालना चाहिए और वायु से उड़ाए हुए पुष्प आदि के) सुगन्धित अंश का दृष्टान्त बनाया जा सकता है। और न यह कहना चाहिए कि घ्राणेन्द्रिय के सन्निकर्ष में भी, जो कि केवल गन्धमात्र का अभिव्यञ्जक है, (उपर्युक्त घ्राणेन्द्रिय के पार्थिवत्व को सिद्ध करने के लिए दिये गए हेतु का) व्यभिचार होगा, क्योंकि ('रूप आदि में से केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक होना'

इस हेतु में) 'द्रव्य होने पर' ऐसा विशेषण लगा दिया जायगा।

व्याख्या :— घ्राणेन्द्रिय को पार्थिव सिद्ध करने की युक्ति यही है कि वह 'रूपादि में से केवल गन्ध की अभिव्यञ्जक है' — अर्थात् रूपादि की अभिव्यञ्जक नहीं प्रत्युत गन्ध की ही अभिव्यञ्जक है। जैसे, गाय का घृत जो केसर की गन्ध का अभिव्यञ्जक होता है, वह भी पार्थिव होता है। केसर की गन्ध घी में पड़ने से ही अभिव्यक्त होती है। परन्तु यह शङ्का हुई कि गाय का घृत 'केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक होता है' ऐसा कैसे कहा जा सकता है। वह अपने रूप आदि का भी तो अभिव्यञ्जक होता है। इसलिये 'केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक होना' यह हेतु का स्वरूप दृष्टान्त में न घटने से हेतु 'असिद्ध' नामक हेत्वाभास से युक्त हुआ। इसलिए यह कहा गया कि 'रूप आदि का अभिव्यञ्जक न होकर केवल गन्ध का ही अभि-व्यञ्जक हो' इस वाक्य का अर्थ यह है कि 'दूसरे के रूप आदि का अभिव्यञ्जक न हो'। गाय का घृत अपने रूप आदि का अभिव्यञ्जक होने पर भी दूसरे के रूप आदि का तो अभिव्यञ्जक नहीं। इसलिए कोई दोष नहीं आएगा। परन्तु फिर यह शङ्का होती है कि नए मिट्टी के बर्तन की गन्ध तभी व्यक्त होती है जब उसमें पानी डाला जाता है। इस प्रकार पानी भी गन्ध का अभिव्यञ्जक है. इसलिए पानी में उपर्युक्त हेतु का व्यभिचार हो जायगा। उसका उत्तर देते हैं कि जल सत्तू के रस का भी तो अभिव्यञ्जक होता है (अर्थात् सत्तू का स्वाद तब तक पता नहीं चलता जब तक उसे पानी में घोला नहीं जाता) अतः वह 'केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक हो' यह बात नहीं। अथवा, कहते हैं कि हेतु में 'दूसरे के रूपादि का अभिव्यञ्जक न होकर केवल गन्ध का अभिव्यञ्जक हो' इस जगह 'दूसरे के' इस अंश को छोड़ देना चाहिए। अर्थात् रूपादि का अभिव्यञ्जक न होकर केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक हो' इतना ही हेतु होना चाहिए। इसके दृष्टान्त के रूप में वायु में उड़ाए (पुष्पादि के) सुगन्धित अंश को प्रस्तुत किया जा सकता है। क्योंकि वह सुगन्धित अंश सिवाय गन्ध के अपने रूपादि का भी अभिव्यञ्जक नहीं होता। परन्तु फिर भी एक दोष रह जायगा कि घ्राण

इन्द्रिय का जो गन्ध से सन्निकर्ष होता है वह सन्निकर्ष भी केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक होता है, उसमें हेतु के चले जाने से वह भी 'पार्थिव' सिद्ध होगा। पर सन्निकर्ष तो 'समवाय' आदि के रूप में होता है, न कि पार्थिव द्रव्य। इसलिए उस जगह व्यभिचार आ जायगा। उसका उत्तर दिया कि 'रूप आदि में केवल गन्ध का ही अभिव्यञ्जक होना' इस हेतु में 'द्रव्य होने पर' यह विशेषण जोड़ देंगे। अर्थात् 'वह साथ साथ द्रव्य भी होना चाहिए'। ऐसा करने से घ्राणेन्द्रिय सन्निकर्ष में व्यभिचार नहीं होगा, क्योंकि सन्निकर्ष 'द्रव्य' नहीं है।

का०—विषयो द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः॥३८

सि०मु० :— विषय इति। उपभोगसाधनं विषयः। सर्वमेव हि कार्यजातमदृष्टाधीनम्। यत्कार्यं यददृष्टाधीनं तत्तदुपभोगं साक्षात्परम्परया वा जनयत्येव, न हि बीजप्रयोजनाभ्यां विना कस्यचिदुत्पत्तिरस्ति। तेन द्व्यणुकादिब्रह्माण्डान्तं सर्वमेव विषयो भवति। शरीरेन्द्रिययोर्विषयत्वेऽपि प्रकारान्तरेणोपन्यासः शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थः।

अनु०:— (इन्द्रियों का) विषय द्व्यणुक से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त कहा गया है।

'विषय' इत्यादि अंश की टीका करते हैं। (मनुष्य आदि के) उपभोग का साधन ही 'विषय' होता है। सारे उत्पन्न हुए पदार्थ अदृष्ट (पाप पुण्य) के आधीन हैं। जो उत्पन्न हुई वस्तु जिसके 'अदृष्ट' के आधीन है, वह उसके उपभोग को साक्षात् या परम्परा से अवश्य करती है। क्योंकि कारण और प्रयोजन के बिना किसी की भी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए द्व्यणुक से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त सब ही 'विषय' कहलाता है। यद्यपि शरीर और इन्द्रिय भी विषय हैं, पर उनका दूसरे प्रकार से (अर्थात् 'विषय' से अलग करके) कथन शिष्य की बुद्धि को स्फुट करने के लिए किया गया है।

व्याख्या:— पृथिवी के 'अणु' नित्य पृथिवी के अन्तर्गत आगए। बाकी सब पृथिवी अनित्य है, वह सभी अनित्य पृथिवी 'विषय' कही जा सकती है। पर शरीर और इन्द्रियों को विशेष प्रयोजन से अलग कर दिया। बाकी द्वयणुक से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त सभी 'विषय' के अन्दर आ जाता है। यह सारा जगत् मनुष्यादि के अदृष्ट (पापपुण्य) से बना है और इसलिए मनुष्य आदि के उपभोग का साधन है।

सि० मु०:— जलं निरूपयति।

का०:—वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ।
स्नेहस्तत्र द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम् ॥३९

सि० मु०:— स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकतया जलत्वजातिः सिध्यति। यद्यपि स्नेहत्वं नित्यानित्यवृत्तितया न कार्यतावच्छेदकम्, तथापि जन्यस्नेहत्वं तथा बोध्यम्। अथ परमाणौ जलत्वं न स्यात्तत्र जन्यस्नेहाभावात्, तस्य च नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यम्भावनियमादिति चेत्। न, जन्यस्नेहजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्वजातेः सिद्धौ, तद-वच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्वजातिसिद्धेः।

अनु०:— जल का निरूपण किया जाता है।

जल में वर्ण (रंग) श्वेत है, रस मधुर, तथा स्पर्श शीतल है। उसमें (जल में) स्नेह और स्वाभाविक द्रवत्व माना गया है।

'स्नेह' की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में 'जलत्व' जाति सिद्ध होती है। यद्यपि 'स्नेहत्व' (जाति) नित्य और अनित्य (परमाणु के नित्य स्नेह तथा अनित्य जल के अनित्य स्नेह) में रहने के कारण कार्यता की अवच्छेदक नहीं हो सकती, तथापि 'जन्यस्नेहत्व' को वैसा (कार्यतावच्छेदक)

जानना चाहिए। अब यदि कहा जाय कि परमाणु में 'जलत्व' जाति नहीं होगी क्योंकि उसमें 'जन्य स्नेह' नहीं है, और यदि नित्य (परमाणु) को स्वरूपतः (जन्य स्नेह के) योग्य कहा जाय तो (कभी न कभी) फल (जन्य स्नेह) अवश्य ही (परमाणु में) उत्पन्न होगा, (तो उत्तर देते हैं कि) ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि 'जन्य स्नेह' की जनकता की अवच्छेदक 'जन्यजलत्वजाति' (जन्य जल में रहने वाली जलत्व जाति) सिद्ध हो जाती है। और उस (जन्य जल में रहने वाली जलत्व जाति) से अवच्छिन्न जो 'जल' उसकी कारणता की अवच्छेदक 'जलत्व' जाति सिद्ध हो जाती है।

व्याख्या :— स्नेह को छोड़ कर जल के अन्य विशेष गुण रस, रूप, स्पर्श, द्रवत्व कुछ अलग अलग विशेषताओं के साथ अन्य द्रव्य पृथिवी आदि में भी पाए जाते हैं। 'स्नेह' ही ऐसा गुण है जो केवल जल में पाया जाता है। इसलिए 'स्नेह' की समवायिकारणता की अवच्छेदक 'जलत्व' जाति मानी जाती है। परन्तु यहां एक समस्या उपस्थित होती है। अनित्य कार्यरूपा पृथिवी के समान ही पृथिवी के परमाणु में भी गन्ध, रस, रूप आदि अनित्य ही माने जाते हैं, क्योंकि वे 'पाकज' गुण हैं, वे अग्नि संयोग से उत्पन्न होते हैं अर्थात् अग्निसंयोग से उनमें परिवर्तन आ जाता है। इसलिए पृथिवी के परमाणु के भी गुण अनित्य माने जाते हैं। परन्तु जल, तेजस् और वायु में 'पाकज' गुण नहीं माने जाते, इसलिए जल आदि के 'परमाणु' के गुण नित्य ही मानने पड़ेंगे, क्योंकि उन गुणों में बदलने का प्रश्न ही नहीं उठता। अनित्य 'जल' के गुण अनित्य होंगे, क्योंकि वे अनित्य जल के बनने के बाद उत्पन्न होते हैं। ऐसी दशा में जल-परमाणु में रहने वाला 'स्नेह' नित्य ही होगा। इसलिए 'स्नेहत्व' जाति जो नित्य और अनित्य दोनों ही प्रकार के स्नेह में रहती है, कार्यता की अवच्छेदक नहीं हो सकती। और, जब 'स्नेहत्व' जाति कार्यता की अवच्छेदक नहीं तो 'स्नेहत्वावच्छिन्न' कार्य (अर्थात् स्नेह) की कारणता की अवच्छेदक 'जलत्व' जाति कैसे होगी ? इसका उत्तर यह दिया कि अनित्य जल में रहने वाले 'जन्य' (अर्थात् अनित्य) 'स्नेह' की कारणता की अवच्छेदक

जन्य जल में रहने वाली जलत्व जाति हो जायगी; और उस जन्य जल में रहने वाली जलत्व जाति से अवच्छिन्न 'जन्य जल' रूपी जो कार्य उसकी समवायिकारणता की अवच्छेदक 'जलत्व जाति' हो जायगी। इस प्रकार नित्य और अनित्य जल दोनों में रहने वाली जलत्व जाति जन्य जल की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में सिद्ध होती है।

अब इसके आगे जल के गुणों का टीकाकार निरूपण करते हैं :—

सि० मु०:— शुक्लरूपमेव जलस्येति दर्शयितुमुक्तम्— वर्णः शुक्ल इति, न तु शुक्लरूपवत्त्वं लक्षणम्। अथवा नैमित्तिकद्रवत्ववदवृत्तिरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजाति-मत्त्वम्, अभास्वरशुक्लेतररूपासमानाधिकरणरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्व-साक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं वा तदर्थः। तेन स्फटिकादौ नाति-व्याप्तिः। रसस्पर्शाविति। जलस्य मधुर एव रसः, शीत एव स्पर्शः। तिक्तरसवदवृत्तिमधुररसवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य-जातिमत्त्वं तदर्थः। तेन शर्करादौ नातिव्याप्तिः। शीतेतर-स्पर्शवदवृत्तिस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वंतदर्थः। ननु शुक्लरूपवत्त्वमेवेति कुतः, कालिन्दीजलादौ नीलिमोप-लब्धेरिति चेद्, न, नीलजनकतावच्छेदिकायाः पृथिवीत्वजाते-रभावाज्जले नीलरूपासम्भवात्। कालिन्दीजले नीलत्वप्रतीति-स्त्वाश्रयौपाधिकी। अतएव वियति विक्षेपे धवलिमोपलब्धिः। अथ जले माधुर्ये किं मानम्, नहि प्रत्यक्षेण कोऽपि रसस्तत्राऽनु-भूयते। न च नारिकेलजलादौ माधुर्यमुपलभ्यत एवेति वाच्यं तस्याश्रयौपाधिकत्वात्। अन्यथा वीररसादावम्लाद्युपलब्धेर-

म्लादिमत्त्वमपि स्यादिति चेत् ? न, हरीतक्यादिभक्षणस्य जलरसव्यञ्जकत्वात्। न च हरीतक्यामेव जलोष्मसंयोगाद् रसान्तरोत्पत्तिरिति वाच्यम्, कल्पनागौरवात्। पृथिवीत्वस्याम्लादिजनकतावच्छेदकत्वाच्च जले नाम्लादिकम्। जम्बीररसादौ त्वाश्रयौपाधिकी तथा प्रतीतिः। एवं जन्यशीतस्पर्शजनकतावच्छेदकं जन्यजलत्वं तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकं तु जलत्वं बोध्यम्। घृष्टचन्दनादौ तु शैत्योपलब्धिश्चन्दनान्तर्वर्तिशीततरसलिलस्यैव। तेजःसंयोगाज्जले उष्णप्रतीतिरौपाधिकी स्फुटैव, तत्र पाकासम्भवात्। स्नेहस्तत्रेति। घृतादावपि तदन्तर्वर्तिजलस्यैव स्नेहः, जलस्य स्नेहसमवायिकारणत्वात्। तेन जल एव स्नेह इति मन्तव्यम्। द्रवत्वमिति। सांसिद्धिकद्रवत्वत्वं जातिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धः। तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकमपि तदेवेति भावः। तैलादावपि जलस्य द्रवत्वम्, स्नेहप्रकर्षेण च दहनानुकूल्यमिति वक्ष्यति।

अनु०:— जल का शुक्ल ही रूप है, यह बताने को ऐसा कह दिया कि 'वर्ण शुक्ल है', परन्तु 'शुक्ल रूप वाला होना' जल का लक्षण नहीं है (क्योंकि पृथिवी में भी शुक्लरूप पाया जाता है)। अथवा 'नैमित्तिक द्रवत्व (गुण) वाले में न रहने वाली, और रूप वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जातिवाला होना' अथवा 'अभास्वर शुक्ल से भिन्न रूप के साथ एक अधिकरण में न रहने वाली, और रूप वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जातिवाला होना' उसका (शुक्लरूपवत्त्व का) अर्थ है। इसलिए स्फटिक आदि में अतिव्याप्ति नहीं होती।

'रसस्पर्शौ' इत्यादि अंश की व्याख्या करते हैं। जल का मधुर ही रस

है और शीतल ही स्पर्श है। 'तीखे रस वाले में न रहने वाली, और मधुर रस वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाला होना' उसका ('मधुर रस वाला होना' इस लक्षण का) अर्थ है। इससे शक्कर आदि में अतिव्याप्ति नहीं होती। (इसी प्रकार) 'शीत से भिन्न प्रकार के स्पर्श वाले में न रहने वाली, और स्पर्श वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाला होना' उसका ('शीत स्पर्शवत्त्व' लक्षण का) अर्थ है। प्रश्न होता है कि जल शुक्ल रूप वाला है, यह बात कैसे (कही जा सकती) है, क्योंकि यमुना के जल में नीलवर्ण पाया जाता है? (उत्तर देते हैं कि) यह ठीक नहीं, क्योंकि जल में नीलवर्ण की कारणता की अवच्छेदक पृथिवीत्व जाति के अभाव होने से नीलरूप होना सम्भव नहीं। यमुना के जल में 'नीलत्व' की प्रतीति आश्रय (अर्थात् जल के आश्रय पृथिवी) की उपाधि (कारण) से होती है। इसलिए (इस पृथिवी स्वरूप उपाधि से जल को अलग कर उसे) आकाश में फेंकने से शुक्ल वर्ण की प्रतीति होती है।

अब प्रश्न करते हैं कि जल में 'मधुरता' होने में क्या प्रमाण है? प्रत्यक्ष से तो जल में किसी रस का अनुभव होता नहीं। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि नारियल के जल आदि में माधुर्य की प्रतीति होती ही है, क्योंकि वह तो (जल के) आश्रय (पृथिवी) के कारण (उपाधि) से होती है। अन्यथा नींबू के रस आदि में खट्टे रस की प्रतीति होने के कारण खट्टा रस भी (जल का) क्यों न कहा जाय? (इसका उत्तर देते हैं कि) यह ठीक नहीं, क्योंकि हरड़ आदि का भक्षण जल के रस का अभिव्यञ्जक होता है और, यह भी नहीं कहा जा सकता कि हरड़ में ही जल की गरमी के संयोग से (अर्थात् पाकज) दूसरे रस की उत्पत्ति हो जाती है, क्योंकि उसमें कल्पना का गौरव होगा। और क्योंकि पृथिवीत्व जाति खट्टे आदि (रसों) की कारणता का अवच्छेदक है (अर्थात् खट्टे रस का कारण पृथिवी ही होती है), इसलिए जल में खट्टा रस नहीं हो सकता। नींबू के रस में आश्रय (पृथिवी) के कारण वैसी प्रतीति होती है। इसी प्रकार जन्य शीतस्पर्श की कारणता का अवच्छेदक 'जलत्व' को समझना चाहिए। घिसे हुए चन्दन

आदि में शीतलता का ग्रहण उसके (चन्दन के) अन्दर विद्यमान शीततर जल का ही (उसकी शीतलता का ही) होता है। अग्नि के संयोग से जल में उष्ण (स्पर्श) की प्रतीति स्पष्टतया आश्रय (अग्नि) के कारण है, क्योंकि जल में 'पाक' (नए गुण उत्पन्न करने वाला विशेष प्रकार का अग्नि संयोग) सम्भव नहीं।

'स्नेहस्तत्र' इत्यादि अंश की टीका करते हैं। सांसिद्धिक द्रवत्वत्व (अर्थात् स्वाभाविक द्रवत्वत्व) एक खास जाति है, क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष से सिद्ध है। उस (स्वाभाविक द्रवत्वत्व) से अवच्छिन्न (अर्थात् स्वाभाविक 'द्रवत्व' रूप कार्य) की कारणता की अवच्छेदक वही (जलत्व जाति) है, ऐसा तात्पर्य है। तेल आदि में भी जल का ही द्रवत्व होता है, और स्नेह (गुण) की अधिकता से (तेल में) जलने की अनुकूलता हो जाती है, यह आगे (स्नेह-निरूपण प्रकरण में) कहा जायगा।

व्याख्याः— शुक्ल रूप जल, अग्नि और पृथिवी में पाया जाता है। अग्नि का शुक्लरूप 'भास्वर' (चमकता हुआ) है, परन्तु जल और पृथिवी (स्फटिक आदि) का अभास्वर शुक्लरूप माना जाता है। इसलिये 'शुक्लरूपवत्त्व' जल का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो पृथिवी और अग्नि में भी चला जायगा। और, यदि केवल 'अभास्वरशुक्लरूपवत्त्व' लक्षण करें तो वह भी पृथिवी में चला जायगा। इसलिए ऐसा परिष्कार किया कि 'नैमित्तिक द्रवत्व वाले में न रहने वाली और रूप वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाला होना'। रूप वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जातियां केवल पृथिवीत्व, जलत्व और तेजस्त्व ये तीन ही हैं। उनमें से पृथिवी और तेजस् में नैमित्तिक द्रवत्व होता है। इसलिए वे दोनों जातियां नैमित्तिक द्रवत्व वाले में न रहने वाली नहीं है, प्रत्युत रहने वाली हैं। इस प्रकार उपर्युक्त लक्षण से वैसी जाति केवल 'जलत्व' ही आ सकेगी। इस प्रकार लक्षण ठीक हो जायगा। इसके अतिरिक्त एक और दूसरा यह परिष्कार किया कि 'अभास्वर शुक्ल से भिन्न रूप के साथ एक अधिकरण में न रहने वाली और रूप वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य

जाति वाला होना'। यह स्पष्ट है कि ऐसी जाति केवल जलत्व ही हो सकती है, क्योंकि 'पृथिवीत्व' और 'तेजस्त्व' दोनों जातियां अभास्वर शुक्लरूप से भिन्न रूप के साथ एक अधिकरण (पृथिवी और तेजस्) में रहती हैं (क्योंकि पृथिवी में नील आदि रूप और तेजस् में भास्वर शुक्लरूप पाया जाता है)। ऐसा परिष्कार करने से स्फटिक (पृथिवी) आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

जल में मधुर ही रस होता है। परन्तु मधुर रस तो शक्कर आदि में भी पाया जाता है वहां लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। (शक्कर में वस्तुतः पृथिवीत्व जाति रहती है)। इसलिए ऐसा परिष्कार कर लिया कि 'तीखे रस वाले में न रहने वाली और मधुर रस वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाला होना'। शक्कर में पृथिवीत्व' जाति रहती है, वह तीखे रस वाले (पार्थिव पदार्थों) में भी रहती है। 'मधुर रस वाले में रहने वाली' केवल दो ही जातियाँ हैं अर्थात् पृथिवीत्व और जलत्व। उनमें से 'पृथिवीत्व' की उपर्युक्त रीति से व्यावृत्ति कर देने पर केवल 'जलत्व' जाति ही लक्षण में कही गई जाति हो सकेगी और कोई दोष न होगा।

जल का लक्षण शीतस्पर्शवत्त्व है। वह और किसी द्रव्य में नहीं जाता, इसलिए उसमें अतिव्याप्ति दोष नहीं आता। परन्तु आदि क्षण के जल में (उत्पत्ति के प्रथम क्षण में प्रत्येक द्रव्य के निर्गुण होने के कारण, देखो पृ० ८३) शीतस्पर्श नहीं होगा, इसलिए वहां अव्याप्ति होगी। उसको दूर करने के लिए यह परिष्कार किया गया कि 'शीत से भिन्न प्रकार के स्पर्श वाले में न रहने वाली और स्पर्श वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाला होना'। यह स्पष्ट है कि ऐसी जाति 'जलत्व' ही हो सकती है और वह जाति आदि क्षण के जल में भी विद्यमान है। इस प्रकार वहां अव्याप्ति दोष नहीं होगा। इसके बाद यह बतलाया गया कि यमुना के जल में नीलवर्ण की प्रतीति जल के आश्रय (पृथिवी) के कारण से होती है, वस्तुतः जल का वर्ण श्वेत ही है।

आलोचना: — इस विषय में यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जल

के रूप के शुक्ल आदि होने का सिद्धान्त अवैज्ञानिक है, क्योंकि विज्ञान के अनुसार ऐसे शुद्ध जल का (जो दो हाइड्रोजन और एक आक्सीजन के अणु से बना हुआ हो और जिसमें किसी अन्य वस्तु का मिश्रण न हो) कोई रंग होता ही नहीं। विज्ञान जल को रूपरहित (colourless) मानता है। न शुक्ल और न नील, वे दोनों ही आश्रय के कारण होते हैं। इसी प्रकार जल के अन्दर मधुर रस भी वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं माना जा सकता। आजकल के विज्ञान के अनुसार जल सर्वथा स्वादरहित (tasteless) होता है। इसी प्रकार जल के स्पर्श को शीत मानना भी वैज्ञानिक नहीं है। शीतलता और उष्णता आधुनिक विज्ञान के अनुसार केवल इस बात पर निर्भर हैं कि यदि किसी वस्तु का तापमान (temperature) हमारे शरीर के तापमान से न्यून है तो वह वस्तु हमें शीतल प्रतीत होती है, और यदि उसका तापमान हमारे शरीर के तापमान से अधिक है तो वह वस्तु हमें उष्ण प्रतीत होती है।

घृत के अन्दर स्नेह गुण, या तेल के अन्दर द्रवत्व गुण और स्नेह गुण, ये सब (घृत आदि में) जल के कारण से होते हैं; ये सब विचार भी अवैज्ञानिक हैं। वस्तुतः जैसा कि पहिले बताया गया है कि जल कोई मूलतत्त्व (element) ही नहीं है।

का०– नित्यतादि प्रथमवत्किन्तु देहमयोनिजम्।
इन्द्रियं रसनं सिन्धुहिमादिर्विषयो मतः ॥४०॥

मि० मु०:—प्रथमवदिति। पृथिव्या इवेत्यर्थः। तथाहि जलं द्विविधं नित्यमनित्यं च, परमाणुरूपं नित्यं द्व्यणुकादिकं सर्वमनित्यमवयवसमवेतं च। अनित्यमपि त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। पृथिवीतो यो विशेषस्तमाह– किन्त्विति। देहमयोनिजम्, अयोनिजमेवेत्यर्थः। जलीयं शरीरं वरुणलोके प्रसिद्धम्। इन्द्रियमिति। जलीयमित्यर्थः। तथाहि रसनं

जलीयं गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति रसव्यञ्जकत्वात् सक्तुरसाभि-व्यञ्जकोदकवत् । रसनेन्द्रियसन्निकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं देयम् । विषयं दर्शयति- सिन्धुहिमादिरिति । सिन्धुः समुद्रः । हिमं तुषारः । आदिपदात्सरित्कासार करकादिः सर्वोऽपि ग्राह्यः । न च हिमकरकयोः कठिनत्वा-त्पार्थिवत्वमिति वाच्यम् , ऊष्मणा विलीनस्य तस्य जलत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यमितिव्याप्ते-र्जलोपादानोपादेयत्वसिद्धेः, अदृष्टविशेषेण द्रवत्वप्रतिरोधात् । करकादीनां काठिन्यप्रत्ययस्य भ्रान्तित्वात् ।

अनु०— (जल का) नित्यत्व आदि पहिले (पृथिवी) के समान है । परन्तु (जलीय) देह अयोनिज होती है । इन्द्रिय रसना है, और विषय समुद्र, बरफ़ आदि माना गया है ।

'प्रथमवत्' इस अंश की टीका करते हैं । (अनित्यत्व आदि) पृथिवी के समान है, यह अर्थ है । इस प्रकार जल दो प्रकार का है, नित्य और अनित्य । परमाणु स्वरूप द्रव्य नित्य है, द्व्यणुक आदि सब अनित्य और (अपने) अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले हैं । अनित्य भी शरीर इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का है । पृथिवी से जो भेद है उसको 'किन्तु' इत्यादि कारिकांश से कहा जाता है । देह अयोनिज ही है, यह अर्थ है । जलीय शरीर वरुण लोक में प्रसिद्ध है । 'इन्द्रियम्' इत्यादि अंश की टीका करते हैं । (रसना इन्द्रिय) जल से बनी हुई (जलीय) है, यह अर्थ है । (उसका अनुमान इस प्रकार होगा :—) रसना (इन्द्रिय) जलीय है क्योंकि गन्ध आदि की व्यञ्जक न होने पर रस की व्यञ्जक है । सत्तू के रसके अभिव्यञ्जक पानी के समान । रसना इन्द्रिय के (अपने विषय से) सन्निकर्ष में (हेतु के) व्यभिचार को रोकने के लिए (उपर्युक्त हेतु में)

'द्रव्यत्व' और जोड़ देना चाहिए। 'सिन्धुहिमादि' इस अंश से विषय को बतलाते हैं : सिन्धु का अर्थ है 'समुद्र', हिम का अर्थ है 'तुषार' (आकाश से गिरने वाला हिम, और बरफ)। 'आदि' पद से नदी, तालाब, ओला आदि सबका ग्रहण करना चाहिए। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि बरफ और ओले के ठोस (कठिन = *solid*) होने से वे पार्थिव होंगे, क्योंकि गरमी से पिघल जाने पर उनका जल होना प्रत्यक्ष सिद्ध है। जो द्रव्य जिस द्रव्य के ध्वंस से पैदा होता है [उसका (पहिले का) उपादान कारण उसी (दूसरे) द्रव्य का उपादान कारण होता है जिसके ध्वंस से वह पैदा हुआ है, देखो पृ० १६०], इस व्याप्ति से (बरफ या ओले का) जल के उपादान कारण से बना हुआ होना सिद्ध हो जाता है। अदृष्ट विशेष से (अर्थात् जीवों के एक विशेष प्रकार के अदृष्ट के कारण बरफ और ओले का) द्रवत्व (तरलता) दब जाती है, इसलिए ओले में ठोसपन (काठिन्य *solidity*) के ज्ञान को भ्रान्ति समझना चाहिए (इससे उनका 'जल' होना सिद्ध है)।

आलोचना:— **विषय स्पष्ट ही है, इसलिए व्याख्या की आवश्यकता नहीं। जल भी पृथिवी के समान नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। केवल इतना अन्तर है कि, जैसा कि ऊपर भी आ चुका है, जल के परमाणु के गुणों में पृथिवी के परमाणु के गुणों के समान अग्निसंयोग से अन्तर नहीं आता। अर्थात् जल के परमाणु में रहने वाले गुण नित्य माने जाते हैं। जलीय शरीर के विषय में यह अन्तर बताया गया है कि जलीय शरीर अयोनिज होते हैं और वे वरुण लोक में पाए जाते हैं (समुद्र, नदी में रहने वाले जलजन्तुओं के शरीर पार्थिव ही माने जाते हैं)। 'वरुणलोक' और उसमें जलीय शरीर, यह सब कल्पनामात्र है। दर्शनशास्त्र में जो कि बुद्धिवाद पर निर्भर है, ऐसी कल्पनाएँ नहीं होनी चाहिएँ। पर वे पुराने समय से यथार्थ दार्शनिक तत्त्वों के साथ २ मिली जुली चली आती हैं। रसना इन्द्रिय जलीय है अर्थात् 'जल' तत्त्व से बनी हुई है। इसके विषय में उसी प्रकार की युक्ति दी है जैसी घ्राण के विषय में दी थी। रसना गन्ध आदि की**

अभिव्यञ्जक न होकर केवल रस की अभिव्यञ्जक है। इसी प्रकार की युक्ति चक्षु को तैजस और त्वक् को वायवीय सिद्ध करने में भी आगे दी गई हैं। इन युक्तियों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, यह स्पष्ट है । बर्फ़ और ओले जल हैं, पर यह कहना कि ओले और बर्फ में ठोसपन (काठिन्य solidity) केवल भ्रममात्र है, विज्ञान के विरुद्ध है। आधुनिक विज्ञान बतलाता है कि प्रत्येक वस्तु के गैसियस (gaseous, वायु के समान सूक्ष्म), और तरल (liquid), तथा ठोस (solid) ये तीनों स्वरूप हो सकते हैं। जल भी गरमी की न्यूनता होने से ठोस हो जाता है। ओले आदि की अवस्था में जल के ठोसपन को भ्रम कहना भ्रमपूर्ण ही है।

का०—उष्णः स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम्।
नैमित्तिकं द्रवत्वं तु नित्यतादि च पूर्ववत् ॥४१॥

सि० मु०:— तेजो निरूपयति । उष्णः स्पर्श इति। उष्णत्वं स्पर्शनिष्ठो जातिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धः। इत्थञ्च जन्योष्णस्पर्शसमवायिकारणतावच्छेदकं तेजस्त्वं जातिविशेषः। तस्य परमाणुवृत्तित्वं तु जलत्वस्येवानुसन्धेयम्। न चोष्ण-स्पर्शवत्त्वं चन्द्रकिरणादावव्याप्तमिति वाच्यम्, तत्राप्युष्णत्वस्य सत्त्वात्। किन्तु तदन्तःपातिजलस्पर्शेनाभिभवादग्रहः । एवं रत्नकिरणादौ पार्थिवस्पर्शेनाभिभवाच्चक्षुरादौ चानुद्भूतत्वादग्रहः। रूपमित्यादि। वैश्वानरे मरकतकिरणादौ च पार्थिवरूपेणा-भिभवाच्छुक्लरूपाग्रहः । अथ तद्रूपाग्रहे धर्मिणोऽपि चाक्षुषत्वं न स्यादिति चेत्? न, अन्यदीयरूपेणापि धर्मिणो ग्रहसम्भवात् शङ्खस्येव पित्तपीतिम्ना । वह्नेस्तु शुक्लरूपं नाभिभूतं किन्तु तदीयं शुक्लत्वमभिभूतमित्यन्ये। नैमित्तिक-

मिति । सुवर्णादिरूपे तेजसि तत्सत्त्वात् । न च नैमित्तिकद्रवत्वं लक्षणं दहनादावव्याप्तं घृतादावतिव्याप्तं चेति वाच्यम्, पृथिव्यवृत्तिनैमित्तिकद्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । पूर्ववदिति । जलस्येवेत्यर्थः । तथाहि तद् द्विविधं नित्यमनित्यञ्च । नित्यं परमाणुरूपम् । तदन्यदनित्यम् अवयवि च । तच्च त्रिधा—शरीरेन्द्रियविषयभेदात् । शरीरमयो-निजमेव । तच्च सूर्यलोकादौ प्रसिद्धम् ।

अनु०:— अग्नि का स्पर्श उष्ण होता है और रूप भास्वर शुक्ल होता है । और (अग्नि) में नैमित्तिक द्रवत्व होता हैं तथा नित्यता आदि पूर्व के समान हैं ।

'उष्णः स्पर्शः' इत्यादि कारिका से तेजस् का निरूपण किया जाता है । (तेजस् के) स्पर्श में रहने वाली 'उष्णत्व' एक विशेष जाति है जो प्रत्यक्ष-सिद्ध है । इस प्रकार जन्य उष्ण स्पर्श की समवायिकारणता की अवच्छेदक तेजस्त्व एक विशेष जाति है । उस (जाति) का परमाणु में रहना जलत्व (जाति) के समान ही समझना चाहिए । और यह न कहना चाहिए कि उष्णस्पर्शवत्त्व की चन्द्रकिरण आदि में अव्याप्ति होगी, क्योंकि उनमें भी उष्णता विद्यमान है परन्तु उनके (चन्द्र किरणों के) अन्दर रहने वाले जल के स्पर्श से दब जाने के कारण (उस उष्णता का) ग्रहण नहीं होता । इसी प्रकार रत्नकिरण आदि में पार्थिव स्पर्श से दब जाने से और चक्षु आदि में अनुद्भूत होने से ग्रहण नहीं होता । 'रूपम्' इत्यादि अंश की टीका करते हैं । अग्नि (अर्थात् जलने वाली आग) में और मरकत (हरे मणि) की किरणों में पार्थिव रूप से दब जाने के कारण शुक्ल रूप का ग्रहण नहीं होता । यह प्रश्न होता है कि रूप के ग्रहण न होने पर उस रूप वाले द्रव्य (धर्मी अर्थात् अग्नि और मरकत मणि) का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए । (उत्तर देते हैं कि) यह ठीक नहीं, क्योंकि

अन्य के रूप से भी धर्मी का (रूप वाले द्रव्य का) ग्रहण हो सकता है, जैसे कि पित्त के पीले रूप से शङ्ख का (ग्रहण होता है)। कुछ लोग कहते हैं कि अग्नि का (जलने वाली अग्नि का) शुक्ल रूप नहीं दब जाता, किन्तु उस (रूप) की शुक्लता दब जाती है। 'नैमित्तिकम्' इस अंश की व्याख्या करते हैं। 'सुवर्ण' के स्वरूप में तेजस् में वह (नैमित्तिक द्रवत्व) विद्यमान रहता है। यह शङ्का न करनी चाहिए कि 'नैमित्तिक द्रवत्व' 'अग्नि' (जलने वाली अग्नि) आदि में अव्याप्त है और घृत आदि में अतिव्याप्त है, क्योंकि 'नैमित्तिक द्रवत्व गुण होने' का तात्पर्य है कि 'पृथिवी में न रहने वाली, और नैमित्तिक द्रवत्व वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाला होना'। (इस प्रकार अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोष दूर हो जाएंगे)। 'पूर्ववत्' इस अंश की टीका करते हैं:— 'जल के समान' यह अर्थ है। अर्थात् वह (तेजस्) दो प्रकार का है— नित्य और अनित्य। परमाणु की अवस्था में वह नित्य है और उससे भिन्न अनित्य है और अवयवी है। और वह शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का है। शरीर अयोनिज ही है, और यह सूर्यलोक आदि में प्रसिद्ध है।

व्याख्या:— 'उष्ण स्पर्श' ऐसा विशेष गुण है जो केवल तेजस् में रहता है। परमाणु में रहने वाला उष्ण स्पर्श (जैसा कि जल के प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है) नित्य ही होगा और अन्य द्व्यणुक आदि में रहने वाला अनित्य। उस अनित्य उष्ण स्पर्श का समवायिकारण 'तेजस्' है। इसलिए उस (जन्य उष्ण स्पर्श) की समवायिकारणता की अवच्छेदक के रूप में 'तेजस्त्व' जाति सिद्ध होती है। परन्तु जैसे जल के विषय में पहिले कार्य जल में रहने वाली जलत्व जाति सिद्ध की, फिर उसके बाद साधारण जलत्व जाति सिद्ध की थी, उसी प्रकार यहां भी जन्य उष्ण स्पर्श की समवायिकारणता की अवच्छेदक के रूप में जन्य तेजस् में रहने वाली 'तेजस्त्व' जाति को सिद्ध कर उस 'तेजस्त्व' से अवच्छिन्न जो 'जन्य तेजस्' उसकी समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में साधारण 'तेजस्त्व' जाति

मिति। सुवर्णादिरूपे तेजसि तत्सत्त्वात्। न च नैमित्तिकद्रवत्वं लक्षणं दहनादावव्याप्तं घृतादावतिव्याप्तं चेति वाच्यम्, पृथिव्यवृत्तिनैमित्तिकद्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। पूर्ववदिति। जलस्येवेत्यर्थः। तथाहि तद् द्विविधं नित्यमनित्यञ्च। नित्यं परमाणुरूपम्। तदन्यदनित्यम् अवयवि च। तच्च त्रिधा-शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमयो-निजमेव। तच्च सूर्यलोकादौ प्रसिद्धम्।

अनु०:— अग्नि का स्पर्श उष्ण होता है और रूप भास्वर शुक्ल होता है। और (अग्नि) में नैमित्तिक द्रवत्व होता है तथा नित्यता आदि पूर्व के समान हैं।

'उष्णः स्पर्शः' इत्यादि कारिका से तेजस् का निरूपण किया जाता है। (तेजस् के) स्पर्श में रहने वाली 'उष्णत्व' एक विशेष जाति है जो प्रत्यक्ष-सिद्ध है। इस प्रकार जन्य उष्ण स्पर्श की समवायिकारणता की अवच्छेदक तेजस्त्व एक विशेष जाति है। उस (जाति) का परमाणु में रहना जलत्व (जाति) के समान ही समझना चाहिए। और यह न कहना चाहिए कि उष्णस्पर्शवत्त्व की चन्द्रकिरण आदि में अव्याप्ति होगी, क्योंकि उनमें भी उष्णता विद्यमान है परन्तु उनके (चन्द्र किरणों के) अन्दर रहने वाले जल के स्पर्श से दब जाने के कारण (उस उष्णता का) ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार रत्नकिरण आदि में पार्थिव स्पर्श से दब जाने से और चक्षु आदि में अनुद्भूत होने से ग्रहण नहीं होता। 'रूपम्' इत्यादि अंश की टीका करते हैं। अग्नि (अर्थात् जलने वाली आग) में और मरकत (हरे मणि) की किरणों में पार्थिव रूप से दब जाने के कारण शुक्ल रूप का ग्रहण नहीं होता। यह प्रश्न होता है कि रूप के ग्रहण न होने पर उस रूप वाले द्रव्य (धर्मी अर्थात् अग्नि और मरकत मणि) का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए। (उत्तर देते हैं कि) यह ठीक नहीं, क्योंकि

अन्य के रूप से भी धर्मी का (रूप वाले द्रव्य का) ग्रहण हो सकता है, जैसे कि पित्त के पीले रूप से शङ्ख का (ग्रहण होता है)। कुछ लोग कहते हैं कि अग्नि का (जलने वाली अग्नि का) शुक्ल रूप नहीं दब जाता, किन्तु उस (रूप) की शुक्लता दब जाती है। 'नैमित्तिकम्' इस अंश की व्याख्या करते हैं। 'सुवर्ण' के स्वरूप में तेजस् में वह (नैमित्तिक द्रवत्व) विद्यमान रहता है। यह शङ्का न करनी चाहिए कि 'नैमित्तिक द्रवत्व' 'अग्नि' (जलने वाली अग्नि) आदि में अव्याप्त है और घृत आदि में अतिव्याप्त है, क्योंकि 'नैमित्तिक द्रवत्व गुण होने' का तात्पर्य है कि 'पृथिवी में न रहने वाली, और नैमित्तिक द्रवत्व वाले में रहने वाली द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाला होना'। (इस प्रकार अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोष दूर हो जाएंगे)। 'पूर्ववत्' इस अंश की टीका करते हैं:— 'जल के समान' यह अर्थ है। अर्थात् वह (तेजस्) दो प्रकार का है— नित्य और अनित्य। परमाणु की अवस्था में वह नित्य है और उससे भिन्न अनित्य है और अवयवी है। और वह शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का है। शरीर अयोनिज ही है, और वह सूर्यलोक आदि में प्रसिद्ध है।

व्याख्या:— 'उष्ण स्पर्श' ऐसा विशेष गुण है जो केवल तेजस् में रहता है। परमाणु में रहने वाला उष्ण स्पर्श (जैसा कि जल के प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है) नित्य ही होगा और अन्य द्व्यणुक आदि में रहने वाला अनित्य। उस अनित्य उष्ण स्पर्श का समवायिकारण 'तेजस्' है। इसलिए उस (जन्य उष्ण स्पर्श) की समवायिकारणता की अवच्छेदक के रूप में 'तेजस्त्व' जाति सिद्ध होती है। परन्तु जैसे जल के विषय में पहिले कार्य जल में रहने वाली जलत्व जाति सिद्ध की, फिर उसके बाद साधारण जलत्व जाति सिद्ध की थी, उसी प्रकार यहां भी जन्य उष्ण स्पर्श की समवायिकारणता की अवच्छेदक के रूप में जन्य तेजस् में रहने वाली 'तेजस्त्व' जाति को सिद्ध कर उस 'तेजस्त्व' से अवच्छिन्न जो 'जन्य तेजस्' उसकी समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में साधारण 'तेजस्त्व' जाति

सिद्ध होती है। चन्द्रकिरण जिनका स्पर्श शीतल होता है वे भी तेजस् मानो जाती हैं। इसलिए प्रश्न होता है कि उनमें 'उष्णस्पर्शवत्त्व' की अव्याप्ति होगी। उसका उत्तर दिया कि उनमें भी वस्तुतः उष्ण स्पर्श ही होता है, परन्तु किरणों के अन्दर विद्यमान जल के स्पर्श से दबा हुआ होता है। इसी प्रकार रत्न की किरणों में पार्थिव स्पर्श से दब जाने के कारण उष्ण स्पर्श का ग्रहण नहीं होता, और चक्षु आदि में तो उष्ण स्पर्श उद्भूत नहीं अर्थात् यद्यपि उष्ण स्पर्श है पर वह उत्कट या प्रकट अवस्था में नहीं है। इसी प्रकार रूप के विषय में भी कठिनता उपस्थित होती है। तेजस् का रूप भास्वर शुक्ल माना गया है। परन्तु जलने वाली अग्नि पीले लाल आदि रूपवाली होती है, और हरे रंग का मरकतमणि (emrald) जो कि तैजस माना जाता है हरे रूप वाला होता है। उसके विषय में यही उत्तर है कि पीले, लाल, हरे आदि विविध रूप केवल पृथिवी के होते हैं, उन पृथिवी के रूपों से तेजस् का भास्वर शुक्ल रूप वहां दब जाता है।

परन्तु स्वाभाविक प्रश्न यह होता है कि जब जलने वाली अग्नि या मरकत मणि आदि का अपना रूप दब गया है तो बिना अपने रूप के उन द्रव्यों का चाक्षुष प्रत्यक्ष भी नहीं होना चाहिए। उसका उत्तर दिया कि अन्य के रूप से भी किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष हो जाता है, जैसे शङ्ख का अपना श्वेत रूप आंख में रहने वाले पित्त के पीले रूप से दब जाता है, परन्तु शङ्ख की प्रतीति उस पित्त के पीले रूप से ही हो जाती हैं और 'पीला शङ्ख है' ऐसा ज्ञान होता है। कई लोग यह भी कहते हैं कि अग्नि का रूप नहीं दबता प्रत्युत अग्नि के रूप का शुक्लत्व ही दबता है। इसलिए अग्नि की प्रतीति अग्नि के रूप से ही होती है।

अग्नि में 'नैमित्तिक द्रवत्व' माना गया है पर वह तो केवल सुवर्ण में (जिसे तैजस माना गया है) पाया जाता है, अन्य किसी तैजस पदार्थ में नहीं। इसलिए यह लक्षण चूल्हे में जलने वाली अग्नि आदि में अव्याप्त है। इसका उत्तर दिया कि 'नैमित्तिक द्रवत्ववत्' का इस प्रकार परिष्कार कर लेंगे कि 'पृथिवी में न रहने वाली और नैमित्तिक द्रवत्व वाले में रहने वाली

द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति वाला होना'। इस प्रकार पृथिवीत्व जाति की व्यावृत्ति हो जाने से केवल 'तेजस्त्व' जाति ही उपर्युक्त साधर्म्य में आएगी, और 'अग्नि' में द्रवत्व नहीं रहता, तो भी तेजस्त्व जाति तो रहती ही है। इसलिए लक्षण की अव्याप्ति न होगी। तेजस् का नित्य और अनित्य होना जल के समान बताया गया है।

आलोचनाः—यहां यह बताया गया है कि 'तैजस' शरीर सूर्यलोक में होते हैं। परन्तु आधुनिक विज्ञान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सूर्य में इतनी प्रचण्ड गरमी है कि वहां कोई जीवधारी शरीर हो, यह सम्भव ही नहीं। इसी प्रकार चन्द्रमा भी इतना ठण्डा है कि उसमें भी कोई जीवधारी शरीर नहीं हो सकता। जीवन का होना पृथिवी के समान लोक में ही सम्भव हो सकता है, जिसके अन्दर गरमी भरी हो और ऊपर इतनी मोटी पपड़ी (crust) जम गयी हो कि जिसके कारण जीवन का वनस्पति और प्राणियों के रूप में होना सम्भव हो। पृथिवी भी पहिले सूर्य के समान गरम थी, परन्तु जब करोड़ों वर्षों तक घूमने के बाद पृथिवी की उपर्युक्त अवस्था हो गई तब उसमें जीवन का अथवा वनस्पतियों और प्राणियों का अस्तित्व सम्भव हुआ।

सि० मु०—अत्र यो विशेषस्तमाह :—

का०—इन्द्रियं नयनं,..................।

सि० मु०—ननु चक्षुषस्तैजसत्वे किं मानमिति चेत्? चक्षुस्तैजसं परकीयस्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्। प्रदीपस्य स्वीयस्पर्शव्यञ्जकत्वादत्र दृष्टान्तेऽव्याप्तिवारणाय प्रथमं परकीयेति। घटादेः स्वीयरूपव्यञ्जकत्वाद् व्यभिचारवारणाय द्वितीयं परकीयेति। अथवा प्रभाया दृष्टान्तत्वसम्भवाद् आद्यं परकीयेति न देयम्, चक्षुःसन्निकर्षे

व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं देयम् ।

अनु०: — यदि यह प्रश्न हो कि चक्षु के तैजस होने में क्या प्रमाण है ? (तो उत्तर देते हैं कि निम्न अनुमान प्रमाण है:-) चक्षु तैजस है क्योंकि वह दूसरे के स्पर्श आदि का अव्यञ्जक होने पर दूसरे के रूप का व्यञ्जक है, दीप के समान । क्योंकि दीपक (भी) अपने स्पर्श का व्यञ्जक होता है, इस लिए दृष्टान्त (दीपक) में अव्याप्ति को रोकने के लिए प्रथम 'परकीय' ('दूसरे का') शब्द (डाला गया) है । घट आदि (भी) अपने रूप के व्यञ्जक होते हैं, इसलिए उनमें व्यभिचार हटाने के लिए द्वितीय 'परकीय' शब्द (डाला गया) है । अथवा दीपक की ज्योति (प्रभा) को दृष्टान्त किया जा सकता है । इसलिए (हेतु में) 'परकीय' शब्द देने की आवश्यकता नहीं । चक्षु के (अपने विषय से) सन्निकर्ष में अतिव्याप्ति (व्यभिचार) की रोकने के लिए (हेतु में) 'द्रव्यत्व' यह अंश भी डालना चाहिए ।

व्याख्या:— रसना को जलीय सिद्ध करने में जिस प्रकार का हेतु दिया गया है उसी प्रकार का हेतु चक्षु को तैजस सिद्ध करने के लिए दिया गया है । अर्थात् चक्षु 'दूसरे के स्पर्श आदि का अव्यञ्जक होने के साथ साथ दूसरे के रूप का व्यञ्जक होता है' जैसे कि प्रदीप, अतः चक्षु तैजस है । दीपक भी अपने स्पर्श का तो व्यञ्जक होता ही है, इसलिए ऐसा कहा गया कि 'दूसरे के स्पर्श आदि का व्यञ्जक न हो' । घट आदि भी (जो कि तैजस नहीं, प्रत्युत पार्थिव हैं) अपने रूप के व्यञ्जक होते ही हैं, इसलिए उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए ऐसा कहा गया कि जो 'दूसरे के रूप का व्यञ्जक हो' । अन्त में यह बतलाया कि हेतु में दोनों जगह से 'दूसरे का' यह अंश निकालकर केवल इतना हेतु भी कर सकते हैं कि चक्षु तैजस है, क्योंकि स्पर्श आदि का अव्यञ्जक होने के साथ साथ रूप का व्यञ्जक है, जैसे दीपक की ज्योति । दीपक की ज्योति में कोई स्पर्श नहीं होता, इसलिए वह अपने स्पर्श की भी व्यञ्जक नहीं है, और केवल रूप की ही व्यञ्जक है ।

रसना इन्द्रिय के जलीय होने का अनुमान करते समय यह शङ्का हुई थी कि रसना इन्द्रिय और उसके विषय के साथ सन्निकर्ष में भी 'जलीय' सिद्ध करने वाला हेतु चला जायगा। वहां उसका उत्तर यही दिया गया था कि हेतु में 'द्रव्यत्व होने पर' यह अंश साथ में जोड़ दिया जायगा, क्योंकि सन्निकर्ष में द्रव्यत्व नहीं होता। वही प्रश्न यहां भी उठा है और ठीक उसी प्रकार का उत्तर यहां भी दिया गया है।

का०— वह्निस्वर्णादिर्विषयो मतः।

सि० मु०— विषयं दर्शयति। वह्नीति। ननु सुवर्णस्य तैजसत्वे किं मानमिति चेद्? न, सुवर्णं तैजसम्, असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वात्, यन्नैव, तन्नैवं यथा पृथिवीति। न चेदमप्रयोजकं, पृथिवीद्रवत्वस्य जन्यजलद्रवत्वस्य चाऽत्यन्ताग्निसंयोगनाश्यत्वात्। ननु पीतिमगुरुत्वाश्रयस्य पार्थिवभागस्यापि तदानीं द्रुतत्वात्तेन व्यभिचार इति चेत्? न, जलमध्यस्थमषीवत्तदवत्तस्याऽद्रुतत्वात्। अपरे तु, पीतिमाश्रयस्य अत्यन्ताग्निसंयोगेऽपि पूर्वरूपापरावृत्तिदर्शनात्तत्प्रतिबन्धकं विजातीयद्रवद्रव्यं कल्प्यते। तथा हि—अत्यन्ताग्निसंयोगे पीतिमगुरुत्वाश्रयः, विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसंयुक्तः, अत्यन्ताग्नि-संयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणत्वात्, जलमध्यस्थ-पीतपटवत्। तस्य च पृथिवीजलभिन्नस्य तेजस्त्वनियमात्।

अनु०— आग स्वर्ण आदि (तेजस्) के विषय हैं। विषय दिखाते हैं वह्नि इत्यादि अंश से। शङ्का होती है कि स्वर्ण के तैजस होने में क्या

प्रमाण है ? उत्तर देते हैं कि यह शङ्का ठीक नहीं क्योंकि (इस प्रकार अनुमान हो सकता है कि) सुवर्ण तैजस है क्योंकि वह प्रतिबन्धक के होने पर (भी, अत्यन्त अग्नि का संयोग होने पर भी न नष्ट होने वाले जन्य द्रवत्व वाला होता है। जो ऐसा नहीं है, वह तैजस भी नहीं है जैसे पृथिवी। और न यह अनुमान अनुकूल तर्क रहित कहा जा सकता है, क्योंकि पृथ्वी का द्रवत्व और जन्य जल का द्रवत्व अत्यन्त अग्नि के संयोग से नष्ट हो जाता है। यहां शङ्का होती है कि (ननु) (सुवर्ण में) पीला रूप और गुरुत्व का आश्रय जो पार्थिव भाग है उसके भी उस समय गल जाने से (अर्थात् द्रवत्व युक्त होने के कारण उस (पार्थिव वस्तु) में व्यभिचार होगा। शङ्का का उत्तर देते हैं कि यह शङ्का ठीक नहीं क्योंकि जल के बीच में स्थित स्याही के चूर्ण की तरह वह (अर्थात् पीतवर्ण और गुरुत्व का आश्रय पार्थिव भाग) गला हुआ (तरल नहीं होता। दूसरे लोग इस प्रकार भी कहते हैं कि अत्यन्त अग्नि के संयोग होने पर भी सुवर्ण में स्थित पीतरूप के आश्रय पार्थिव भाग) के पहिले रूप का बदलना नहीं दिखाई देता, इसलिये उसका अर्थात् रूप के बदलने का रोकने वाला (प्रतिबन्धक) कोई विजातीय तरल द्रव्य कल्पित किया जाता है [और वही विजातीय द्रव (तरल) द्रव्य सुवर्ण है यह कल्पना] इस प्रकार होती है कि अत्यन्त अग्नि के संयोग होने पर पीतवर्ण और गुरुत्व का आश्रय (पार्थिव भाग) विजातीय रूप को रोकने वाले द्रव (तरल) द्रव्य से संयुक्त है क्योंकि अत्यन्त अग्नि के संयोग होने पर भी वह (पीतवर्ण और गुरूत्व का आश्रय पार्थिव भाग) पूर्व रूप के बदलने से विजातीय रूप का आश्रय नहीं होता (अर्थात् उसमें पूर्वरूप के बदले कोई दूसरा रूप नहीं आता)। (दृष्टान्त) जल के बीच में स्थित कपड़े के समान। उस (प्रतिबन्धक तरल द्रव्य) के पृथ्वी और जल से भिन्न होने के कारण उसका तैजस होना निश्चित है।

व्याख्या—यहां सुवर्ण के तैजस द्रव्य होने का अनुमान किया गया

है क्योंकि सुवर्ण में साधारणतया गुरुत्व और पीला रंग पाया जाता है और वे दोनों ही गुण तैजस में नहीं हो सकते इसलिए प्राचीन लोगों ने यह माना था कि पीला रंग और गुरुत्व का आश्रय तो पार्थिव अंश है परन्तु सुवर्ण उससे भिन्न वस्तु है, जिस वस्तु का द्रवत्व अत्यन्त अग्नि संयोग होने पर भी नष्ट नहीं होता, वही तत्त्व सुवर्ण द्रव्य है, साधारणतया किसी पृथिवी या जलरूप वस्तु का लगातार अग्नि से संयोग हो तो उस वस्तु का द्रवत्व नष्ट हो जाता है जैसे घृत लाख आदि को लगातार आग पर रक्खें तो उनकी द्रवत्वयुक्त अर्थात् तरल अवस्था नष्ट हो जाती है और वे सूक्ष्म होकर उड़ जाते हैं। परन्तु सुवर्ण की तरलता लगातार अग्नि संयोग होने पर भी नष्ट नहीं होती। अतएव यह अनुमान होता है कि सुवर्ण पृथिवी और जल नहीं है प्रत्युत तैजस द्रव्य है। यहां पर "प्रतिबन्धक न होने पर भी" यह अंश इसलिए डाला गया कि यदि द्रवत्व के नाश को रोकने वाला कोई प्रतिबन्धक हो तो पार्थिव द्रव्य का भी द्रवत्व गुण नष्ट नहीं होता जैसे जल के बीच में यदि घृत पड़ा हो तो अत्यन्त अग्नि के संयोग होने पर भी उस घृत का द्रवत्व नष्ट नहीं होता अर्थात् पानी का तो द्रवत्व नष्ट होगा परन्तु पानी के प्रतिबन्धक होने से घृत का द्रवत्व नष्ट नहीं होगा। इसलिए यहां यह कहा है कि "प्रतिबन्धक न होने पर भी" और 'अत्यन्त अग्नि संयोग होने पर भी' जिसका द्रवत्व नष्ट न हो वह पृथिवी और जल नहीं हो सकता प्रत्युत तैजस ही होगा।

यह शङ्का हो सकती है कि यह अनुमान अनुकूल तर्क रहित है अर्थात् इसमें इस प्रकार व्यभिचार शङ्का हो सकती है कि सुवर्णमें "असति प्रतिबन्धके" इत्यादि हेतु तो हो और साध्य जो 'तैजस होना' है वह न हो तो इसका उत्तर देते हैं कि यहां पर अनुकूल तर्क विद्यमान है क्योंकि पृथिवी और जन्य जल का द्रवत्व सदा अत्यन्त अग्नि संयोग से नष्ट हो जाता है और इसलिए जिसका द्रवत्व अत्यन्त अग्नि संयोग होने पर भी नष्ट न हो वह पृथिवी और जल से भिन्न तैजस अवश्य ही होगा अर्थात् हेतु के होने पर

साध्य जो 'तैजस होना' वह भी आवश्यक हो जाता है।

यहां पर यह शङ्का उठाई कि पीतवर्ण और गुरुत्व का आश्रय पार्थिव भाग भी तो उस समय तरल अर्थात् द्रवत्व युक्त होता है और उसका द्रवत्व अत्यन्त अग्नि संयोग होने पर भी नष्ट नहीं होता तो यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रत्येक पृथिवी का द्रवत्व अत्यन्त अग्नि संयोग होने पर अवश्य ही नष्ट हो जाता है। इसका उत्तर यह दिया कि पीत वर्ण और गुरुत्व का आश्रय वह पार्थिव भाग वस्तुतः तरल या द्रवत्व युक्त होता ही नहीं जैसे पानी में पड़ी हुई स्याही का चूर्ण भी भ्रम से तरल प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुत वह तरल नहीं होता प्रत्युत ठोस ही होता है। उसी प्रकार पीले रंग और गुरुत्व का आश्रय भी तरल नहीं होता।

कुछ लोग सुवर्ण के तैजस होने का अनुमान निम्न प्रकार से करते हैं कि अग्नि संयोग होने पर पार्थिव वस्तु का रूप बदल जाता है जैसे कि घड़े के साथ अग्नि संयोग होने पर उसका नील रूप बदल कर लाल रूप हो जाता है। परन्तु सुवर्ण के विषय में देखते हैं कि उसके अन्दर विद्यमान पार्थिव अंश का पीला रंग अत्यन्त अग्नि संयोग होने पर भी नहीं बदलता। अतः रूप के बदलने को रोकने वाला कोई विजातीय द्रव (तरल) द्रव्य मानना पड़ता है। क्योंकि यह देखा जाता है कि जल के बीच में स्थित पीले कपड़े का पीला रूप अत्यन्त अग्नि संयोग होने पर भी बदलता नहीं। वहां अग्नि संयोग होने पर भी रूप के बदलने को रोकने वाला (प्रतिबन्धक) जल होता है इसी प्रकार सुवर्ण के अन्तर्गत पार्थिव भाग के पीले रूप के अग्नि संयोग होने पर भी बदलने को रोकने वाला कोई द्रव-द्रव्य होना चाहिए और वह द्रव द्रव्य जल या पृथिवी हो नहीं सकते, क्योंकि जल या पृथिवी का द्रवत्व अग्नि संयोग होने पर नष्ट हो जाता है परन्तु इस द्रव द्रव्य का द्रवत्व अग्नि संयोग होने पर भी नष्ट नहीं होता इसलिए वह द्रव द्रव्य तैजस ही हो सकता है और पीतवर्ण और गुरुत्व के आश्रय पार्थिव भाग से भिन्न यह द्रव द्रव्य ही वस्तुतः सुवर्ण है जो कि तैजस है।

आलोचना— यद्यपि न्याय-वैशेषिक के पिछले ग्रन्थों में सुवर्ण को ही तैजस कहा गया है परन्तु प्रशस्तपाद भाष्य में खान से उत्पन्न होने वाले चांदी

आदि अन्य द्रव्यों को भी तैजस बतलाया गया है। और ऊपर की युक्ति अत्यन्त अनल संयोग होने पर भी द्रवत्व का नाश न होना उनपर भी घटती है। यह तो स्पष्ट ही है कि सुवर्ण चांदी आदि का तैजस या आग्नेय मानना आधुनिक विज्ञान के विरुद्ध है क्योंकि पहिली बात तो यह है कि सुवर्ण चांदी आदि मूल तत्त्व हैं दूसरी यह कि जो यहां युक्ति दी गई है वह भी नहीं ठहरती क्योंकि बहुत अधिक ताप देने से जल और घृत आदि के समान सुवर्ण या चाँदी आदि भी भाप बनकर उड़ जाते हैं, अर्थात् उनका द्रवत्व नष्ट हो जाता है। इस विषय में यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन समय में कदाचित् इतना ताप उत्पन्न नहीं किया जा सका था कि जिससे सुवर्ण आदि भाप हो सके। परन्तु कुछ कान से उत्पन्न होने वाली धातु जैसे जस्ता (zink) आदि बहुत कम ताप पर अर्थात् जितने ताप पर सुवर्ण गलता है उससे भी कम ताप पर भाप हो जाते हैं उनके विषय में प्राचीनों ने क्या सोचा होगा, यह नहीं पता। जो कुछ भी हो प्राचीनों के इन विचारों का इस समय पर केवल ऐतिहासिक मूल्य ही है।

सि० मु०— वायुं निरूपयति :—

का०—अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मतः ॥४२

तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः।

सि० मु०— अनुष्णाशीतस्पर्शस्य पृथिव्यामपि सत्त्वादुक्तमपाकज इति। अपाकजस्पर्शस्य जलादावपि सत्त्वादुक्तमनुष्णाशीतेति। तेन वायवीयो विजातीयः स्पर्शो दर्शितः। तज्जनकतावच्छेदकं वायुत्वमिति भावः। एष वायुः स्पर्शादिलिङ्गकः। वायुर्हि स्पर्शशब्दधृतिकम्पैरनुमीयते; विजातीय—

स्पर्शेन, विलक्षणशब्देन, तृणादीनां धृत्या, शाखादीनां कम्पेन च वायोरनुमानात्। यथा च वायोर्न प्रत्यक्षं तथाग्रे वक्ष्यते।

अनुवाद—वायु का निरूपण किया जाता है:—

अपाकज अर्थात् जो अग्नि संयोग से उत्पन्न हो और जो न उष्ण हो और न शीत हो ऐसा स्पर्श वायु में माना गया है। वायु टेढ़ी गति वाला जानना चाहिये और स्पर्श आदि वायु के (अस्तित्व को सिद्ध करने में) लिङ्ग अर्थात् हेतु हैं।

अनुष्ण और अशीत स्पर्श के पृथिवी में भी होने से 'अपाकज' (अर्थात् जो अग्नि संयोग से उत्पन्न न हो) ऐसा कहा। (और) अपाकज स्पर्श जल आदि में भी रहता है, इसलिये 'अनुष्णाशीत' ऐसा कहा। इस प्रकार वायु का विजातीय स्पर्श दिखा दिया। उस विजातीय अनुष्णाशीत अपाकज स्पर्श) की जनकता की अवच्छेदक वायुत्व जाति है यह तात्पर्य है। वायु स्पर्श आदि लिङ्ग वाली है। वायु का अनुमान स्पर्श, शब्द, धृति (किसी वस्तु का धारण करना) और कम्पन से होता है, अर्थात् विजातीय स्पर्श से, विलक्षण शब्द से, और तिनके आदि के धारण करने से, तथा शाखादि के कम्पन से वायु का अनुमान होता है। यह बात कि क्यों वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता आगे कही जायगी।

व्याख्या:—पृथिवी आदि चार द्रव्यों में स्पर्श पाया जाता है उसका परस्पर अन्तर यह है कि जल का स्पर्श शीत, अग्नि का उष्ण, पृथिवी का अनुष्णाशीत परन्तु पाकज, और वायु का अनुष्णाशीत परन्तु अपाकज होता है। यह पहिले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि पाकज गुण केवल पृथिवी में ही रहते हैं। इस प्रकार वायु का स्पर्श, अर्थात् अपाकज अनुष्णाशीत, सबसे भिन्न प्रकार का अर्थात् विजातीय होता है। यह स्पर्श क्योंकि केवल वायु में पाया जाता है और वायु ही उसकी समवायिकारण हो सकती है, इस लिए इस स्पर्श की जनकता की अवच्छेदक वायुत्व जाति सिद्ध हो जाती है।

वायु को कुछ लोगों ने स्पर्श के कारण प्रत्यक्ष माना है, परन्तु न्याय-वैशेषिक में रूप वाले द्रव्य का ही प्रत्यक्ष माना जाता है, अतः केवल पृथिवी जल और तेजस् का ही प्रत्यक्ष अभीष्ट है और वायु का नहीं। इसलिये वायु का अस्तित्व केवल अनुमान से ही सिद्ध होता है और उसको सिद्ध करने के लिये यहां चार हेतु दिये गये हैं। पहिला हेतु "स्पर्श" है। वह इस प्रकार कि रूप वाले द्रव्य में न रहने वाला स्पर्श जिसका हमें त्वचा से अनुभव होता है किसी द्रव्य में ही आश्रित हो सकता है, पृथिवी आदि के स्पर्श के समान। और वह स्पर्श पृथिवी, जल, तेजस् इन तीनों रूप वाले द्रव्यों में नहीं है, इसलिये किसी रूप रहित द्रव्य में ही हो सकता है और वही रूप रहित द्रव्य वायु है। इसी प्रकार पत्र पुष्प आदि में जो शब्द सुनाई देता है, बह किसी रूप वाले द्रव्य के अभिघात के बिना भी होता है, इसलिये उसका कारण कोई रूप रहित स्पर्शवाला और वेगवाला द्रव्य अवश्य होना चाहिये। और वह द्रव्य ही वायु है। इसी प्रकार आकाश में तिनके आदि धारण किये दिखलाई देते हैं उनका धारण करने वाला कोई रूप वाला द्रव्य तो दिखाई नहीं देता, परन्तु धारण करने का काम कोई स्पर्श वाला और वेगवाला द्रव्य ही कर सकता है। इसलिये रूपरहित स्पर्श वाले और वेग वाले वायु नामक द्रव्य का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार बिना किसी रूप वाले द्रव्य के अभिघात के तृण शाखा आदि में जो कम्पन रूप क्रिया होती है वह भी किसी स्पर्श वाले और वेगवाले द्रव्य के अभिघात से उत्पन्न होती है इसलिये रूपरहित वेगवाला स्पर्श वाला वायु नामक द्रव्य है यह सिद्ध हो जाता है।

का० —पूर्ववन्नित्यताद्युक्तम्..................

सि० मु०ः—पूर्ववदिति। वायुर्द्विविधो नित्योऽनित्यश्च। परमाणुरूपो नित्यस्तदन्योऽनित्योऽवयवसमवेतश्च। स त्रिविधः, शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। तत्र शरीरमयोनिजं पिशा-

चादीनाम् । परन्तु जलीयतैजसवायवीयशरीराणां पार्थिवभागो-पष्टम्भादुपभोगक्षमत्वं जलादीनां प्राधान्याज्जलीयत्वादिकमिति।

अनुवादः—वायु की नित्यता और अनित्यता पूर्ववत् (अर्थात् जल की तरह) कही गई है ।

'पूर्ववदिति' इस अंश की व्याख्या करते हैं । वायु दो प्रकार का है, नित्य और अनित्य । परमाणु रूप नित्य है और उससे भिन्न अनित्य है जो अपने कारण रूप अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहता है । वह (अनित्य) भी तीन प्रकार का है, शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से । उनमें से शरीर जो कि योनि से उत्पन्न नहीं होता पिशाच आदि का होता है, परन्तु (यह जानना चाहिये कि) जलीय तैजस और वायवीय शरीर उपभोग के साधन इसलिये होते हैं कि उनमें पार्थिव भाग मिला रहता है, (परन्तु) जल आदि की प्रधानता से (उन शरीरों को) जलीय आदि माना जाता है ।

अलोचनाः- यहां पर एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य है कि न्याय सिद्धान्त में किन्हीं दो या अधिक भूतों को मिलाकर कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि यदि दो या अधिक से बना कोई कार्य होगा तो उसमें दोनों भूतों के आ जाने से दो जाति रहेंगी जिससे कि जाति में सङ्करता का दोष आ जायगा । इसलिये पार्थिव, जलीय आदि प्रत्येक प्रकार के शरीर केवल एक ही भूत से बने माने जाते हैं । दूसरा भूत उनमें केवल संयोग से जुड़ जाय, इतना ही हो सकता है । परन्तु ग्रन्थकार के यह कहने से कि जलीय आदि शरीरों में जल आदि का प्राधान्य होता है यह बात झलकती है कि उन शरीरों की बनावट में जल और पृथिवी दोनों का भाग होता है परन्तु जल का केवल प्राधान्य होता है । परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार जलीय आदि शरीर केवल जल के बने हो सकते हैं पृथिवी आदि का तो उनमें केवल संयोग मात्र माना जा सकता है ।

सि० मु०— अत्र यो विशेषस्तमाह । देहव्यापीति :—

का० .... देहव्यापि त्वगिन्द्रियम् ॥४३॥

सि० मु० :— शरीरव्यापकं स्पर्शग्राहकमिन्द्रियं त्वक्। तच्च वायवीयं रूपादिषु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्-अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनपवनवत् ॥

अनुवाद :— यहां पर जो विशेष बात है उसको कहा जाता है "देहव्यापि" इत्यादि अंश से।

(वायवीय) इन्द्रिय, त्वक् है जो सारे शरीर में व्यापक है।

शरीर में व्यापक और स्पर्शग्राहक इन्द्रिय त्वक् है। वह वायवीय है क्योंकि रूपादिको में से केवल स्पर्श की ही व्यञ्जक है (दृष्टान्त) शरीर में लगे पानी (पसीने) की व्यञ्जक पङ्खे की वायु के समान।

व्याख्या :—त्वक् इन्द्रिय को वायवीय उसी प्रकार सिद्ध किया गया है जिस प्रकार अन्य इन्द्रियों को पार्थिव आदि सिद्ध किया गया है अर्थात् त्वक् इन्द्रिय रूप आदि किसी अन्य विशेष गुण की व्यञ्जक न होकर केवल स्पर्श की व्यञ्जक है, अतः वह वायवीय है क्योंकि वायु ही शरीर के पसीने की शीतलता की व्यञ्जक होती है। अतएव जो वस्तु केवल स्पर्श की व्यञ्जक हो वह वायवीय होगी।

अलोचना:—आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से न तो जल का गुण शीतल स्पर्श है और न वायु उस शीतलता की व्यञ्जक होती है, प्रत्युत वायु के लगने से शरीर का पसीना उड़ता है अर्थात् भाप बन जाता है और भाप बनने में जो गर्मी की आवश्यकता होती है, वह शरीर से ली जाती है और शरीर में से गर्मी निकलने के कारण शीतलता का अनुभव होता है।

सि० मु० :— विषयं दर्शयति प्राणादिरिति।

का०-प्राणादिस्तु महावायुपर्यन्तो विषयो मतः।

सि० मु० :— यद्यप्यनित्यो वायुश्चतुर्विधः तस्य चतुर्थी

विधा प्राणादिरित्युक्तमाकरे, तथापि संक्षेपादत्र त्रैविध्यमुक्तम् । प्राणस्त्वेक एव हृदादिनानास्थानवशान्मुखनिर्गमादिनाना-क्रियावशाच्च नानासंज्ञा लभत इति ।

अनुवादः—विषय को दिखाते हैं, 'प्राणादि' इस अंश से ।

प्राणादि से लेकर महावायु पर्यन्त वायु का विषय माना गया है ।

यद्यपि अनित्य वायु चार प्रकार का है और उसका चौथा प्रकार 'प्राणादि' हैं ऐसा "आकर" में कहा गया है तथापि संक्षेप से यहां पर तीन ही प्रकार कहे गये हैं । और प्राण यद्यपि एक ही है तो भी हृदय आदि अनेक स्थानों (में रहने) के कारण तथा मुख से निकलना आदि अनेक क्रियाओं के कारण अनेक नाम ग्रहण करता है ।

व्याख्याः— पृथिवी आदि के समान वायु के भी तीन प्रकार बताये गये हैं, परन्तु उसका चौथा प्रकार प्राणादि है । यद्यपि प्राणादि भी विषय के अन्तर्गत आ सकते हैं तो भी प्राणादि को महावायु आदि विषयों से अलग माना गया है । 'प्राणादि' वायु का चौथा प्रकार है यह बात "आकर" नामक ग्रन्थ में कही गई है । 'आकर' ग्रन्थ कौनसा था, यह कहना कठिन है परन्तु टीकाकारों ने 'आकर' का तात्पर्य प्रशस्तपाद भाष्य लिया है और प्रशस्तपाद भाष्य में वायु के निरूपण में 'प्राण' नामक चौथा वायु का प्रकार बतलाया भी गया है ।

सि० मु०:-- आकाशं निरूपयति । आकाशस्येतिः--

का० आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः ४४

सि० मु०:—आकाशकालदिशामेकैकव्यक्तित्वादाकाश-त्वादिकं न जातिः । किन्तु आकाशत्वं शब्दाश्रयत्वम् । वैशेषिक इति कथनं तु विशेषगुणान्तरव्यवच्छेदाय, एतेन प्रमाणमपि दर्शितम् । तथाहि— शब्दो विशेषगुणः चक्षुर्ग्रह-

णाऽयोग्यबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात् स्पर्शवत् । शब्दो द्रव्यसमवेतो गुणत्वात् संयोगवत्-इत्यनुमानेन शब्दस्य द्रव्य-समवेतत्वे सिद्धे, शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणः अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणकत्वाभावे सत्यकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वात् सुखवत् । पाकजरूपादौ व्यभिचारवारणायाऽकारणगुणपूर्वकेति, जलपरमाणुरूपादौ व्यभिचारवारणाय प्रत्यक्षेति । शब्दो न दिक्कालमनसां गुणः विशेषगुणत्वात् । नात्मविशेषगुणो बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वाद्रूपवत् । इत्थं च शब्दाधिकरणं नवमं द्रव्यं गगननामकं सिध्यति । न च वाय्ववयवेषु सूक्ष्मशब्दक्रमेण वायौ कारणगुणपूर्वकः शब्द उत्पद्यतामिति वाच्यम्, अयावद्-द्रव्यभावित्वेन वायुविशेषगुणत्वाभावात् ।

अनु०-आकाश का निरूपण किया जाता है 'आकाशस्य' इत्यादि अंश से ।
आकाश का विशेष गुण शब्द है, ऐसा जानना चाहिए ।

आकाश काल दिक् इनके केवल एक एक व्यक्ति होने से आकाशत्व आदि (अर्थात् आकाशत्व, कालत्व और दिक्त्व) जाति नहीं हो सकती किन्तु 'शब्द का आश्रय होना' ही आकाशत्व है । वैशेषिक (विशेष) यह कथन आकाश में शब्द के सिवाय) अन्य किसी विशेषगुण की व्यावृत्ति के लिये किया गया । इससे (आकाश के अस्तित्व में) प्रमाण भी दिखा दिया गया । वह इस प्रकारः- शब्द विशेष गुण है, क्योंकि चक्षु से ग्रहण करने के अयोग्य और बाह्य इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य जाति वाला है, स्पर्श के समान । (फिर दूसरा अनुमान इस प्रकार किया कि) शब्द द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है क्योंकि वह गुण है संयोग के समान, इस अनुमान से शब्द का द्रव्य में समवेत होना सिद्ध हो जाने पर (अगला अनुमान इस प्रकार करते हैं कि) शब्द स्पर्शयुक्त किसी (द्रव्य का विशेष

गुण नहीं हो सकता क्योंकि शब्द 'अग्नि संयोग' नामक असमवायिकारण वाला न होने पर भी अकारण गुण पूर्वक (अर्थात् अपने समवायिकारण के गुण से उत्पन्न न होने वाला) है और उसका प्रत्यक्ष होता है, सुख के समान (जैसे सुख भी उपर्युक्त हेतु से किसी स्पर्श वाले का गुण नहीं है)। पाकज (अग्नि संयोग हो असमवायिकारण जिनका ऐसे) रूप आदि में व्यभिचार दूर करने के लिये पहिला अंश 'सति पर्यन्त' (अर्थात् अग्नि संयोग नामक असमवायिकारण वाला न होने पर) अंश दिया गया। पटरूप आदि में अतिव्याप्ति (व्यभिचार) को हटाने के लिये 'अकारण गुण पूर्वक' (अर्थात् अपने समवायि कारण के गुण से उत्पन्न न होने वाला) यह अंश दिया गया। (फिर आगे अनुमान करते हैं कि) शब्द दिक् काल और मनस् का गुण नहीं हो सकता क्योंकि वह विशेष गुण है। और (शब्द) आत्मा का भी विशेष गुण नहीं हो सकता क्योंकि वह बाह्य इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य है जैसे कि रूप। इस प्रकार शब्द का आश्रय (आठ द्रव्यों के अतिरिक्त) नवां द्रव्य आकाश नामक सिद्ध हो जाता है। (और न यह शङ्का करनी चाहिये कि) वायु के अवयवों में ही सूक्ष्म शब्द के क्रम से (अर्थात् पहिले वायु के अवयवों में सूक्ष्म शब्द होता है और फिर) वायु में कारण गुण पूर्वक शब्द उत्पन्न हो जायगा, क्योंकि शब्द) 'अयावद् द्रव्य भावी' (अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य में व्यापक रूप से न रहने वाला) होने से वायु का विशेष गुण नहीं हो सकता।

व्याख्या:— सामान्य के प्रकरण में यह आ चुका है कि सामान्य केवल एक व्यक्ति में रहने वाली नहीं हो सकती इसलिये नौ द्रव्यों में से, आकाश काल और दिक् जो केवल एक एक ही द्रव्य है, उनमें रहने वाली आकाशत्व कालत्व, दिक्त्व नामक जातियां नहीं हो सकतीं, प्रत्युत वे उपाधियां ही मानी जायंगी और शब्द का आश्रय होना ही आकाशत्व उपाधि का स्वरूप है।

वैशेषिक का अर्थ है विशेष। विशेष शब्द से स्वार्थ में अर्थात् उसी अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होकर 'वैशेषिक' शब्द बनता है। यहां 'गुण' के साथ विशेष गुण इसलिये कहा कि जिससे यह प्रकट हो कि आकाश में शब्द के सिवाय

और कोई विशेष गुण नहीं रहता। इस प्रकार आकाश के अस्तित्व में प्रमाण भी दिया गया। पहिले शब्द को विशेष गुण सिद्ध किया गया फिर यह कहा गया कि वह द्रव्य में समवेत होता है और फिर अनुमानों से यह सिद्ध किया कि वह पृथिवी आदि स्पर्श वाले चार द्रव्यों में नहीं हो सकता और न दिक् काल और मनस् में ही समवेत हो सकता है और न आत्मा में ही। इस प्रकार शब्द का आश्रय अर्थात् जिसमें शब्द समवेत होता है वह आठ द्रव्यों के अतिरिक्त नवां द्रव्य आकाश सिद्ध हो जाता है।

पहिला अनुमान यह है कि शब्द विशेष गुण है क्योंकि चक्षु से ग्रहण करने के अयोग्य और बाह्य इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य जाति वाला है। इस प्रकार की जाति वाला विशेष गुण ही हो सकता है, उदाहरणार्थ—स्पर्श भी चक्षु से ग्रहण करने अयोग्य और बाह्य इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य स्पर्शत्व नाम की जाति वाला है और वह भी विशेष गुण है। यदि उपर्युक्त हेतु में 'चक्षु से ग्रहण करने के अयोग्य' यह अंश न डालें तो घट आदि में व्यभिचार होगा क्योंकि बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य तो 'घटत्व' जाति भी है, वह घट में रहती है। परन्तु वह 'चक्षु से ग्रहण करने के अयोग्य हो', यह बात नहीं है, इसलिये उसकी व्यावृत्ति हो जाती है। और यदि पिछला अंश अर्थात् 'बाह्य इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य' न डालें तो आत्मा में अतिव्याप्ति हो जायगी क्योंकि आत्मा भी चक्षु से ग्रहण करने के अयोग्य है ही इसलिये दूसरा अंश दिया गया। और यदि यहां "जाति वाला" यह अंश न डालें और केवल "चक्षु से ग्रहण करने अयोग्य और बाह्य इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य जो है वह विशेष गुण है" इतना ही कहें तो 'रसत्व' नामक जाति में व्यभिचार हो जायगा क्योंकि वह जाति भी चक्षु से ग्रहण करने के अयोग्य है और बाह्य इन्द्रिय (रसना) से ग्रहण करने योग्य है। इसलिये 'जातिमत्' यह अंश डाल दिया, क्योंकि 'रसत्व' में तो कोई जाति रहती नहीं क्योंकि जाति में जाति नहीं रहा करती।

दूसरा अनुमान स्पष्ट ही है कि शब्द गुण होने से किसी द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है अर्थात् समवेत होता है। तीसरा अनुमान यह किया गया

कि शब्द स्पर्श गुण युक्त जल, पृथिवी और तेजस् का गुण नहीं हो सकता क्योंकि जो अग्निसंयोग नामक असमवायिकारण वाला न हो अर्थात् जो पाकज न हो और फिर भी जो अकारणगुणपूर्वक हो अर्थात् अपने समवायिकारण के गुण से उत्पन्न होने वाला न हो और साथ ही उसका प्रत्यक्ष भी होता हो ऐसा विशेष गुण पृथिवी आदि चारों स्पर्श वाले द्रव्यों का नहीं हो सकता, क्योंकि पृथिवी आदि स्पर्श वालों के गुण या तो घट के रक्त रूप के समान पाकज होते हैं या पट के रूप के समान अपने समवायिकारण के गुण से उत्पन्न होते हैं, या जल आदि द्रव्यों के परमाणुओं के नित्य गुण होते हैं जो कि न तो पाकज होते हैं और नित्य होने से न कारणगुणपूर्वक ही होते हैं, परन्तु वे प्रत्यक्ष नहीं होते। इसलिये ऐसा विशेष गुण कि जो न तो पाकज हो न कारणगुणपूर्वक हो और जिसका प्रत्यक्ष भी होता हो पृथिवी आदि स्पर्श वालों का गुण हो ही नहीं सकता। उदाहरण के लिये 'सुख' ऐसा गुण है जिसमें उपर्युक्त तीनों बातें हैं, वह भी पृथिवी आदि स्पर्श वालों का गुण नहीं, और शब्द भी वैसा ही गुण है, इसलिये वह भी पृथिवी आदि स्पर्श वालों का गुण नहीं हो सकता। उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो ही जायगा कि पहिला अंश "कि अग्निसंयोग नामक असमवायिकारण वाला न होने पर" इसलिये डाला गया कि घट के रक्त पाकज रूप आदि में व्यभिचार न हो और दूसरा अंश कि "अकारण गुण पूर्वक" इसलिये डाला गया कि पटरूप आदि में व्यभिचार न हो। साथ ही जलपरमाणु के रूप में व्यभिचार हटाने के लिये "जो प्रत्यक्ष हो" यह अंश डाला गया।

अगला अनुमान कि शब्द दिक्, काल और मनस् का गुण नहीं है, क्योंकि वह विशेष गुण है, बिल्कुल स्पष्ट ही है कारण कि दिक्, काल और मनस् में कोई विशेष गुण रहता ही नहीं। और बाह्येन्द्रिय ग्राह्य होने से शब्द आत्मा का गुण नहीं है यह भी स्पष्ट ही है। इस प्रकार आठ द्रव्यों के अतिरिक्त शब्द का आश्रय नवम द्रव्य 'आकाश' सिद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त अनुमान में दोष दिखाते हुए यह कहा गया कि शब्द को कारणगुणपूर्वक क्यों न मान लिया जाय। वह इस प्रकार कि पहले यह

कल्पना की जाय कि सूक्ष्म शब्द वायु के अवयवों में उत्पन्न होता है और फिर उन अवयवों में रहने वाला शब्द गुण स्थूल वायु में आ जाता है। इस प्रकार शब्द कारणगुणपूर्वक हो जायगा। और वह वायु का गुण माना जा सकता है। इसका उत्तर यह दिया कि वायु के गुण "यावद्द्रव्यभावी" अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य में व्यापक रूप से रहने वाले होते हैं और शब्द एक देश में रहने वाला गुण है, इसलिये वह वायु का गुण नहीं हो सकता।

सि० मु०:— तत्र शरीरस्य चाभावादिन्द्रियं दर्शयति—

का० इन्द्रियं तु भवेच्छ्रोत्रमेकः सन्नप्युपाधितः।

सि० मु०:– नन्वाकाशं लाघवादेकं सिद्धं श्रोत्रं तु पुरुष-भेदेन भिन्नं कथमाकाशं स्यादिति चेत्तत्राह एकः सन्नपीत्यादि। आकाश एक एव सन्नपि उपाधेः कर्णशष्कुल्यादेर्भेदाद्भिन्नं श्रोत्रात्मकं भवतीत्यर्थः।

अनु०:— आकाश सम्बन्धी शरीर और विषय के न होने से (केवल) इन्द्रिय को दिखाते हैं।

(आकाश सम्बन्धी) इन्द्रिय श्रोत्र है। (श्रोत्रेन्द्रियसम्बन्धी) आकाश एक होता हुआ भी उपाधि के भेद से (भिन्न भिन्न हो जाता है)।

प्रश्न यह होता है कि आकाश लाघव से एक ही सिद्ध होता है, परन्तु श्रोत्र तो पुरुष-भेद से भिन्न भिन्न हैं, वे (एक) आकाश कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर 'एकः सन्नपि' इत्यादि अंश से देते हैं। आकाश एक होता हुआ भी कर्ण-शष्कुली (कान के अन्दर का भाग) आदि के भेद से भिन्न भिन्न प्रकार का होता हुआ श्रोत्ररूप हो जाता है।

व्याख्या:— अन्य घ्राणादि इन्द्रियें जो कि पार्थिव आदि हैं, पृथिवी आदि के अणुओं से बनी हैं, परन्तु श्रोत्रेन्द्रिय आकाश से बनी हो, यह तो हो ही नहीं सकता क्योंकि सर्वव्यापक अर्थात् विभु आकाश एक ही है। वह किसी का अवयव रूप कारण हो ही नहीं सकता, इसलिये श्रोत्रेन्द्रिय

आकाश स्वरूप ही हो सकती है, परन्तु इसमें कठिनता यह है कि श्रोत्र नाना हैं और आकाश एक ही है। उसका उत्तर यह दिया गया कि यद्यपि आकाश एक है परन्तु प्रत्येक मनुष्य की कर्णशष्कुली- कान (अथवा उसके अन्दर का भाग) भिन्न भिन्न हैं। उसकी उपाधि से श्रोत्रात्मक आकाश भिन्न भिन्न सा हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शब्द में समवायि-कारण के रूप में ही आकाश की कल्पना की गई है और शब्द को ग्रहण करने वाली श्रोत्रेन्द्रिय का आकाश स्वरूप होना भी आवश्यक है क्योंकि जब शब्द आकाश स्वरूप श्रोत्रेन्द्रिय में पहुँचकर श्रोत्रेन्द्रिय स्वरूप आकाश का गुण बनता है तभी उसका ग्रहण होता है। वस्तुतः शब्द श्रोत्र तक पहुंचता नहीं किन्तु भेरी-देश आदि में जहां शब्द उत्पन्न होता है वहां से पूर्व पूर्व शब्द नष्ट होता हुआ और उत्तर उत्तर शब्द उत्पन्न होता हुआ अन्त में श्रोत्रदेश के आकाश में उत्पन्न होता है और तब उसी शब्द का ग्रहण होता है।

सि० मु०ः— कालं निरूपयतिः—

का०जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ।।४५

सि० मुः०— तत्र प्रमाणं दर्शयितुमाह। जगतामिति। तथाहि। इदानीं घट इत्यादिप्रतीतिः सूर्यपरिस्पन्दादिकं यदा विषयीकरोति तदा सूर्यपरिस्पन्दादिना घटादेः सम्बन्धो वाच्यः। स च सम्बन्धः संयोगादिर्न सम्भवतीति काल एव तत्सम्बन्धघटकः कल्प्यते। इत्थं च तस्याश्रियत्वमपि सम्यक्।

अनुवादः— काल का निरूपण किया जाता है।

उत्पन्न हुए पदार्थों का (निमित्त) कारण काल है और वह सब जगत का आश्रय (आधार) है।

काल में प्रमाण दिखाने को कहा 'जगताम्' इत्यादि। (वह प्रमाण) इस प्रकार है "घट इस समय है" यह (वर्त्तमान काल सम्बन्धी) प्रतीति क्योंकि सूर्य की गति आदि को विषय करती है. इसलिये सूर्य की गति आदि से घट आदि का सम्बन्ध बतलाना चाहिये। वह सम्बन्ध संयोग आदि नहीं हो सकता, इसलिये काल ही उस सम्बन्ध को बनाने वाला माना जाता है। इस प्रकार वह जगत् का आधार है, यह बात भी ठीक हो जाती है।

व्याख्याः— संसार में जितने भी पदार्थ हैं. वे सब किसी समय में ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए काल सारे उत्पन्न हुए पदार्थों का सामान्य रूप से निमित्त कारण माना जाता है और वह जगत् के सारे पदार्थों का आधार भी है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के विषय में यह प्रतीति होती है कि वह अमुक काल में है। काल में पदार्थ किस प्रकार है इस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया गया कि 'यह घट इस समय है' इत्यादि प्रतीति का स्वरूप यह है कि घट का सूर्य की गति से सम्बन्ध है क्योंकि सूर्य की गति ही काल को नियामक होती है। और सूर्य की गति से भूतल पर स्थित घट का संयोग हो नहीं सकता। इसलिये उस सम्बन्ध का घटक काल नामक विभु पदार्थ माना गया है और उसके मानने से घट का सूर्य की गति से "स्वाश्रयतपनसंयोगिसंयोग रूप" सम्बन्ध बन जाता है। 'स्व' पद से सूर्य की क्रिया का ग्रहण होता है उसका आश्रय 'तपन' अर्थात् सूर्य है और उस सूर्य से संयोग वाला काल है और उस काल का संयोग घट के साथ है, इस प्रकार घट का सूर्य की क्रिया से सम्बन्ध काल के द्वारा ही होता है। अतएव काल नामक द्रव्य का मानना आवश्यक हो जाता है। उस विभु काल का प्रत्येक पदार्थ से संयोग है और उसी काल के कारण उन पदार्थों में काल सम्बन्धी प्रतीति होती है। इसलिये काल को जगत् का आधार कहा गया है।

सि० मु०—— प्रमाणान्तरं दर्शयति——

का०– परापरत्वधीहेतुः, क्षणादिः स्यादुपाधितः ।

सि० मु०:–– परत्वापरत्वबुद्धेरसाधारणं निमित्तं काल एव । परत्वापरत्वयोरसमवायिकारणसंयोगाश्रयो लाघवादतिरिक्तः काल एव कल्प्यत इति भावः । नन्वेकस्य कालस्य सिद्धौ क्षणदिनमासवर्षादिसमयभेदो न स्यादत आह । क्षणादिरिति । कालस्त्वेकोऽपि उपाधिभेदात्क्षणादिव्यवहारविषयः । उपाधिस्तु स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म, पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो वा, पूर्वसंयागनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभावो वा, उत्तरसंयागावच्छिन्नं कर्म वा । न चोत्तरसंयोगानन्तरं क्षणव्यवहारो न स्यादिति वाच्यम् कर्मान्तरस्यापि सत्त्वादिति । महाप्रलये क्षणादिव्यवहारो यद्यस्ति तदानायत्या ध्वंसेनोपपादनीय इति । दिनादिव्यवहारस्तु तत्तत्क्षणकूटैरेवे ति ।

अनुवादः— (काल की सिद्धि में) प्रमाणान्तर दिखलाते हैं ।

परत्व और अपरत्व बुद्धि का हेतु (भी) काल (ही) है । वह (काल) उपाधि के कारण क्षण आदि (के रूप में हो जाता है ।

परत्व और अपरत्व बुद्धि का असाधारण निमित्त कारण काल ही है । परत्व और अपरत्व का असमवायिकारण जो संयोग (काल पिण्ड संयोग) उसका आश्रय लाघव से काल ही माना जाता है । प्रश्न यह होता है कि काल के 'एक' (द्रव्य के) रूप में सिद्ध होने पर क्षण, दिन मास, वर्ष आदि का समय भेद नहीं होगा । इसलिए 'क्षणादि' इत्यादि अंश से उत्तर दिया कि काल एक होता हुआ भी उपाधि के भेद से क्षण आदि व्यवहार का विषय हो जाता है । (क्षण की) उपाधि है (१) ऐसा कर्म जो अपने (कर्म) से उत्पन्न होने वाले विभाग के प्रागभाव से अवच्छिन्न है, (देखो

व्याख्या) या (२) ऐसा विभाग जो पूर्व संयोग से अवच्छिन्न हो, या (३) पूर्व सयोग के नाश से अवच्छिन्न उत्तरदेशसंयोग का प्रागभाव, या (४) उत्तर सयोग से अवच्छिन्न कर्म। यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि उत्तर संयोग के बाद क्षण का व्यवहार नहीं होगा, क्योंकि दूसरा (भी) कर्म होता है, (जिसके द्वारा क्षण आदि का व्यवहार हो जायेगा) महाप्रलय के समय यदि क्षण आदि का व्यवहार होता है तो और कोई उपाय सम्भव न होने से ध्वंस के द्वारा क्षण का व्यवहार मानना होगा। दिन आदि का व्यवहार उन उन क्षणों के समूह के द्वारा होता है।

व्याख्याः— काल की सिद्धि में यहां जो दूसरा प्रमाण दिखाया है वह भी उपर्युक्त युक्ति से सम्बद्ध ही है। परत्व और अपरत्व गुण के स्वरूप का निरूपण (पृष्ठ १५५-५६) किया जा चुका है। जब "देवदत्त यज्ञदत्त की अपेक्षा बड़ा है" अथवा 'यज्ञदत्त देवदत्त की अपेक्षा छोटा है', यह अनुभव होता है तो उसका अर्थ यही है कि देवदत्त में कालिक परत्व गुण है और यज्ञदत्त में कालिक अपरत्व गुण होता है। देवदत्त में कालिक परत्व गुण इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होता है कि "यज्ञदत्त की अपेक्षा देवदत्त का अधिकतर सूर्य के परिस्पन्दों (सूर्य की गति से सम्बन्ध है।" यह ऊपर बताया जा चुका है कि सूर्य के परिस्पन्दों से देवदत्त के सम्बन्ध का घटक काल ही है। देवदत्त में जो परत्व नामक गुण उत्पन्न होता है उसका कारण उपर्युक्त अपेक्षाबुद्धि ही है। उस अपेक्षाबुद्धि से देवदत्त में परत्व नामक गुण उत्पन्न होता है, उस गुण का समवायिकारण तो देवदत्त ही है, परन्तु उसका असमवायिकारण देवदत्त और काल का संयोग ही है और उस संयोग का आश्रय देवदत्त और काल दोनों हैं इस प्रकार उस संयोग के आश्रय के रूप में 'काल' की सिद्धि हो जाती है। क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया, यदि काल को न मानें तो देवदत्त में यज्ञदत्त की अपेक्षा अधिकतर सूर्य के परिस्पन्दों का अनुभव नहीं हो सकता। इस प्रकार देवदत्त में उत्पन्न परत्व नामक गुण का असमवायिकारण देवदत्त नामक पिण्ड का काल से संयोग ही है और उस संयोग का आश्रय होने से काल को

परत्वापरत्व बुद्धि का असाधारण निमित्त कारण कहा जा सकता है। ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक उत्पन्न हुए पदार्थ का काल साधारणतया (सामान्य रूप से) निमित्तकारण है, किन्तु परत्व और अपरत्व बुद्धि का तो काल असाधारण निमित्तकारण है।

यह प्रश्न होता है कि जब काल एक है तो क्षण दिन आदि का व्यवहार किस प्रकार होता है? उत्तर दिया गया कि उपाधि से क्षण का व्यवहार होता है और क्षणों के समूहों का ही दिन आदि के रूप में व्यवहार होता है। क्षण की उपाधि यहाँ पर चार प्रकार से बतलाई गई है। जिनमें से प्रत्येक को अलग अलग क्षण की उपाधि कहा जा सकता है। इन उपाधियों को समझने के लिए न्याय-वैशेषिक की निम्नलिखित प्रक्रिया का समझना आवश्यक है:—

(१) प्रथम क्षण में क्रिया होती है।

(२) द्वितीय क्षण में उस क्रिया के द्वारा पूर्व देश से विभाग उत्पन्न होता है।

(३) तृतीय क्षण में विभाग से पूर्वसंयोग का नाश होता है।

(४) चतुर्थ क्षण में उत्तरदेशसंयोग होता है।

(५) पंचम क्षण में क्रिया का नाश होता है।

यहाँ पर उपाधि का पहला स्वरूप बतलाया गया कि ऐसी क्रिया (कर्म) जो स्वयं तो उत्पन्न हो चुकी हो परन्तु उससे उत्पन्न होने वाला विभाग पैदा न हुआ हो, अर्थात् ऐसी क्रिया जो अपने से उत्पन्न होने वाले प्रागभाव से अवच्छिन्न हो। यह स्पष्ट है कि पहिले क्षण में क्रिया होती है और दूसरे क्षण में उससे उत्पन्न विभाग होता है। ऐसी दशा में जब तक विभाग उत्पन्न न हुआ हो अर्थात् क्रिया उत्पन्न होने के बाद स्वजन्यविभाग के प्रागभाव से अवच्छिन्न हो तो वह एक ही क्षण होगा, क्योंकि द्वितीय क्षण होते ही विभाग हो जायेगा। इसी प्रकार विभाग होने के बाद अगले क्षण में 'पूर्व संयोग नाश' होता है। अतएव पूर्व संयोग से अवच्छिन्न अर्थात् सहित विभाग केवल एक क्षण ही रह सकता है, इसलिए उसे भी एक क्षण की उपाधि कह सकते

हैं। तृतीय क्षण में पूर्व संयोग का नाश होता है, और अगले क्षण में उत्तर संयोग होता है। इसलिये जब तक उत्तर संयोग न हो अर्थात् पूर्व संयोग के नाश से अवच्छिन्न उत्तर संयोग का प्रागभाव हो तो वह भी एक ही क्षण होगा और उसे भी क्षण की उपाधि कहा जा सकता है। चौथे क्षण में उत्तर संयोग उत्पन्न होता है और पांचवे क्षण में कर्म का नाश। इसलिए उत्तर संयोग से अवच्छिन्न अर्थात् सहित कर्म केंवल एक ही क्षण में होगा, इसलिए उसे भी क्षण की उपाधि कह सकते हैं।

यह शङ्का हो सकती है कि उत्तर संयोग के अनन्तर क्षण का व्यवहार नहीं होगा। परन्तु इसका उत्तर यह दिया कि उसके बाद भी और कर्म होते रहते हैं, उनकी उपाधि से क्षण का व्यवहार बना ही रहेगा। यह भी शङ्का हो सकती है कि यदि क्रिया या उससे उत्पन्न विभाग आदि उपाधियों के द्वारा ही क्षण का व्यवहार होता है तो महाप्रलय में जब कोई क्रिया आदि सम्भव नहीं, क्षण व्यवहार नहीं होगा। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि वस्तुतः न्याय-वैशेषिक शास्त्र प्रलय काल में क्षण आदि का व्यवहार नहीं मानता, परन्तु यदि प्रलय में क्षण आदि का व्यवहार माना ही जाए तो और कोई उपाय न होने से केवल वस्तुओं के ध्वंस की उपाधि से ही क्षण व्यवहार मानना पड़ेगा क्योंकि प्रलय काल में या तो नित्य पदार्थ होते हैं जो क्षण की उपाधि हो ही नहीं सकते या अनित्य पदार्थों का ध्वंस प्रलयकाल में रहता है। जिसके द्वारा अगत्या क्षण व्यवहार मानना होगा। परन्तु वास्तविक सिद्धान्त यही है कि प्रलय काल में क्षण आदि का व्यवहार नहीं होता। यह भी यहां बतला दिया गया कि क्षण का व्यवहार तो उपाधि से होता है और दिन मास आदि का व्यवहार क्षणों के समूह के द्वारा होता है।

सि० मु०:— दिशं निरूपयति

का० - दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते॥४६

सि० मु०:— दूरत्वमन्तिकत्वं च दैशिकं परत्वमपरत्वं बोध्यम् । तद्बुद्धेरसाधारणं बीजं दिगेव । दैशिकपरत्वापरत्वयो-रसमवायिकारणसंयोगाश्रयतया लाघवादेका दिक् सिध्यत इति भावः ।

अनुवादः— दिक् का निरूपण किया जाता है ।

(पदार्थों के) दूर और समीप होने की बुद्धि का कारण दिक् पदार्थ है, जो एक है और नित्य है ।

दूरत्व और अन्तिकत्व का अर्थ है दिक् सम्बन्धी परत्व और अपरत्व । उस (परत्व और अपरत्व) बुद्धि का असाधारण कारण दिक् ही है । दैशिक परत्व और अपरत्व का असमवायिकारण जो संयोग उसके आधार के रूप में दिक् सिद्ध होती है, यह तात्पर्य है ।

व्याख्याः – दैशिक परत्व और अपरत्व का स्वरूप पहले (पृष्ठ १५१) बतलाया जा चुका है । "पटना से काशी प्रयाग की अपेक्षा अपर है" इसका अर्थ यह है कि पटना से लेकर काशी तक मूर्त्त पदार्थों के संयोगों के व्यवधान पटना से प्रयाग तक के मूर्त्त पदार्थों के संयोगों के व्यवधान से न्यूनतर हैं । इसी ज्ञान को अपेक्षा बुद्धि कहते हैं और इस प्रकार की अपेक्षा बुद्धि से काशी में दैशिक अपरत्व और प्रयाग में दैशिक परत्व नामक गुण उत्पन्न हो जाता है । इन बीच के मूर्त्त पदार्थों के न्यूनतर या अधिकतर संयोगों का सम्बन्ध काशी और प्रयाग से साक्षात् रूप से नहीं है, वह सम्बन्ध स्थापित करने वाला पदार्थ ही दिक् है । यहां पर काशी में उत्पन्न दैशिक अपरत्व, और प्रयाग में उत्पन्न दैशिक परत्व का असमवायिकारण, दिक् और काशी का, अथवा दिक् और प्रयाग का संयोग ही है । उस संयोग के आश्रय दिक् और काशी, अथवा दिक् और प्रयाग दोनों ही हैं । इस प्रकार दैशिक परत्व और अपरत्व के असमवायिकारण रूप जो संयोग उसके आधार के रूप में लाघव से दिक् सिद्ध होती है, जो कि एक ही है ।

सि० मु०:— नन्वेकैव दिक् तदा प्राचीप्रतीच्यादि-व्यवहारः कथमुपपद्यतामित्यत आह ।

का०—उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादिव्यपदेशभाक् ।

सि० मु०:—यत्पुरुषस्य उदयगिरिसन्निहिता या दिक् सा तस्य प्राची । एवमुदयगिरिव्यवहिता या दिक् सा प्रतीची। एवं यत्पुरुषस्य सुमेरुसन्निहिता या दिक् सोदीची । तद्व्यवहिता त्ववाची । "सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः" इति नियमात् ।

अनु०: – प्रश्न होता है कि यदि दिक् एक ही है तो पूर्व और पश्चिम आदि का व्यवहार किस प्रकार होता है, इसलिए उत्तर देते हैं कि:—

दिक् एक होती हुई भी उपाधियों के भेद से 'पूर्व' आदि संज्ञाओं से युक्त होती है।

जिस पुरुष के लिये जो दिक् उदयाचल से समीप है, वह उसके लिये पूर्व दिक् है और जो दिक् उदयाचल से दूर है वह पश्चिम दिक् कहलाती है। इसी प्रकार जिस पुरुष के लिये जो दिक् सुमेरु के पास है, वह उस पुरुष के लिये उत्तर दिशा कहलाती है और जो उसके (सुमेरु पर्वत से) दूर है वह दक्षिण कहलाती है। क्योंकि यह नियम है कि मेरु पहाड़ सभी देशों से उत्तर की ओर स्थित है।

व्याख्या:—यहां पर उपाधि भेद से पूर्व आदि दिशाओं का व्यवहार बतलाया गया है। वह इस प्रकार कि कोई पुरुष सूर्य के उदय होने के स्थान अर्थात् उदयाचल से कुछ दूर खड़ा है, उस पुरुष की अपेक्षा जो प्रदेश सूर्याचल से कम दूर है, वह उस पुरुष की दृष्टि से पूर्व कहा जायेगा, और जो उस पुरुष की अपेक्षा सूर्याचल से अधिक दूर है, वह उस पुरुष के लिए पश्चिम कहा जायेगा। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य सुमेरु पर्वत से कुछ दूर

पर खड़ा है तो जो प्रदेश उस पुरुष की अपेक्षा सुमेरु से निकटतर है वह उसके लिए उत्तर और जो प्रदेश उस पुरुष की अपेक्षा सुमेरु पर्वत से अधिक दूर है वह उस पुरुष के लिए दक्षिण कहा जायेगा। इस बात को निम्नलिखित प्रकार से दिखलाया जा सकता है :—
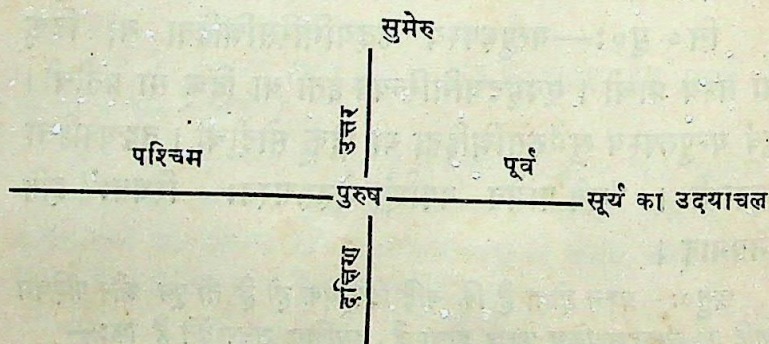
उपर्युक्त रेखा चित्र में यह स्पष्ट है कि जो देश पुरुष की अपेक्षा सूर्य के निकटतर है, वह उस पुरुष की दृष्टि से पूर्व और जो देश दूरतर है वह उस पुरुष की दृष्टि से पश्चिम कहा जायगा। इसी प्रकार किसी पुरुष की अपेक्षा से जो देश सुमेरु के निकटतर है वह उसकी (पुरुष की) दृष्टि से उत्तर और जो देश सुमेरु के दूरतर है वह उसकी दृष्टि से दक्षिण कहा जाता है। यहां यह मान लिया गया है कि सूर्य के उदय होने का स्थान पूर्व दिशा का नियामक है। तथा सुमेरु पर्वत उत्तर दिशा का नियामक है क्योंकि यह बात मानी गई है कि सुमेरु पर्वत सभी देशों की अपेक्षा (जो नौ "वर्ष" [खण्ड] माने गये हैं) उत्तर में स्थित है।

सि० मु०:— आत्मानं निरूपयति—

का० आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम्।

सि० मु०:— आत्मत्वजातिस्तु सुखदुःखादिसमवायि

कारणतावच्छेदकतया सिद्ध्यति । ईश्वरेऽपि सा जातिरस्त्येव । अदृष्टादिरूपकारणाभावान्न सुखदुःखाद्युत्पत्तिः । नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यंभाव इति नियमस्याप्रयोजकत्वात् । परे त्वीश्वरे सा जातिनास्त्येव प्रमाणाभावात् । न च दशम-द्रव्यत्वापत्तिः, ज्ञानवत्त्वेन विभजनादित्याहुः । इन्द्रियादीति । इन्द्रियाणां शरीरस्य च परम्परया चैतन्यसंपादकः । यद्यप्यात्मनि "अहं जाने अहं सुखी" इत्यादिप्रत्यक्षविषयत्वमस्त्येव तथापि विप्रतिपन्नं प्रति प्रथमत एव शरीरादिभिन्नस्तत्प्रतीतिगोचर इति प्रतिपादयितुं न शक्यत इत्यतः प्रमाणान्तरं दर्शयति । करणमिति । कुठारादीनां छिदादिकरणानां कर्त्तारमन्तरेण फलानुपधानं दृष्टम् । एवं चक्षुराद नां ज्ञानकरणानां फलोपधा-नमपि कर्त्तारमन्तरेण नोपपद्यत इत्यतिरिक्तः कर्त्ता कल्प्यते ।

अनु०:—आत्मा का निरूपण किया जाता है—

इन्द्रिय आदि अर्थात् इन्द्रिय और शरीर आदि का अधिष्ठाता (अर्थात् उसको धारण करने वाला या नियन्त्रण करने वाला) आत्मा है । (यह नियम है कि) जो करण होता है वह कर्त्ता की अपेक्षा रखता है ।

(सुख-दुःख आदि की समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में आत्मत्व जाति सिद्ध होती है । वह (आत्मत्व) जाति ईश्वर में भी रहती ही है । (परन्तु) अदृष्ट आदि रूप कारण के न होने से (ईश्वर में) सुख दुःख आदि की उत्पत्ति नहीं होती । नित्य पदार्थ के स्वरूप योग्य होने पर फल अवश्य ही होना चाहिये, यह नियम अप्रयोजक (अनुकूल तर्क से रहित अतएव व्यभिचारी) है । दूसरे लोग कहते हैं कि ईश्वर में वह आत्मत्व जाति नहीं है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं, और न दशम द्रव्य आ

पड़ने का ही दोष होगा क्योंकि 'ज्ञानवत्त्व' नामक उपाधि से द्रव्यों का विभाग किया जायेगा। 'इन्द्रियादि' अंश की व्याख्या करते हैं (आत्मा) इन्द्रियों और शरीर का परम्परा से चैतन्य का उत्पादक है। यद्यपि आत्मा "मैं जानता हूँ मैं सुखी हूं" इत्यादि रूप से प्रत्यक्ष का विषय होता ही है तथापि जिसकी विरुद्ध मति है (अर्थात् जो आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं मानता), उसको पहिले ही यह नहीं बतलाया जा सकना कि शरीरादि से भिन्न आत्मा उस ("मैं जानता हूं, मैं सुखी हूं") प्रतीति का विषय है। इसलिए दूसरा प्रमाण दिखलाते हैं- "करणम्" इत्यादि अंश से। कुठार आदि जो (लकड़ी के) चीरने के साधन हैं वे कर्त्ता के बिना फल को उत्पन्न नहीं करते। इसी प्रकार चक्षु आदि भी जो ज्ञान के कारण हैं, उनका भी कर्त्ता के बिना फल को उत्पन्न करना नहीं बन सकता, इसलिए उनसे भिन्न (अतिरिक्त) कर्त्ता की कल्पना की जाती है।

व्याख्या:—प्रत्येक द्रव्य अपने में रहने वाले गुण का समवायिकारण होता है, इसी प्रकार आत्मा भी सुख दुःख का समवायि कारण है और इस प्रकार सुख दुःख को समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में आत्मत्व जाति सिद्ध हो जाती है। यहां पर 'ज्ञान' न कह कर 'सुख–दुःख' को इसी लिए कहा कि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, इसलिए ज्ञानत्व जाति कार्यता की अवच्छेदक नहीं हो सकती, क्योंकि नित्य ज्ञान के समवायिकारण का प्रश्न ही नहीं उठता। कई लोग यह मानते हैं कि ईश्वर में भी आत्मत्व जाति रहती है; परन्तु आत्मत्व जाति होने के कारण ईश्वर में भी सुख दुःख आदि की उत्पत्ति होनी चाहिये। उसका उत्तर यह है कि ईश्वर में अदृष्ट आदि निमित्त कारण के न होने से सुख दुःख की उत्पत्ति नहीं होती। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जो जिस धर्म के लिए स्वरूपयोग्य है उसमें वह धर्म कभी न कभी अवश्य उत्पन्न होगा। परन्तु यह नियम सर्वथा अव्यभिचारी नहीं है, क्योंकि जल के परमाणु में नित्य स्नेह रहता है, उसमें जन्य स्नेह की योग्यता होने पर भी जन्य स्नेह कभी उत्पन्न नहीं होता। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि ईश्वर

में आत्मत्व जाति होने के कारण सुख दुःख की स्वरूप योग्यता होने पर भी सुख दुःख अवश्य उत्पन्न हों।

कुछ लोग ईश्वर में आत्मत्व जाति नहीं मानते। उनके अनुसार आत्मत्व जाति केवल जीवात्माओं में ही रहती है। परन्तु ऐसी दशा में ईश्वर आत्मा से भिन्न एक पृथक् द्रव्य होगा और इस प्रकार नौ के बदले दस द्रव्य हो जायेंगे। इसका समाधान यह किया गया कि द्रव्यों के विभाग करने में हम आत्मा न डालकर उसके बदले ज्ञानवान् (ज्ञानवत्) एक द्रव्य मानेंगे जो कि जीवात्मा और ईश्वर दो प्रकार का हो जायेगा। इस प्रकार द्रव्य नौ प्रकार के ही रहेंगे।

शरीर और इन्द्रियों में चैतन्य अर्थात् ज्ञानवत्त्व नहीं है। उनमें जो ज्ञानवत्त्व की प्रतीति होती है, वह परम्परा से अर्थात् अवच्छेदकता सम्बन्ध से होती है अर्थात् शरीर और इन्द्रियों से अवच्छिन्न ही आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है, इस प्रकार अवच्छेदकता सम्बन्ध से शरीर और इन्द्रियों में जो ज्ञान की प्रतीति होती है, वह आत्मा के द्वारा ही है। वस्तुतः इन्द्रिय और शरीर जड़ है और ज्ञान रहित हैं।

न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में ज्ञान आदि गुणों से युक्त आत्मा का मानस प्रत्यक्ष माना जाता है, क्योंकि "मैं जानता हूँ, मैं सुखी हूं" इत्यादि प्रतीति में आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है। आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होने के कारण आत्मा को सिद्ध करने के लिए किसी अन्य अनुमान की आवश्यकता नहीं तथापि जो विप्रतिपन्न अर्थात् भ्रमयुक्त है उसको एक साथ ही यह नहीं बतलाया जा सकता कि "मैं ज्ञानी हूं, मैं सुखी हूँ" इत्यादि प्रतीति का विषय शरीर से भिन्न अर्थात् शरीर से अलग कोई आत्मा है, इसलिए आत्मा को सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष से अतिरिक्त दूसरा प्रमाण अर्थात् अनुमान देते हैं और वह अनुमान यह है कि जिस प्रकार कुठार आदि अपना फल अर्थात् लकड़ी का चीरना बिना चीरने वाले कर्ता के नहीं करते, इसी प्रकार चक्षु आदि भी जो ज्ञान के करण हैं, उनको अपने फल अर्थात् ज्ञान के लिए किसी कर्त्ता की अपेक्षा होगी और वह कर्त्ता ही आत्मा है।

आलोचना:—कुछ लोग ईश्वर में आत्मत्व जाति मानते हैं और कुछ नहीं मानते। दोनों दशाओं में जो कठिनता उपस्थित होती है उसका संतोषजनक उत्तर दिखाई नहीं पड़ता। क्योंकि यदि ईश्वर में आत्मत्व जाति है तो जीवात्माओं के समान सुख-दुःख भी होना चाहिये। केवल अदृष्ट के न होने से सुख-दुःख नहीं होते, यह उत्तर सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि आत्मत्व जाति रखने वाला ईश्वर आत्माओं से सर्वथा भिन्न हो, यह बात कैसे हो सकती है? इसी प्रकार यदि उसमें आत्मत्व जाति न मानी जाये, तो ईश्वर एक दशम द्रव्य होगा, यह स्पष्ट ही है। "ज्ञानवत्त्व से विभाग कर लेना" यह बहुत ही असंतोषजनक उत्तर है। वस्तुतः बात यह प्रतीत होती है कि मूलतः न्याय-वैशेषिक शास्त्र में ईश्वर के लिए कोई स्थान न था, क्योंकि उनकी शास्त्रीय प्रक्रिया में ईश्वर कोई आवश्यक अङ्ग नहीं है। परन्तु पीछे जब ईश्वर को न्याय-वैशेषिक दर्शन में लाना आवश्यक समझा गया तो उसको एक विशेष प्रकार का आत्मा मान लिया गया। परन्तु ईश्वर के आत्मा होने के विषय में फिर भी तार्किकों को संदेह बना ही रहा, इसीलिए यह प्रश्न उठा कि ईश्वर में आत्मत्व जाति है या नहीं।

सि० मु०:—ननु शरीरस्यैव कर्तृत्वमस्त्वत आह—

का०—शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः।
तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः ॥४८॥

सि० मु०:—ननु चैतन्यं ज्ञानादिकमेव, मुक्तात्मनां त्वन्मत इव मृतशरीराणामपि तदभावे का क्षतिः,—प्राणाभावेन ज्ञानाभावस्य सिद्धेरिति चेन्न, शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्थाविरे स्मरणानुपपत्तेः, शरीराणामवयवोपचयापचयैरुत्पादविनाशशालित्वात्। न च पूर्वशरीरोत्पन्नसंस्कारेण द्वितीयशरीरे संस्कार उत्पद्यत इति वाच्यम्, अनन्तसंस्कारकल्पने गौरवात्। एवं शरीरस्य चैतन्ये बालकस्य स्तन्यपाने प्रवृत्तिर्नस्यात्,

इष्टसाधनताज्ञानस्य तद्धेतुत्वाच्चदानीमिष्टसाधनतास्मारका- भावात्। मन्मते तु जन्मान्तरानुभूतेष्टसाधनत्वस्य तदानीं स्मरणादेव प्रवृत्तिः। न च जन्मान्तरानुभूतमन्यदपि स्मर्यतामिति वाच्यम्, उद्बोधकाभावात्। अत्र त्वनायत्या जीवनादृष्टमेवोद्बोधकं कल्प्यते। इत्थं च संसारस्यानादितया आत्मनोऽनादित्वसिद्धावनादिभावस्य नाशासम्भवान्नित्यत्वं सिद्ध्यतीति बोध्यम्। ननु चक्षुरादीनामेव ज्ञानादिकं प्रति करणत्वं कर्तृत्वं चास्तु, विरोधे साधकाभावादत आह–तथा- त्वमिति। चैतन्यमित्यर्थः। उपघाते–नाशे सति अर्थाच्चक्षुरा- दीनामेव। कथमिति। पूर्वं चक्षुषा साक्षात्कृतानां चक्षुषोऽभावे स्मरणं न स्यात्, अनुभवितुरभावात्। अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणासम्भवात्। अनुभवस्मरणयोः सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावादिति भावः।

अनु०:—प्रश्न होता है कि शरीर को ही कर्त्ता क्यों न माना जाए, इसलिए उत्तर देते हैं —

शरीर की चेतनता नहीं हो सकती क्योंकि मृत शरीरों में उसका व्यभिचार है (अर्थात् चेतनता नहीं पाई जाती)। और यदि इन्द्रियों का वह धर्म (चेतनता) माना जाए तो (इन्द्रियों का) नाश होने पर स्मृति कैसे होगी ?

प्रश्न यह होता है कि क्योंकि चैतन्य ज्ञान (इच्छा आदि को ही कहते हैं) और जिस प्रकार तुम्हारे (न्याय-वैशेषिक) मत में मुक्त आत्माओं में (ज्ञान इच्छा आदि नहीं रहते) उसी प्रकार मृत शरीरों में भी ज्ञान आदि के अभाव (के मानने) में क्या क्षति होगी, क्योंकि प्राणों के अभाव से ज्ञान

का अभाव हो जाता है। (उत्तर देते हैं कि) यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि शरीर में यदि चैतन्य माना जाए तो 'बाल्यावस्था में देखी हुई बात का बुढ़ापे में स्मरण नहीं बन सकता, क्योंकि शरीर अवयवों के बढ़ने और घटने से उत्पत्ति और विनाश स्वभाव वाले होते हैं। और न यह कहा जा सकता है कि पूर्व पूर्व शरीर में उत्पन्न संस्कारों से उत्तरोत्तर शरीरों में संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं क्योंकि इस प्रकार अनन्त संस्कारों की कल्पना का गौरव होगा। इसी प्रकार शरीर में ही चैतन्य मानने से बालक की स्तन से दूध पीने में प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि (किसी वस्तु के विषय में उसके) अभीष्ट साधन होने का ज्ञान प्रवृत्ति का कारण होता है और उस समय अभीष्ट साधनता के स्मारक का अभाव है। मेरे (न्याय-वैशेषिक) मत में तो पूर्व जन्म में अनुभव की गयी इष्ट साधनता के उस समय स्मरण हो जाने से (स्तन के दूध में) प्रवृत्ति हो जाती है। यह भी शङ्का नहीं करनी चाहिए कि जन्मान्तर में अनुभूत अन्य बात का भी स्मरण होना चाहिए, क्योंकि (अन्य बात के स्मरण कराने का) उद्बोधक नहीं होता। यहां तो और कोई उपाय न होने से जीवन का अदृष्ट ही उद्बोधक माना जाता है। इस प्रकार संसार के अनादि होने से आत्मा का भी अनादित्व सिद्ध हो जाता है, और अनादि भावपदार्थ का नाश असम्भव है, इसलिए आत्मा का नित्यत्व सिद्ध हो जाता है। यह प्रश्न हो सकता है कि चक्षु आदि इन्द्रियों को ही ज्ञान के प्रति करण और कर्त्ता दोनों क्यों न मान लिया जाय, क्योंकि इसके विरोध में कोई साधक युक्ति नहीं है; इसलिए 'तथात्वम्' इत्यादि अंश से उत्तर देते हैं। 'तथात्व' का अर्थ है चैतन्य; 'उपघात' का अर्थ है नाश। अर्थात् चक्षु आदि के ही (नाश होने पर) स्मृति कैसे होगी? 'कथम्' इत्यादि अंश की व्याख्या करते हैं। चक्षु से पहले प्रत्यक्ष किये हुये विषयों का चक्षु के अभाव में स्मरण नहीं होगा, क्योंकि (उस दशा में) अनुभव करने वाले (चक्षु) का ही अभाव है। (क्योंकि) अन्य से अनुभव किये गये का अन्य के द्वारा स्मरण सम्भव नहीं। कारण यह है कि समान आश्रय में रहने वाले

अनुभव और स्मरण का ही कार्य-कारण भाव होता है ।

व्याख्याः— यहां चार्वाक का मत उठा कर उसका खण्डन किया गया है। चार्वाक शरीर को ही आत्मा मानता है। शरीर को आत्मा मानने पर यह आपत्ति हो सकती है कि मृत अवस्था में शरीर बना रहता है फिर चैतन्य क्यों नहीं रहता ? इस पर चार्वाक उत्तर देता है कि न्याय-वैशेषिक के मत में भी यह माना जाता है कि मुक्त अवस्था में आत्मा में चैतन्य नहीं रहता, उसी प्रकार हमारे यहां भी मृत अवस्था में शरीर में चैतन्य का अभाव मान लिया जायगा, क्योंकि प्राणाभाव जैसे न्याय-वैशेषिक के मत में मुक्त दशा में ज्ञान के अभाव का कारण है, इसी प्रकार हमारे मत में भी प्राणाभाव ही मृत शरीर में ज्ञानाभाव का कारण हो जायगा। इसका उत्तर यह दिया गया कि यदि शरीर को चैतन्य माना जाय तो शरीर तो अवयवों के बढ़ने या घटने से लगातार उत्पन्न होता और विनष्ट होता रहता है अर्थात् बाल्यावस्था में जो शरीर था, वह शरीर युवावस्था या बुढ़ापे में नहीं रहा, प्रत्युत सर्वथा दूसरा ही शरीर उत्पन्न हो गया । इसलिए बाल्यकाल में अनुभव की हुई बात का युवावस्था या बुढ़ापे में स्मरण नहीं होगा। और यदि यह कहा जाय कि पहले शरीर में उत्पन्न संस्कार अगले शरीर में चले जायेंगे तो शरीर तो लगातार बदलता रहता है और लगातार पहले पहले शरीर के संस्कार अगले अगले शरीर में उत्पन्न होने से अनन्त सस्कारों की कल्पना करनी पड़ेगी और इसमें बहुत गौरव होगा ।

आलोचनाः— यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो न्याय-वैशेषिक के कार्य-कारण-भाव के सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु में उपचय और अपचय अर्थात् वृद्धि और ह्रास हो ही नहीं सकते, क्योंकि एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु के संयोग होने को तो वृद्धि और ह्रास कहा नहीं जा सकता। वृद्धि या ह्रास का अर्थ हैः— आरम्भक अवयवों का बढ़ना या घटना, परन्तु यह स्पष्ट है कि यदि एक भी आरम्भक अवयव बढ़ेगा या एक भी घटेगा तो यह आवश्यक होगा कि पहले अवयवों का संयोग नष्ट हो जाय और नये कम या अधिक अवयवों का नए सिरे से संयोग हो। इसलिये

यह माना गया है कि जब तन्तुओं के संयोग से कपड़ा बनता है तो प्रथम दो तन्तुओं का संयोग होता है। फिर उसके बाद जब तीसरे तन्तु का संयोग होने लगता है, तब पहले दोनों तन्तुओं का आरम्भक संयोग (अर्थात् पट को बनाने वाला संयोग) नष्ट हो जाता है, और फिर तीनों तन्तुओं का पट का आरम्भक नया संयोग उत्पन्न होता है।

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में दो तन्तुओं से बना हुआ अवयवी जब नष्ट हो जाता है तब तीन तन्तुओं से बना हुआ एक नया अवयवी उत्पन्न होता है। फलतः किसी अवयवी के रहते रहते उसके अवयव न बढ़ सकते और न घट सकते हैं। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में उपचय और अपचय जैसी कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। जहां कहीं उपचय और अपचय प्रतीत होता है, वहां यह मानना पड़ेगा कि एक अवयवी (वस्तु) नष्ट होकर उसकी जगह दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है। और शरीर में उपचय या अपचय प्रत्येक क्षण दिखलाई देता है, इसलिए न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त के अनुसार शरीर या प्रत्येक सजीव (Organic) वस्तु प्रत्येक क्षण बदलती रहती है, यह मानना पड़ेगा, और इस प्रकार जहां तक सजीव वस्तुओं का प्रश्न है न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त लगभग बौद्ध सिद्धान्त के समीप पहुँच जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय-वैशेषिक शास्त्र के लेखकों ने अपने सिद्धान्त के इस पहलू पर पूरी तरह से ध्यान नहीं दिया अथवा न्याय-वैशेषिक के अनुसार बाल्यावस्था का शरीर युवावस्था में बदलता है। इतना ही नहीं है, प्रत्युत शरीर प्रत्येक क्षण बदलता है, अतएव चार्वाक के विरुद्ध यह शङ्का न करनी चाहिए थी कि बाल्यकाल में देखे का बुढ़ापे में स्मरण नहीं होगा, प्रत्युत यह शङ्का करनी चाहिए थी कि यदि शरीर का चैतन्य मान लिया जाए तो स्मरण सर्वथा ही असम्भव होगा क्योंकि शरीर तो प्रत्येक क्षण पूर्व पूर्व के नष्ट होने पर नया नया बनता रहेगा।

प्राचीन न्याय-वैशेषिक के आचार्यों ने इस विषय को कुछ अधिक सूक्ष्म-

दृष्टि से देखा था, इसलिए 'कन्दलीकार' श्रीधर ने बहुत विशद रूप से यह बतलाया है कि गर्भावस्था में नये नये अवयवों के आने के कारण शरीर लगातार *प्रतिदिन* बदलता रहता है, (देखो कन्दली, विजयानगरम संस्कृत सीरीज़ पृष्ठ ३३–३४), परन्तु कन्दलीकार भी अन्तिम निष्कर्ष तक नहीं पहुंचे, क्योंकि *प्रतिदिन* के बदले प्रतिक्षण ही कहना चाहिए था; और गर्भावस्था के शरीर के बदले प्रत्येक सजीव वस्तु का, जैसा कि ऊपर कहा गया, प्रतिक्षण नष्ट होना और उत्पन्न होना मानना पड़ेगा।

यहां एक और बात भी ध्यान देने योग्य है कि शरीर का बदल बदल कर नया होना, यह तो न्याय-वैशेषिक का अपना सिद्धान्त है और उस सिद्धान्त को चार्वाक के सिद्धान्त पर आपत्ति उठाने के लिए कहां तक काम में लाया जा सकता है।

व्याख्या:—शरीर के चैतन्य मानने में दूसरा दोष यह दिखाया गया कि यदि शरीर को ही चेतन या ज्ञानवान् मानें, तो तत्काल उत्पन्न हुए बालक की स्तनपान में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि प्रवृत्ति तभी हो सकती है जब बालक को दूध के अभीष्ट साधन होने का ज्ञान हो और यदि शरीर को ही ज्ञानयुक्त माना जाए तो तत्काल उत्पन्न शरीर में अभीष्ट साधनता का ज्ञान हो ही नहीं सकता। परन्तु आत्मा का चैतन्य मानने वालों के मत में पूर्व जन्म के स्मरण से अभीष्ट साधनता का ज्ञान होना सम्भव हो सकता है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि पूर्व जन्म की अन्य बातों का स्मरण क्यों नहीं होता, उसका उत्तर यह दिया कि स्मरण की प्रक्रिया में यह माना जाता है कि किसी पदार्थ के अनुभव के बाद उस अनुभव के संस्कार रह जाते हैं और फिर उन संस्कारों को जगाने वाले (उद्बोधक) के आने से वे संस्कार स्मरण को उत्पन्न करते हैं। यहां पर दूध को अभीष्ट साधनता के स्मरण के लिये जीवन का अदृष्ट एक बलवान् उद्बोधक माना जा सकता है क्योंकि विना उस उद्बोधक के बालक का जीवन ही सम्भव न होगा। परन्तु पूर्व जन्म की अन्य बातों के स्मरण कराने के लिए कोई ऐसा उद्बोधक नहीं होता, इसलिए उनका स्मरण नहीं होगा। इस प्रकार ज्ञान का आश्रय आत्मा को

मानना आवश्यक है। और क्योंकि यह संसार अर्थात् जन्म मरण का प्रवाह अनादिकाल से चला आता है, अतः आत्मा भी अनादि होगा, और अनादि भाव पदार्थ का नाश नहीं हो सकता अतएव आत्मा नित्य सिद्ध होता है। यहां पर "भाव पदार्थ" इसलिए कहा कि अभाव पदार्थ अर्थात् प्रागभाव जो कि अनादि है उसका अन्त हो जाता है अर्थात् प्रागभाव अनादि और सान्त माना जाता है। (देखो अभाव प्रकरण पृ० ७०)।

आलोचना:— यदि यह मान लिया जाए कि नवजात बालक की उत्पन्न होने के साथ ही स्तन के दूध में स्वयमेव प्रवृत्ति होती है तो यह बात न केवल आत्मा की साधक होगी प्रत्युत पुनर्जन्म को भी सिद्ध कर देगी। परन्तु प्रश्न यही है कि यह बात कहां तक ठीक है ? सम्भवतः ऐसा होता है कि नवजात बालक की स्तन के दूध में पहली प्रवृत्ति स्वयं नहीं होती प्रत्युत किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा कराई जाती है और उसके बाद अभीष्ट साधनता का स्मरण होने से अगली प्रवृत्ति स्वयमेव होने लगती है। जो कुछ भी हो, यह बात विचारणीय है।

व्याख्या:— इसके बाद यह प्रश्न उठाया गया है कि इन्द्रियों को ही चेतन क्यों न मान लिया जाये अर्थात् उनको 'करण' और 'कर्त्ता' दोनों ही माना जाये। इसका उत्तर यही दिया गया है कि चक्षु से अनुभव की हुई बात का स्मरण चक्षु के नष्ट हो जाने पर भी होता है। और यदि चक्षु द्वारा अनुभव के रूप में हुए ज्ञान का आश्रय चक्षु ही हो तो चक्षु के नष्ट होने पर उस अनुभव की स्मृति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि अनुभव और स्मरण का कार्य कारण भाव है अर्थात् अनुभव कारण है और स्मरण कार्य है, इस लिये यह भी आवश्यक है कि दोनों का, अर्थात् अनुभव और स्मरण का अधिकरण अर्थात् आश्रय समान अर्थात् एक ही होना चाहिये।

सि० मु०:—ननु चक्षुरादीनां चैतन्यं मास्तु मनसस्तु नित्यस्य चैतन्यं स्यादत आह :—

का०-मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत्।

सि० मु०:—मनोऽपीति। न तथा —न चेतनम्। ज्ञानादीति। मनसोऽणुत्वात्प्रत्यक्षे च महत्त्वस्य हेतुत्वान्मनसि ज्ञान-सुखादिसत्त्वे तत्प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यर्थः। यथा मनसोऽणुत्वं तथा वक्ष्यते।

अनुवादः—प्रश्न होता है कि यद्यपि चक्षु आदि का चैतन्य नहीं परन्तु मनस् का जो कि नित्य है चैतन्य हो सकता है, इसीलिए कहा :—

मनस् भी वैसा (अर्थात् चेतन) नहीं हो सकता क्योंकि उस दशा में ज्ञान आदि का प्रत्यक्ष नहीं होगा।

'मनोऽपि' इत्यादि इस अंश की व्याख्या की जाती है। "न तथा" इसका अर्थ है कि (मनस्) चेतन नहीं है। अब "ज्ञानादि" अंश की व्याख्या करते हैं। मनस् के अणुपरिमाण वाला होने और प्रत्यक्ष में महत्परिमाण (महत्त्व) के हेतु होने से यदि मनस् में ज्ञान सुख आदि का होना माना जाय तो उनका प्रत्यक्ष नहीं बन सकेगा। मनस् का अणुपरिमाण क्यों है- वह आगे (का० ८५ में) बताया जायेगा।

व्याख्याः—यदि मनस् का ही गुण चैतन्य या ज्ञान माना जाए तो ज्ञान का प्रत्यक्ष न होगा, क्योंकि 'मनस्' अणु परिमाण माना गया है, आगे जाकर का० ८५ में बताया गया है कि यदि मनस् का महत्परिमाण माना जाए तो एक समय में अनेक ज्ञान होंगे। यह नियम है कि एक समय में एक ही इन्द्रिय से एक ही ज्ञान होता है और इसका कारण यह माना गया है कि 'मनस्' अणु परिमाण वाला होने से वह एक समय में एक ही इन्द्रिय से सम्बद्ध हो सकता है। यदि 'मनस्' महत् परिमाण वाला हो तो मनस् के 'नित्य' होने के कारण 'परम महत्परिमाण' ही मानना पड़ेगा क्योंकि नित्य वस्तु का या तो 'अणु' परिम'ण हो सकता है या परम महत्परिमाण, ऐसी दशा में यदि अणु परिमाण न हो तो परम महत्परिमाण होगा, और यदि परम महत्परिमाण हो तो मनस् का एक ही समय में अनेक इन्द्रियों से

सम्बन्ध हो सकता है और उस दशा में अनेक इन्द्रियों से अनेक ज्ञान एक साथ हो सकेंगे। परन्तु अनेक ज्ञान एक साथ होते नहीं इसलिये मनस् का अणुपरिमाण मानना पड़ेगा। और उस दशा में 'मनस्' का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि किसी वस्तु के प्रत्यक्ष होने में उसमें 'महत्परिमाण' को कारण माना गया है। और जब 'मनस्' का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता तो मनस् के धर्म ज्ञान का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा, और क्योंकि ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, इसलिये ज्ञान को 'मनस्' का गुण नहीं माना जा सकता।

विज्ञानवाद का खण्डन

सि० मु० :—नन्वस्तु विज्ञानमेवात्मा, तस्य स्वतः प्रकाशरूपत्वाच्चेतनत्वम्, ज्ञानसुखादिकन्तु तस्यैवाकारविशेषः। तस्यापि भावत्वादेव क्षणिकत्वं पूर्वपूर्वविज्ञानस्योत्तरोत्तरविज्ञाने हेतुत्वात् सुषुप्तावप्यालयविज्ञानधारा निराबाधैव, मृगमदवासना-वासितवसन इव पूर्वपूर्वविज्ञानजनितसंस्काराणामुत्तरोत्तरविज्ञाने संक्रान्तत्वान्नानुपपत्तिः स्मरणादेरिति चेत्—

अनुवादः—यह शङ्का की जाय कि विज्ञान ही को क्यों न आत्मा माना जाय, क्योंकि उस (विज्ञान) के स्वयं प्रकाश स्वरूप होने से उस (विज्ञान) की चेतनता (सिद्ध हो जाती) है। ज्ञान और सुख आदि भी उसी (विज्ञान) के विशेष आकार हैं। और उस विज्ञान के भाव पदार्थ होने से ही उसकी क्षणिकता सिद्ध होती है। पहिले पहिले विज्ञान के अगले २ विज्ञान में हेतु होने से गाढ निद्रा (सुषुप्ति) की अवस्था में भी 'आलय विज्ञान' (देखो व्याख्या) की धारा विना किसी प्रकार की वाधा के (लगातार) चलती रहती है, और कस्तूरी की सुगन्ध से सुगन्धित वस्त्र के समान पहिले पहिले विज्ञान से उत्पन्न संस्कारों के अगले २ विज्ञान में चले जाने से स्मरण आदि के भी न बन सकने का दोष (अनुपपत्ति) नहीं आता।

व्याख्याः— विज्ञानवादी योगाचार का सिद्धान्त है कि जो कुछ हमें बाह्य जगत् में दिखाई देता है, उसका बाह्य अस्तित्व नहीं, वह केवल हमारे विज्ञान का ही रूप है, अर्थात् जब हमें अपने सामने एक 'घट' की प्रतीति होती है, तो घट कोई भौतिक बाह्य वस्तु नहीं, प्रत्युत वह हमारे ज्ञान का ही आकार बाह्य-रूपेण प्रतीत होता है, पाश्चात्य दर्शन में बर्कले का सिद्धान्त इससे मिलता जुलता है, दोनों का मूल तत्त्व यही है कि जैसे कल्पनात्मक या स्मरणात्मक ज्ञान में विना बाह्य वस्तु के वस्तु का आकार दीखता है उसी प्रकार बाह्य प्रत्यक्ष में भी वस्तु दीखती है अन्तर केवल इतना है कि पहिले ज्ञान में वस्तु बाह्यरूपेण नहीं दीखती और दूसरे में बाह्यरूपेण दीखती है। यह ज्ञान का स्वभाव है कि वह अपने साथ बाह्य-वस्तु के रूप में आकार भी उपस्थित कर देता है। परन्तु जब हम 'यह घट है' ऐसा बाह्य प्रत्यक्ष करते हैं, तो वह भी हमारा ज्ञान-मात्र ही है, हम अपने ज्ञान से बाहर नहीं जा सकते, हमारे ज्ञान के अतिरिक्ति और कोई बाह्य-वस्तु नहीं है, जिसे हम बाह्य-वस्तु कहते हैं, वह ज्ञान का ही आकार है।

एक प्रश्न विज्ञान-वाद के सामने सदैव रहा है कि यदि बाह्य वस्तु नहीं तो स्मरणात्मक और प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में स्पष्ट अन्तर क्यों दिखाई देता है, प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में यह प्रतीति कि हम एक बाह्य वस्तु को स्पष्ट रूप से देख रहे हैं, क्योंकर होती है, और यह प्रतीति स्मरणात्मक ज्ञान में नहीं पाई जाती। साथ ही स्मरणात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष की अपेक्षा कुछ अस्पष्ट सा होता है, दोनों प्रकार के ज्ञान में एक और भी अन्तर पाया जाता है, स्मरणात्मक ज्ञान हमारी इच्छा के अधीन होता है, हम चाहें तो स्मरण न भी करें; परन्तु प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं, जब आँख या दूसरी इन्द्रियें काम करती हैं तो वस्तु का प्रत्यक्ष होना, हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं होता प्रत्युत स्वत एव होता है, यह अन्तर क्यों है ? बर्कले का उत्तर था कि हमारे मनस् के अतिरिक्त एक विश्व का व्यापक 'मनस्' भी है जिसे हम ईश्वर कहते हैं। स्मरणात्मक ज्ञान हमारे अपने 'मनस्' पर ही

निर्भर हैं, इसलिए उनका होना हमारी अपनी इच्छा पर निर्भर है। परन्तु प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हमारे 'मनस्' के अन्दर ईश्वर के मनस् द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। उनके विषय में हम स्वाधीन नहीं हैं, इसलिए प्रत्यक्षात्मक ज्ञान बाहर से आते से प्रतीत होते हैं, और क्योंकि वे एक बड़े मनस् के द्वारा हमारे मनस् में उत्पन्न किये गये हैं, इसलिए वे स्मरणात्मक ज्ञान की अपेक्षा अधिक स्फुट (vivid) भी प्रतीत होते हैं। इसी प्रश्न का उत्तर योगाचार विज्ञान-वादी इस प्रकार देता है कि हमारे स्मरणात्मक ज्ञान इसी जन्म में हुये हमारे प्रत्यक्षात्मक अनुभवों की वासना पर निर्भर हैं। परन्तु प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हमारी अनादि वासना अर्थात् बाह्य वस्तुओं के विषय में अनादिकाल से चले आने वाले संस्कार पर निर्भर हैं। हमारे पहिले जन्मों में बाह्य-वस्तुओं का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हुआ है, उसी के अनुसार इस जन्म में भी हमें प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है, यह प्रवाह अनादि काल से चला आता है, इसलिये यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि हमारा किसी बाह्य वस्तु का पहिला प्रत्यक्षात्मक ज्ञान *साक्षात् रूप से* उस बाह्य वस्तु को देखकर ही हुआ होगा, क्योंकि जैसे कि बीज और वृक्ष का एक दूसरे से उत्पन्न होने का अनादि प्रवाह चला आता है, उसके विषय में यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि पहिला बीज कैसे उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार यहां भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमारा पहिला प्रत्यक्षात्मक ज्ञान किसी वस्तु के साक्षात् विद्यमान होने पर ही हो सकता था।

यह 'ज्ञान' क्षणिक है और ज्ञानों की लगातार धारा के अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है, अलग अलग होने वाले विज्ञान ही आत्मा का स्वरूप हैं। 'विज्ञान' और 'ज्ञान' में बौद्ध दर्शन में कई बार अन्तर किया जाता है, और कई बार नहीं। यहां पर विज्ञान शब्द सामान्य रूपेण चैतन्य या ज्ञान के लिये प्रयुक्त किया गया प्रतीत होता है और घट पट आदि के विशेष ज्ञानों को यहां 'ज्ञान' कहा गया है, क्योंकि यह कहा गया है कि 'ज्ञान' 'सुख' आदि उसी विज्ञान के आकार विशेष हैं। विज्ञानवाद में 'विज्ञान' के दो रूप माने गये हैं, एक तो 'घट' 'पट' आदि के अलग अलग ज्ञान जिनको

'प्रवृत्ति विज्ञान' शब्द से कहा गया है अर्थात् क्षणिक विज्ञानों या विशेष प्रकार के विज्ञानों की धारा, और दूसरा 'आलय विज्ञान' कहा गया है। प्रत्येक विज्ञान के साथ 'अहम्' (मैं) का ज्ञान होता है। प्रत्येक ज्ञान के साथ जो 'मैं' के रूप में 'आलय विज्ञान' होता है उसके अतिरिक्त कोई स्थिर आत्मा बौद्धमत में नहीं है।

यहां यह बतलाया गया है कि ज्ञान क्षणिक है, क्योंकि वह 'भाव' पदार्थ है। बौद्ध दर्शन में क्षणिकत्व सिद्धि की मुख्य युक्ति 'भाव रूप' होना अर्थात् सत्तावाला होना ही है। बौद्ध-दर्शन में यह व्याप्ति दिखाई गई है कि जो जो पदार्थ सत् हैं वे अवश्य क्षणिक होंगे। किसी पदार्थ के 'भावरूप' या 'सत्' होने का अर्थ है— उसका 'अर्थ क्रियाकारी होना' अर्थात् किसी कार्य को कर सकना। बीज अङ्कुर को जिस क्षण में उत्पन्न करता है यदि उससे पहिले भी बीज का अस्तित्व माना जाय तो प्रश्न यह होगा कि उसने पहिले क्षण में ही बीज को उत्पन्न क्यों नहीं किया, न्याय-वैशेषिक का कथन है कि क्षिति जल तेजस् आदि सहकारियों के न होने से बीज ने पहिले अङ्कुर उत्पन्न नहीं किया, यद्यपि स्वयं वह बीज पहिले से ही विद्यमान था। बौद्ध इस पर प्रश्न उठाता है कि क्षिति जल आदि सहकारी क्या बीज में कोई 'अतिशय' (विशेषता) उत्पन्न कर देते हैं? यदि नहीं करते तो उनका सहकारित्व व्यर्थ है, और यदि करते हैं तो वह 'अतिशय' बीज से भिन्न है या अभिन्न है। यदि भिन्न है तो बीज पर उस अतिशय का कोई असर नहीं पड़ सकता क्योंकि वह अतिशय बीज से भिन्न ही है, और बीज पूर्ववत् ही विद्यमान है और पूर्ववत् ही वह अङ्कुर के उत्पन्न करने में असमर्थ ही होगा, इसलिये यह कहना ही पड़ेगा कि इस नये उत्पन्न हुए 'अतिशय' ने ही अङ्कुर उत्पन्न किया है न कि बीज ने। और यदि यह 'अतिशय' बीज से अभिन्न है अर्थात् बीज ही है तो बीज पहिले से ही विद्यमान था, अतिशय के आने से कुछ अन्तर तो हुआ नहीं, तो फिर बीज ने अबतक अङ्कुर क्यों उत्पन्न नहीं किया था। इस प्रकार बौद्ध यह सिद्ध करता है कि अङ्कुर को उत्पन्न करने वाला

बीज अङ्कुर को न उत्पन्न करने वाले बीज से भिन्न वस्तु है और वह बीज जिस क्षण में उत्पन्न होता है उसी क्षण में अङ्कुर को उत्पन्न कर देता है अर्थात् अङ्कुर को उत्पन्न करने वाला बीज जो कि अर्थक्रियाकारी होने से सत् है वह केवल अङ्कुर को उत्पन्न करने के क्षण में था न उससे पहिले और न उससे बाद में उस का अस्तित्व सम्भव है। इसलिये वह बीज क्षणिक है। उससे पहिले क्षण के बीज ने अपने अगले क्षण के बीज को उत्पन्न किया और वह इस प्रकार अर्थक्रियाकारी अर्थात् 'सत्' होता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु जिस क्षण में अपने कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होती है उसी क्षण में उसका अस्तित्व होता है उससे पहिले और पीछे नहीं। पहिले और पीछे उसी वस्तु के समान क्षण होते हैं जो अपने से अगली २ वस्तु को उत्पन्न करते हैं और इस प्रकार उस वस्तु की 'सन्तान' (continuity) या धारा बनी रहती है। परन्तु प्रत्येक वस्तु एक ही क्षण रहती है, क्योंकि उसके अस्तित्व का अर्थ है अपने अगले कार्य को उत्पन्न करना और अगले कार्य को उत्पन्न करने का (ऊपर दी गई युक्ति के अनुसार) एक ही क्षण हो सकता है। अगला और पिछला नहीं; इसलिये वस्तु के 'सत्' होने का अर्थ ही यह है कि वह क्षणिक है। और क्योंकि ज्ञान भी 'भाव' पदार्थ अर्थात् 'सत्' है, इसलिये ज्ञान भी क्षणिक है।

इसके बाद यह बतलाया गया कि पहिला विज्ञान अगले विज्ञान को उत्पन्न करता है, इस प्रकार प्रत्येक शरीर के साथ लगी हुई विज्ञानधारा लगातार चलती रहती है। परन्तु इसमें कठिनता यह उपस्थित होती है कि सुषुप्ति में यह विज्ञानधारा समाप्त हो जानी चाहिए क्योंकि सोते समय तो पहिले २ ज्ञान से होने वाला अगला ज्ञान होता नहीं। यद्यपि स्वप्न में ज्ञान रहता है, परन्तु सुषुप्ति अर्थात् 'गाढ निद्रा' में तो कोई ज्ञान होता नहीं, अर्थात् सुषुप्ति से पहिले का क्षण का ज्ञान अगले क्षण में ज्ञान उत्पन्न नहीं करता, इसका यह उत्तर दिया कि 'घट' 'पट' आदि का ज्ञान जिसे प्रवृत्तिविज्ञान कहा गया है वह सुषुप्ति में नहीं रहता, यह ठीक है, परन्तु 'आलय विज्ञान' अर्थात् ''मैं हूं'' इस प्रकार के ज्ञान की धारा सुषुप्ति में

भी बनी रहती है, क्योंकि पहिला २ आलय विज्ञान (अहम् का ज्ञान अगले २ आलय विज्ञान को सुषुप्ति में भी उत्पन्न करता ही रहता है। इस प्रकार 'आलय विज्ञान' की धारा के सुषुप्ति में भी बने रहने से ज्ञान की धारा सुषुप्ति में भी समाप्त नहीं होती।

क्षणिकविज्ञानवाद के विरुद्ध एक आपत्ति यह प्रस्तुत की जाती है कि जब कोई स्थिर आत्मा नहीं है जिसमें पहिले २ ज्ञान का संस्कार रहे तो क्षणिकविज्ञानवाद में 'स्मरण' का होना कैसे बन सकेगा। क्योंकि 'स्मरण' तभी हो सकता है जबकि देखने वाली कोई स्थिर वस्तु हो और उस स्थिर वस्तु में देखने का संस्कार पड़े, और उस संस्कार के द्वारा देखे हुए का स्मरण हो। इसका उत्तर बौद्ध यह देता है कि पहिले विज्ञान का संस्कार अगले विज्ञान में चला जाता है और वही संस्कार क्रमशः अगले अगले विज्ञान में जाता रहता है। उदाहरण दिया गया कि जैसे किसी कपड़े में यदि कस्तूरी रक्खी हो तो उसकी सुगन्ध साथ वाले कपड़े में और फिर उससे अगले कपड़े में, इसी प्रकार लगातार एक कपड़े से दूसरे में चली जाती है। इसी प्रकार यहां भी यह मान लिया जाय कि एक विज्ञान का संस्कार दूसरे विज्ञान में और फिर उससे अगले विज्ञान में, और इसी प्रकार क्रमशः अगले २ विज्ञानों में चलता चला जायगा। इस प्रकार पहिले पहिले विज्ञान के संस्कार के अगले २ विज्ञान में जाने से विज्ञानवाद में स्मरण भी बन जायगा और उसके लिये स्थिर आत्मा मानने की आवश्यकता नहीं। इस पर न्याय-वैशेषिक उत्तर देता है: —

न, तस्य जगद्विषयकत्वे सर्वज्ञत्वापत्तिः, यत्किञ्चिद्विषयकत्वे विनिगमनाविरहः। सुषुप्तावपि विषयावभासप्रसङ्गाच्च, ज्ञानस्य सविषयत्वात्। तदानीं निराकारा चित्सन्ततिरनुवर्तत इति चेन्न, तस्याः स्वप्रकाशत्वे प्रमाणाभावात्। अन्यथा घटादीनामपि ज्ञानत्वापत्तिः। न चेष्टापत्तिर्विज्ञानव्यतिरिक्त-

वस्तुनोऽभावादिति वाच्यम्, घटादेरनुभूयमानस्यापलपितुमशक्यत्वात्। आकारविशेष एवायं विज्ञानस्येति चेत्, किमयमाकारोऽतिरिच्यते विज्ञानात्तर्हि समायातं विज्ञानव्यतिरिक्तेन, नातिरिच्यते चेत्तर्हि समूहालम्बने नीलाकारोऽपि पीताकारः स्यात्। स्वरूपतो विज्ञानस्याविशेषात्। अपोहरूपो न लत्वादि विज्ञानधर्म इति चेन्न, नीलत्वादीनां विरुद्धानामेकस्मिन्नसमावेशात्। इतरथा विरोधावधारणस्यैव दुरुपपादत्वात्।

(उपर्युक्त प्रकार से विज्ञानवाद का सिद्धान्त) ठीक नहीं, क्योंकि उस ज्ञान को यदि सर्वजगद्विषयक माना जाय तो (विज्ञान रूप में माने हुए आत्मा के) सर्वज्ञ होने की आपत्ति होगी, और यदि उस (ज्ञान) को विशेष २ वस्तु विषयक माना जाय तो (उसको एक वस्तु विषयक किस प्रकार माना जाए इसके लिए) निर्णायक युक्ति (विनिगमना) न मिल सकेगी, और सुषुप्ति में भी विषयों का ज्ञान होना आपड़ेगा, क्योंकि ज्ञान सविषय ही होता है। (यदि यह कहा जाय कि) उस समय (आलय विज्ञान की धारा विषय के आकार से रहित ही चलती रहती है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि उस (आलय विज्ञान-धारा) के (विना विषय के) स्वयंप्रकाशयुक्त होने में कोई प्रमाण नहीं है। यदि ऐसा न हो तो घट आदि को भी (स्वयं प्रकाश) ज्ञान क्यों न मान लिया जाए। यदि (बौद्धों की ओर से कहा जाय कि यह बात (घट के स्वयं प्रकाश ज्ञान होने की बात हमें अभीष्ट ही है, क्योंकि विज्ञान से अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं, तो यह बौद्ध) का कथन) ठीक नहीं, क्योंकि 'घट' आदि पदार्थ जिनका (साक्षात्) अनुभव हो रहा है उनके अस्तित्व का लोप (अपलाप) नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि यह (घट आदि पदार्थ उनके) विज्ञान का ही विशेष आकार है तो प्रश्न यह होता है कि क्या यह आकार विज्ञान से अतिरिक्त अर्थात् भिन्न वस्तु) है? (यदि आकार विज्ञान से भिन्न है तो)

विज्ञान से भिन्न (बाह्य) वस्तु का होना सिद्ध हो गया । और (यदि यह आकार) विज्ञान से भिन्न नहीं तो समूहालम्बन ज्ञान (अर्थात् नील एवं पीत का एक साथ होने वाले ज्ञान) में 'नील' आकार भी 'पीत' आकार हो जायेगा, क्योंकि (ज्ञान में) स्वरूप से कोई अन्तर (विशेष) नहीं । यदि यह कहा जाय कि (बौद्ध सिद्धान्त में माना हुआ 'अपोह' (अतद्‌व्यावृत्ति रूप जाति) 'नीलत्व' आदि विज्ञान के धर्म माने जाते हैं (इस प्रकार नील और पीत का अन्तर बना रहेगा) तो (यह ठीक नहीं क्योंकि) नीलत्व आदि (अर्थात् नीलत्व पीतत्व आदि) विरुद्ध धर्मों का एक वस्तु में रहना (समावेश) सम्भव नहीं । यदि यह बात न मानी जाय तो 'विरोध' का निश्चय ही कहीं न हो सकेगा ।

व्याख्या:—न्याय-वैशेषिक विज्ञानवादी योगाचार के विरुद्ध सबसे पहिले यह आपत्ति उठाता है कि जब संसार में कोई बाह्य वस्तु है ही नहीं जिसके कारण उसी वस्तु का ज्ञान हो, तो एक साथ हमें संसार के सारे ही पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं हो जाता और इस प्रकार हम सर्वज्ञ क्यों नहीं हो जाते ? और यदि हमारा ज्ञान केवल एक ही पदार्थ जैसे घट या पट आदि को विषय करता है तो उसका हेतु क्या है ? जब कोई बाह्य पदार्थ है ही नहीं तो हमारा ज्ञान क्यों कर 'घट' ही को या 'पट' ही को विषय करता है । 'विनिगमना' या विनिगमक का अर्थ है कि जहां कई बातें आ पड़े, उनमें से एक बात को निर्णय करने वाली अर्थात् अन्यतर पक्ष निर्णायक युक्ति (देखो का० २० की व्याख्या) । यहां पर यही प्रश्न हुआ कि बाह्य विषयों के अस्तित्व के न होने से जब ज्ञान के सभी विषय हो सकते हैं तो ज्ञान का एक ही विषय (घट पट आदि क्यों हो, इसकी निर्णायक युक्ति (विनिगमना) क्या है ? इसलिये न्याय-वैशेषिक कहता है कि विज्ञानवादी के पास इस बात का कोई उत्तर नहीं है कि जब कोई बाह्य पदार्थ है ही नहीं तो हमें एक विशेष समय में एक विशेष पदार्थ का ही क्यों अनुभव होता है और दूसरे पदार्थ का अनुभव क्यों नहीं होता । इसलिये विज्ञानवाद ठहरता ही नहीं ।

विज्ञानवादी ने सुषुप्ति अवस्था में आलयविज्ञानधारा मानी है उस समय 'घट' 'पट' आदि किसी बाह्य वस्तु का बोध नहीं होता केवल 'अहम्' (मैं) के ज्ञान की धारा सुषुप्ति में भी चलती रहती है । न्याय वैशेषिक कहता है कि यह भी ठीक नहीं क्योंकि यदि सुषुप्ति में ज्ञान धारा बनी रहती है तो उस समय भी हमें 'घट' 'पट' आदि विषयों का ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि ज्ञान का कोई विषय अवश्य होना चाहिये, कोई भी ज्ञान विना विषय के हो ही नहीं सकता । इस पर बौद्ध यह कहता है हम सुषुप्ति में 'निराकार' अर्थात् विना आकार वाली अर्थात् विना विषय वाली ज्ञानधारा मानते हैं । न्याय-वैशेषिक उत्तर देता है कि यदि विना विषय वाली आलय-विज्ञान- धारा को जिसका किसी को कदापि अनुभव नहीं होता यदि स्वयं प्रकाश मान लिया जाए तो 'घट' आदि जड़ पदार्थों को भी स्वयं प्रकाश क्यों न मान लिया जाए ? इस पर बौद्ध उत्तर देता है कि हम ज्ञान से अतिरिक्त बाह्य घट पट आदि पदार्थों को मानते ही नहीं, इसलिये हमारे मत में घट आदि ज्ञान से अतिरिक्त हैं ही नहीं और ज्ञान स्वयं प्रकाश है ही, इसलिये 'घट' आदि को स्वयंप्रकाश मानना हमें अभीष्ट ही है । न्याय-वैशेषिक का उत्तर यह है कि घट पट आदि बाह्य पदार्थों का हमें साक्षात् रूप से अनुभव होता है उनके स्वरूप का लोप (खण्डन) किसी युक्ति से नहीं किया जा सकता ।

इस पर विज्ञान वादी कहता है कि हम पदार्थों के स्वरूप का लोप नहीं करते । केवल हम यह कहते हैं कि बाह्य रूप से दीखने वाले पदार्थ केवल ज्ञान के ही विशेष आकार हैं । उनका ज्ञान से भिन्न स्वतन्त्र रूप से बाह्य जगत में अस्तित्व नहीं । इसके उत्तर में न्याय वैशेषिक पूछता है कि क्या यह विज्ञान का आकार विज्ञान से भिन्न है या अभिन्न । यदि यह आकार विज्ञान से भिन्न है तो तुमने ज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थ मान ही लिये और यदि अभिन्न है तो जहां 'नील और 'पीत' का जब इकट्ठा (समूहालम्बन) ज्ञान होता है वहां नील आकार और पीत आकार इन दोनों में कोई अन्तर नहीं होना चाहिये; क्योंकि तुम ज्ञान का आकार ज्ञान से भिन्न नहीं मानते और ज्ञान में

स्वरूपतः कोई भेद हो ही नहीं सकता। इसलिये पहिले और उसके बाद आने वाले दो ज्ञानों में यथा कथञ्चित् कोई अन्तर माना भी जाए, परन्तु 'नील' और 'पीत' का जो ज्ञान एक साथ और एक हो ज्ञान के रूप में हो रहा है, उसमें अर्थात् एक ही ज्ञान व्यक्ति में अन्तर किस प्रकार हो सकता है। इस पर बौद्ध कहता है कि यद्यपि हमारे मत में 'नील' और 'पीत' के बाह्य पदार्थ न होने से उसमें वस्तुगत कोई भेद नहीं, तथापि हम 'नीलत्व' आदि जाति को 'अपोह' 'अतद्व्यावृत्ति' के रूप में मानते हैं और वह 'अपोह' हमारे यहां ज्ञान का ही धर्म है इसलिये नील और पीत का अन्तर हो जायगा। इसका तात्पर्य यह है कि बौद्धों के सिद्धान्त में घट आदि में रहने वाली 'घटत्व' आदि जातियां बाह्य रूप से अस्तित्व रखने वाली कोई भावात्मक वस्तु नहीं है, अर्थात् सारे घटों में रहने वाली 'घटत्व' नामक कोई वास्तविक सामान्य नहीं है, परन्तु सभी घटों का अघटों से भेद है और अघटों से भेद होना (अघटों से व्यावृत्ति = अतद्व्यावृत्ति = अपोह) ही घटों में सामान्य की प्रतीति है। अर्थात् घटों में रहने वाला कोई भावात्मक सामान्य नहीं है परन्तु अघटों से अलग होना रूप निषेधात्मक सामान्य है। यह निषेधात्मक 'अतद्व्यावृत्ति रूप' सामान्य का 'अपोह' या 'सामान्य लक्षण' कोई बाह्य पदार्थ में रहने वाली वस्तु नहीं है। प्रत्युत मानस ही तत्व है अर्थात् हमारी कल्पनामात्र है। इस प्रकार वह 'अपोह' या अतद्व्यावृत्ति ज्ञान का धर्म हो सकता है और उसके कारण 'ज्ञान' में रहने वाले 'नील' और 'पीत' में अन्तर हो जाता है। इस पर न्याय-वैशेषिक उत्तर देता है कि 'नील' और 'पीत' परस्पर विरुद्ध धर्म एक ज्ञान में कैसे आ सकते हैं। बाह्य-पदार्थ-वादी के मत में तो 'नील' और 'पीत' अलग अलग दो बाह्य पदार्थ हैं और दो अलग २ पदार्थों में दो विरुद्ध धर्म हो सकते हैं, परन्तु बौद्ध के मत में जब कोई अलग बाह्य पदार्थ है ही नहीं तो एक ही ज्ञान में दो विरुद्ध धर्म-नील और पीत-एक साथ कैसे ठहर सकते हैं और इस प्रकार यदि एक ही ज्ञान में नील और पीत दो विरुद्ध धर्म मान लिये जाए तो संसार में कहीं भी किन्हीं दो धर्मों का विरोध ही न होगा। उष्णता और शीतलता की भी एक साथ प्रतीति हो जानी चाहिये। इसलिये बाह्य पदार्थों

का अस्तित्व मानना आवश्यक है।

आलोचनाः—'अपोह' (अतद्व्यावृत्ति) का सिद्धान्त बौद्धों के दिङ्नाग सम्प्रदाय में पाया जाता है, परन्तु विश्वनाथ ने इसे योगाचार के मत में भी माना है। यह कहां तक ठीक है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

सि० मु०:—न च वासनासंक्रमः संभवति, मातृपुत्रयोरपि वासनासङ्क्रमप्रसङ्गात्। न चोपादानोपादेयभावो नियामक इति वाच्यम्, वासनायाः सङ्क्रमासम्भवात्। उत्तरस्मिन्नुत्पत्तिरेवसङ्क्रम इति चेत्, न, तदुत्पादकाभावात्। चितामेवोत्पादकत्वे तदानन्त्यप्रसङ्गः। क्षणिकविज्ञानेऽतिशयविशेषः कल्प्यत इति चेन्न, मानाभावात्कल्पनागौरवाच्च। एतेन क्षणिकशरीरेष्वेव चैतन्यमपि प्रत्युक्तं, गौरवादतिशये मानाभावाच्च। बीजादावपि सहकारिसमवधानाऽसमवधानाभ्यामेवोपपत्तेः कुर्वद्रूपत्वाकल्पनाच्च।

अनुवादः— और वासना का भी संचार (जैसा कि बौद्ध ने पहिले कहा था अर्थात् पहिले विज्ञान में रहने वाली वासना का अगले विज्ञान में चला जाना) सम्भव नहीं, क्योंकि (उस दशा में) माता और पुत्र में भी वासना का संचार होगा (अर्थात् माता की वासना पुत्र में चली जायेगी) और बौद्ध यह भी नहीं कह सकता कि उपादान एवं उपादेय होना (वासना संचार का) नियामक है [अर्थात् जो उपादान कारण (न्याय की भाषा में समवायिकारण) हो उसकी वासना अपने कार्य में हो जाती है जैसे कि पूर्व विज्ञान की वासना उत्तर विज्ञान में चली जाती है] क्योंकि वासना का संचार ही (अर्थात् एक क्षणिक विज्ञान से दूसरे क्षणिक विज्ञान में चला जाना) सम्भव नहीं। और यदि यह कहा जाय कि अगले (विज्ञान) में (वासना की) उत्पत्ति होना ही संचार है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि

(अगले विज्ञान में) उस (वासना) का उत्पन्न करने वाला नहीं बनता, और यदि विज्ञानों को ही उत्पादक माना जाय तो उनकी संस्कारों की) अनन्तता होगी। यदि यह कल्पना करें कि क्षणिक विज्ञान में एक विशेष प्रकार का अतिशय (एक प्रकार की विशेषता) उत्पन्न हो जाती है तो ठीक नहीं, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं और कल्पना का भी गौरव होगा। इस प्रकार (उपर्युक्त युक्तियों के द्वारा) क्षणिक शरीरों में ही चैतन्य (ज्ञान) है, इसका भी खण्डन कर दिया, क्योंकि वैसा मानने में कल्पना का) गौरव होता है, और अतिशय में कोई प्रमाण नहीं है। और क्योंकि बीज आदि में भी सहकारियों के इकट्ठे होने या न होने से ही काम चल सकता है, इसलिए 'कुर्वद्रूपता' (बौद्धों का एक विशेष सिद्धान्त,— देखो व्याख्या) की कल्पना नहीं की जा सकती।

व्याख्याः — ऊपर बौद्ध ने यह कहा कि कस्तूरी की सुगन्ध को तरह वासना का संचार हो जायगा, वह भी सम्भव नहीं, क्योंकि यदि पूर्व विज्ञान की वासना उत्तर विज्ञान में जा सकती हो तो माता की वासना या संस्कार उसके पुत्र में भी चला जायगा और इस प्रकार माता के देखे हुए का पुत्र को भी स्मरण होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। यदि यह कहा जाय कि जो उपादानकारण (material cause) हो, उसमें रहने वाला धर्म ही उसके कार्य (उपादेय) में जाता है, जैसे कि पूर्व विज्ञान उत्तर विज्ञान का उपादान कारण है इसलिये पूर्व विज्ञान की वासना उत्तर विज्ञान में चली जाती है, और माता अपने पुत्र का उपादान कारण नहीं— प्रत्युत निमित्त कारण मात्र है इसलिए माता की वासना का पुत्र में संचार नहीं होगा। इस पर नैयायिक कहता है कि पूर्व विज्ञान की वासना का उत्तर विज्ञान में संचार सम्भव ही नहीं, क्योंकि बौद्ध दर्शन में भी पहिला विज्ञान सम्पूर्णतः नष्ट हो जाता है, वह अपना कुछ भी अंश छोड़ता नहीं जिसका संचार अगले विज्ञान में होना सम्भव हो, इसलिये यह बात ही सम्भव नहीं कि पूर्व विज्ञान की वासना उत्तर विज्ञान में चली जावे। इस पर बौद्ध उत्तर देता

है कि हम यह नहीं कहते कि पहिले विज्ञान की वासना ही उत्तर विज्ञान में संचरित होकर चली जाती है, प्रत्युत पूर्व विज्ञान की वासना का अगले विज्ञान में नए सिरे से उत्पन्न होना ही संचार या संक्रम कहलाता है। परन्तु इस पर प्रश्न यह होता है कि प्रत्येक विज्ञान में यदि संस्कार नए सिरे से उत्पन्न होता है तो उसका उत्पादक कौन है ? यदि यह कहा जाय कि प्रत्येक विज्ञान (चित्) ही उसका उत्पादक है तो विज्ञान अनन्त हैं, और प्रत्येक विज्ञान में संस्कार के प्रत्येक बार उत्पन्न होने से संस्कार भी अनन्त होंगे। फलतः जहां न्याय वैशेषिक ने प्रत्येक अनुभव का एक संस्कार मान रक्खा है, बौद्ध के अनुसार प्रत्येक अनुभव के अनन्त संस्कार होंगे, क्योंकि प्रत्येक विज्ञान के साथ प्रत्येक पहिले पहिले के अनुभव के बार बार संस्कार उत्पन्न होंगे। संस्कारों की अनन्तता के दोष से बचने के लिए यदि यह कल्पना की जावे कि प्रत्येक विज्ञान के साथ प्रत्येक संस्कार की हम बार बार उत्पत्ति नहीं मानते प्रत्युत जिस विज्ञान के बाद स्मरण होता है उस स्मरण से पहिले होने वाले विज्ञान में एक विशेष प्रकार की शक्ति (अतिशय) की कल्पना कर लेते हैं। वही 'अतिशय' स्मरण का कारण होता है। इस प्रकार अनन्त विज्ञानों में अनन्त संस्कार मानने की आवश्यकता नहीं और स्मरण भी बन जाता है। परन्तु न्याय-वैशेषिक कहता है, स्मरण से पूर्व के विज्ञान में ऐसी विशेष शक्ति अतिशय) मानने में कोई प्रमाण नहीं हो सकता। अर्थात् जिस विज्ञान के बाद स्मरण होता है उस विज्ञान में स्मरण का उत्पादक अतिशय कहां से आ जाता है। इसके सिवाय इस अतिशय के मानने में कल्पनागौरव भी है, क्योंकि जब जब स्मरण होगा तब तब पूर्व विज्ञान में 'अतिशय' रूप शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी, फिर उस शक्ति का नाश, फिर उसकी उत्पत्ति, इस प्रकार अनन्त 'अतिशय' रूप शक्तियां माननी पड़ेगी और इस प्रकार बहुत गौरव हो जायगा। इस लिए न्याय-वैशेषिक कहता है कि क्षणिक विज्ञान को आत्मा नहीं मान सकते।

यहां पर एक विशेष बौद्ध सम्प्रदाय का (जिसके विषय में हम निश्चय रूप से नहीं कह सकते कि यह कौनसा बौद्ध सम्प्रदाय था) सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार क्षणिक शरीर में ही चैतन्य या ज्ञान माना जाता है। चार्वाक भी चैतन्य को शरीर का ही धर्म मानता है। परन्तु बौद्ध का उससे भेद यह है कि बौद्ध *क्षणिक* शरीर में चैतन्य मानता है। इस पर न्याय-वैशेषिक यह दोष देता है कि उस प्रकार प्रत्येक क्षण में बदलने वाले शरीर में नए नए संस्कारों के उत्पन्न होने से अनन्त संस्कार मानने का गौरव होगा। यह दोष विज्ञानों को उत्पादक मानने के विषय में भी ऊपर दिखाया जा चुका है। इसका उत्तर बौद्ध की ओर से (जैसा कि ऊपर भी दिया गया था) यह दिया जाता है कि हम प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होने वाले शरीर में बार बार संस्कार उत्पन्न होते हैं ऐसा न मानकर यह मानेंगे कि केवल स्मरण से पूर्व क्षण में होने वाले शरीर में ही विशेष 'अतिशय' रूप शक्ति उत्पन्न होती है, और इस प्रकार अनन्त संस्कार मानने का गौरव नहीं आएगा तो इसका उत्तर न्याय-वैशेषिक वही देता है जो कि ऊपर भी दिया जा चुका है कि इस प्रकार स्मरण से पूर्व के क्षणिक शरीर में अतिशय रूप शक्ति-विशेष मानने में कोई प्रमाण नहीं हो सकता।

इस पर बौद्ध अपने एक विशेष सिद्धान्त की ओर संकेत करके एक नया समाधान देता है। बौद्ध के सिद्धान्त के अनुसार बीज सामान्यरूपेण अङ्कुर का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि बीज सामान्यरूपेण अङ्कुर का कारण हो तो कुठले (कुशूल) में स्थित बीज भी अङ्कुर क्यों उत्पन्न नहीं करता? इसलिए यह मानना पड़ता है कि कोई विशेष बीज ही जो क्षेत्र में पड़ा होता है और जो *वस्तुतः* अङ्कुर उत्पन्न करता है, वही बीज अङ्कुर का कारण होता है। उस अङ्कुर को उत्पन्न करने वाले बीज में 'कुर्वद्रूपता' नामक धर्म होता है, ('कुर्वत्' अर्थात् फल को उत्पन्न करता हुआ 'रूप' है जिसका, वह 'कुर्वद्रूप' उसका भाव 'कुर्वद्रूपता') इसलिए जिस बीज में 'कुर्वद्रूपता' नामक धर्म होता है वही अङ्कुर को उत्पन्न करता

है। ऊपर यह बतलाते हुए कि जो जो भाव रूप है वह क्षणिक है, यह बतला चुके हैं कि 'अर्थक्रियाक्षमता' अर्थात् अपने कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होना ही किसी पदार्थ की सत्ता है। इसलिए बौद्धमत में अङ्कुर से पहिले क्षण का बीज जो अर्थ-क्रिया-क्षम अर्थात् अङ्कुर को उत्पन्न करने में समर्थ है, उसी को अङ्कुर का कारण माना गया है, न कि सामान्यरूपेण बीज मात्र को। इसी बात को यहाँ पर 'कुर्वद्रूपता' शब्द से कहा गया है। इस सिद्धान्त को वर्णन करने का प्रकृत में प्रयोजन यह है कि स्मरण से पूर्व क्षण में विद्यमान शरीर में या ज्ञान में किसी 'अतिशय' रूप शक्ति की भी कल्पना की आवश्यकता नहीं, प्रत्युत हम यह मान लेंगे कि स्मरण से पहिले क्षण के शरीर में या पहिले क्षण के विज्ञान में 'कुर्वद्रूपता' नामक धर्म है, जिसके कारण स्मरण उत्पन्न होता है। और यह 'कुर्वद्रूपता' स्वाभाविक धर्म है जिसके कारण अगले क्षण में स्मरण उत्पन्न होता है। इस प्रकार 'अतिशय' के रूप में अनन्त शक्तियां मानने की आवश्यकता न पड़ेगी और कल्पना गौरव भी न होगा।

इस पर न्याय-वैशेषिक उत्तर देता है कि तुम्हारा 'कुर्वद्रूपता' का सिद्धान्त ही भ्रमपूर्ण है, क्योंकि अङ्कुर का कारण 'बीज' अपने सामान्य रूप से ही है न कि 'कुर्वद्रूपता' नामक धर्म के कारण, अर्थात् अङ्कुर से पूर्व क्षण वाला बीज ही अङ्कुर का कारण हो, यह बात नहीं है। क्यों उसी बीज से अङ्कुर उत्पन्न होता है और कुशूलस्थबीज से नहीं होता, इसका कारण क्षिति, पवन तेजस् आदि सहकारियों का होना और न होना है।

क्षेत्रस्थ बीज के साथ के सहकारी इकट्ठे हो जाते हैं इसलिये अङ्कुर उत्पन्न हो जाता है, कुशूलस्थ बीज के साथ वे इकट्ठे नहीं होते इसलिये अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता। कुशूलस्थ और क्षेत्रस्थ बीज वस्तुतः एक ही हैं। बौद्ध का यह मानना भ्रमपूर्ण है कि क्षेत्रस्थ बीज कुशूलस्थ बीज से अन्य और भिन्न वस्तु है और क्षेत्रस्थ बीज में 'कुर्वद्रूपता' होती है। इसलिए बौद्ध का कुर्वद्रूपता सम्बन्धी सिद्धान्त ही (जिस पर क्षणिकवाद निर्भर है)

भ्रमपूर्ण है और इस सिद्धान्त के आधार पर क्षणिक शरीर या क्षणिक विज्ञान में 'कुर्वद्रूपता' मानकर 'स्मरण' का उपपादन सम्भव नहीं।

अद्वैतवाद का खण्डन

सि० मु०:—अस्तु तर्हि क्षणिकविज्ञाने गौरवान्नित्यविज्ञानमेवात्मा "अविनाशी वारेऽयमात्मा," "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिश्रुतेरिति चेन्न, तस्य विषयत्वासंभवस्य दर्शितत्वान्निर्विषयस्य ज्ञानत्वे मानाभावात्सविषयत्वस्याप्यननुभवात्। अतो ज्ञानादिभिन्नो नित्य आत्मेति सिद्धम्।

अनु०: – क्योंकि क्षणिक विज्ञान मानने में (कल्पना का) गौरव आता है, इसलिये नित्य विज्ञान को ही आत्मा मानना चाहिये (अस्तु = हो, मानो,) क्योंकि श्रुति कहती है "यह आत्मा अविनाशी है" 'ब्रह्म-सत्य, ज्ञान (स्वरूप) और अनन्त है' यह (वेदान्त का) सिद्धान्त ठीक नहीं क्योंकि उस (ब्रह्म) का सविषयक होना असम्भव है यह (बौद्ध के खण्डन) में दिखा चुके हैं, और विषय रहित ज्ञान के होने में प्रमाण नहीं, और (आत्मा का) सविषयक विषय सहित) होने का अनुभव भी नहीं होता (इसलिये आत्मा निर्विषयक नित्य ज्ञान स्वरूप नहीं माना जा सकता)। अतएव ज्ञान आदि से (स्वरूपतः) भिन्न (ज्ञानगुणयुक्त) नित्य आत्मा है, यह सिद्ध है।

व्याख्या:—अद्वैतवादी (शङ्कर मतानुयायी) वेदान्ती आत्मा को नित्य ज्ञान स्वरूप अद्वैत (एक मात्र; केवल एक) तत्व मानते हैं। विज्ञानवादी के मत में 'क्षणिक ज्ञान' का नाम आत्मा है। वेदान्ती के मत में 'नित्य ज्ञान' ही आत्मा है। न्याय-वैशेषिक उस पक्ष को भी स्वीकार नहीं करता, उसके अनुसार आत्मा ज्ञान-स्वरूप नहीं प्रत्युत ज्ञान का आश्रय है अर्थात् ज्ञान आत्मा का गुण है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार गुण और गुणी भिन्न २ होते हैं। इसलिये 'आत्मा' और 'ज्ञान' एक वस्तु नहीं हो सकते, प्रत्युत भिन्न २

दो वस्तु हैं। आत्मा द्रव्य है और 'ज्ञान' आत्मा में रहने वाला गुण है, परन्तु वेदान्ती के अनुसार 'ज्ञान' आत्मा का गुण नहीं, प्रत्युत ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है। न्याय-वैशेषिक वेदान्त के खण्डन में उसी युक्ति की ओर सङ्केत करता है जो कि योगाचार के खण्डन में दी गयी थी अर्थात् यदि आत्मा 'ज्ञान स्वरूप' है और ज्ञान के अतिरिक्त सद्रूप बाह्यवस्तु की सत्ता नहीं है तो फिर वही प्रश्न होता है कि वह नित्य ज्ञान सविषयक होगा या निर्विषयक। यदि सविषयक मानें तो नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा में सारे विषयों का ज्ञान एक साथ होना चाहिये और इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य सर्वज्ञ होगा: और यदि केवल एक विषय का ही ज्ञान एक समय में होता है, ऐसा माना जाय (जैसा कि वस्तुतः होता भी है) तो उस समय उस विषय का ही ज्ञान क्यों होता है और अन्य का नहीं उसमें 'विनिगमना' (अर्थात् एक विशेष वस्तु विषयक ही ज्ञान हो, इसकी निर्णायक युक्ति) क्या होगी। इस प्रकार आत्मा को नित्यज्ञानस्वरूप मानने से उस की 'सविषयकता' बनती नहीं और निर्विषयक ज्ञान हो नहीं सकता। तथा आत्मा का अनुभव 'सविषयक ज्ञान' के रूप में होता नहीं; क्योंकि ज्ञान में जो जो विषय भासते हैं वे तो घट पट आदि हैं न कि आत्मा। इसलिये नित्य ज्ञान के रूप में भी आत्मा को नहीं माना जा सकता।

सि० मु०:— सत्यं ज्ञानमिति हि ब्रह्मपरं जीवेषु नोपयुज्यते। ज्ञानाज्ञानसुखित्वादिभिर्जीवानां भेदसिद्धौ सुतरामीश्वरभेदः। अन्यथा बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तिः। योऽपीश्वराभेदबोधको वेदः सोऽपि तदभेदेन तदीयत्वं प्रतिपादयन् स्तौति। अभेदभावनयैव यतितव्यम् इति वदति। अतएव "सर्व एवात्मनि समर्पिताः" इति श्रूयते। मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तावभेदो जायत इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वेन नाशायोगात्। भेदनाशोऽपि व्यक्तिद्वयं स्थास्यत्येव। न च द्वित्वमपि नश्य-

तीति वाच्यं, तत्र निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्यत्वाभावेऽपि सत्यस्वरूपं तदितिवद् द्वित्वाभावेऽपि व्यक्तिद्वयात्मकौ ताविति सुवचत्वात्। मिथ्यात्वाभावोऽधिकरणात्मकस्तत्र सत्यत्वमिति चेदेकत्वाभावो व्यक्तिद्वयात्मको द्वित्वमित्यप्युच्यताम् । प्रत्येकमेकत्वेऽपि पृथ्वीजलयोर्न गन्ध इतिवदुभयं नैकमित्यस्य सर्वजनसिद्धत्वात्।

अनु०:— (और श्रुति में जो कि आत्मा को) ज्ञानस्वरूप और सत्य (स्थिर) कहा गया है वह ब्रह्मविषयक है । उस वाक्य को जीवात्माओं के विषय में नहीं लगाना चाहिये । ज्ञान, अज्ञान, सुखयुक्त होने (न होने) आदि से जीवात्माओं का (परस्पर) भेद सिद्ध होने पर स्वयमेव उन (जीवात्माओं) का ईश्वर से भेद सिद्ध हो जाता है, नहीं तो बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं हो सकती । और जो कि (जीवात्मा का) ईश्वर से अभेद बताने वाला वेद वाक्य है, वह भी उस (ईश्वर) से अभेद बतला कर (जीवात्मा) उस (ईश्वर) के सम्बन्धी हैं, यह कहता हुआ केवल अर्थवाद-परक वाक्य है (स्तौति) । उसका तात्पर्य यही है कि (ईश्वर के साथ) अभेद भावना रखते हुए ही रहना चाहिये । इसी लिये श्रुति का यह वाक्य है कि "सब (जीवात्मा) परमात्मा (आत्मा) में समर्पित हैं" (अर्थात् परमात्मा के प्रति 'मैं तुम्हारा ही हूं' इस प्रकार के समर्पण के भाव से युक्त हैं) । मोक्ष दशा में अज्ञान की निवृत्ति होने पर अभेद हो जाता है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि भेद के नित्य होने से उसका) नाश सम्भव नहीं । और यदि भेद का नाश हो भी जाय तो भी दो व्यक्ति (अलग २) बने ही रहेंगे । और यह भी नहीं कहा जा सकता, कि द्वित्व भी नष्ट हो जायेगा, क्योंकि जिस प्रकार तुम्हारे मत में ब्रह्म धर्म रहित है, और उस में 'सत्यत्व' नामक धर्म नहीं रह सकता, परन्तु फिर भी वह (ब्रह्म) सत्यस्वरूप (माना जाता) है इसी प्रकार 'द्वित्व' नामक धर्म के न होने पर भी वे दोनों (ब्रह्म और जीवात्मा) दो (अलग २) व्यक्ति हैं, यह बात सरलता से कही जा सकती है । यदि

यह कहा जाय कि "मिथ्यात्व" का अभाव जो कि अधिकरण (ब्रह्म) स्वरूप है, वही वहां पर 'सत्यत्व' (माना जाता) है। तो दो व्यक्तियों में रहने वाला एकत्व का अभाव ही "द्वित्व" है, यह भी कहा जा सकता है। (दो व्यक्तियों में से। प्रत्येक में एकत्व होने पर भी वे दोनों एक नहीं हैं, यह अनुभव सभी जनों का होता है। जैसे (पृथ्वी में गन्ध होने पर भी) पृथ्वी और जल (दोनों में) गन्ध नहीं है (यह अनुभव होता है)।

व्याख्याः— ऊपर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति-वाक्य का उद्धरण देकर वेदान्ती ने कहा था कि 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है' परन्तु यहां बताया गया कि यह वाक्य जीवात्माओं के विषय में नहीं है प्रत्युत ब्रह्म या ईश्वर के विषय में है। [आलोचना— यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो न्याय-वैशेषिक की दृष्टि से यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस शास्त्र में ईश्वर या ब्रह्म को भी 'ज्ञान स्वरूप' नहीं माना जा सकता, प्रत्युत ज्ञान का आश्रय द्रव्य ही माना जा सकता है]। इसके बाद यह बताया कि प्रत्येक जीवात्मा के ज्ञान सुख दुःख आदि भिन्न २ हैं अर्थात् कोई जीवात्मा ज्ञानी है, और कोई अज्ञानी, और कोई सुखी, तो कोई दुःखी, इस प्रकार के भेद होने से जीवात्मा अनेक मानने पड़ेंगे। और जब परस्पर जीवात्माओं का भेद हो गया तो उन जीवात्माओं का ईश्वर से भेद तो बिल्कुल स्पष्ट ही है, क्योंकि ईश्वर में तो सुख दुःख या सीमित ज्ञान आदि नहीं माने जा सकते। उनके कारण जीवात्माओं का ईश्वर से भेद न मानें तो बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था कैसे होगी, क्योंकि कोई जीव बद्ध है और कोई मुक्त है। यदि वे सब एक ही हों, तो यह भेद कैसे हो। इसके बाद बतलाते हैं कि जहां कहीं वेदवाक्य में (जैसे 'तत्त्वमसि' अर्थात् त्वं = तू अपरोक्ष अन्तरात्मा, तत् = परोक्ष ब्रह्म, असि=है,) ईश्वर और जीवात्मा का अभेद बतलाया है वहां भी 'ईश्वर से अभेद' का तात्पर्य यही है कि जीवात्मा ईश्वर के सम्बन्धी हैं अर्थात् वे ईश्वर पर आश्रित हैं। वेद में आये ऐसे वाक्यों को अर्थवाद वाक्य अर्थात् स्तुतिपरक वाक्य कहते हैं। ऐसे वाक्यों का यही प्रयोजन है

कि ईश्वर की उपासना करने में अभेद भावना रखनी चाहिए। इसीलिए श्रुति में यह भी आया है कि सब जीवात्मा परमेश्वर में समर्पित होते हैं अर्थात् ईश्वर के प्रति वे अपना समर्पण कर देते हैं।

यदि यह कहा जाय कि मोक्ष दशा में जब जीवात्माओं का अज्ञान नष्ट हो जाता है तो ईश्वर के साथ उनका अभेद हो जाता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जीव ईश्वर का भेद (घट—पट के भेद के समान) अन्योन्याभाव-रूप है और अन्योन्याभाव नित्य है, इसलिए उस भेद (अन्योन्याभाव) का नाश नहीं हो सकता। यदि वेदान्ती यह कहे कि हम भेद को अन्योन्याभाव-रूप न मानकर 'पृथक्त्व' गुण (दे० पृ० १५३) मानेंगे और वह गुण नष्ट हो सकता है, तो उत्तर दिया कि यदि भेद को पृथक्त्व गुण के रूप में माना जाय और वह नष्ट भी हो जाय तो भी 'दो व्यक्ति' तो बने ही रहेंगे। इस पर वेदान्ती कहता है कि यदि ऐसा मानें कि उसमें रहने वाला 'द्वित्व' नामक धर्म भी नष्ट हो जाता है तो न्याय-वैशेषिक उत्तर देता है कि 'द्वित्व' गुण जो कि दो पदार्थों में 'यह एक है, यह एक है', इस प्रकार प्रतीत होने वाली अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होता है (देखो पृ० १५१), यदि नष्ट भी हो जाय तो भी वे दोनों एक एक करके प्रतीत होने वाले पदार्थ दो व्यक्ति ही रहेंगे अर्थात् द्वित्व के नष्ट होने पर भी वे दोनों व्यक्ति एक नहीं हो सकते। वेदान्ती के मत में भी तो 'ब्रह्म' को धर्म रहित माना जाता है और सत्यत्व भी एक धर्म है जो ब्रह्म में नहीं हो सकता, पर फिर भी ब्रह्म को 'सत्य' स्वरूप कहा जाता है। यदि इस पर वेदान्ती कहे कि ब्रह्म को सत्य कहने का अर्थ यह है कि अधिकरण अर्थात् ब्रह्म में रहने वाला जो 'मिथ्यात्व का अभाव' वही सत्यत्व है, अर्थात् 'सत्यत्व' कोई भावरूप धर्म नहीं किन्तु वह अभावात्मक है, तो न्याय-वैशेषिक कहता है कि हम भी तो यह कह सकते हैं कि 'दो व्यक्तियों में रहने वाला जो एकत्व का अभाव है, वही द्वित्व' है और वह द्वित्व नामक अभावात्मक धर्म ब्रह्म और ईश्वर में बना ही रहेगा। 'द्वित्व' नामक गुण दो व्यक्तियों में उत्पन्न होता है और

यदि उन व्यक्तियों को एक एक करके लें तो उनमें 'एकत्व' धर्म रहता है परन्तु यदि दोनों व्यक्तियों को मिलाकर देखें तो यह कहना ही पड़ेगा कि वे दोनों एक नहीं हैं, जैसे कि अकेली पृथ्वी में गन्ध होने पर भी 'जल और पृथ्वी' दोनों में गन्ध नहीं, यह अनुभव होता है, इसी प्रकार दो व्यक्तियों को मिलाकर देखने में उनमें जो 'एकत्वाभाव' की प्रतीति होती है, वही द्वित्व समझा जा सकता है, इस प्रकार भावात्मक द्वित्व धर्म ब्रह्म और जीवात्मा में न होने पर भी अभावात्मक 'द्वित्व' धर्म, अभावात्मक 'सत्यत्व' के समान ईश्वर और मोक्षावस्था के जीवात्माओं में भी रह जाएगा।

सि० मु०:– योऽपि तदानीमभेदप्रतिपादको वेदः सोऽपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति, सम्पदाधिक्ये "पुरोहितोऽयं राजा संवृत्त" इतिवत्। अतएव 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इति श्रूयते। ईश्वरोपि न ज्ञानसुखात्मा किन्तु ज्ञानाद्याश्रयः "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादौ विज्ञानपदेन ज्ञानाश्रय एवोक्तः "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इत्याद्यनुरोधात्। आनन्दमित्यस्याप्यानन्दवदित्यर्थः। अर्श आदित्वान्मत्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः, अन्यथा पुंल्लिङ्गत्वापत्तिः। आनन्दोऽपि दुःखाभावे उपचर्यते भाराद्यपगमे सुखी संवृत्तोऽहमितिवत्, दुःखाभावेन सुखित्वप्रत्ययात्। अस्तु वा तस्मिन्नानन्दो न त्वासावानन्दः, "असुखम्" इति श्रुतेः। न विद्यते सुखं यस्येति कुतो नार्थ इति चेद्? न, क्लिष्टकल्पनापत्तेः, प्रकरणविरोधादानन्दमित्यत्र मत्वर्थीयाच्प्रत्ययविरोधाच्चेति सङ्क्षेपः।

अनु०:– और जोकि उस समय (मोक्ष दशा में) अभेद का प्रतिपादक

वेद वाक्य है वह भी (जीवात्मा के) दुःख रहित आदि होने से (ईश्वर के साथ) सादृश्य को कहता है, जैसे कि धन के अधिक हो जाने पर कहते हैं कि 'यह पुरोहित राजा हो गया'। इसीलिए 'दुःखरहित (जीवात्मा ईश्वर के साथ) परम समता को प्राप्त होता है' इस प्रकार का श्रुतिवाक्य है। (और) ईश्वर भी ज्ञान और सुख स्वरूप (ज्ञानसुखात्मा) नहीं है प्रत्युत ज्ञानादि का आश्रय (अधिकरण है। 'ब्रह्म नित्य, विज्ञान और आनन्द है' इस पद में भी विज्ञान पद से ज्ञान का आश्रय ही कहा गया है क्योंकि 'जो सर्वदा सब कुछ जानने वाला है' इस वाक्य की दृष्टि से भी (यही बात आती है क्योंकि यहां पर आत्मा को सब प्रकार से ज्ञान वाला कहा गया है न कि ज्ञान स्वरूप)। श्रुति में आये शब्द 'आनन्दम्' का अर्थ भी 'आनन्द वाला' ही है, (क्योंकि) यहां पर (आनन्द शब्द के) अर्श आदि गण में पड़े होने से (अर्श आदिभ्योऽच् ५।२।१२७ सूत्र से) मत्वर्थ वाला ('वाला होना' इस अर्थ में) अच् प्रत्यय हो जाता है (आनन्द + अच् = आनन्द वाला), अन्यथा (यदि अच् प्रत्यय न मानकर 'सुख' के अर्थ में आनन्द शब्द को लें तो यहां पर) पुंल्लिङ्ग होना चाहिये (क्योंकि 'आनन्द' शब्द नित्य पुंल्लिङ्ग है) और 'आनन्द' शब्द का प्रयोग भी यहां गौण रूप से (उपचार से) 'दुःखाभाव' अर्थ में है जैसे कि भार के हटने पर 'मैं सुखी हो गया' इस प्रकार का अनुभव होता है उसी प्रकार दुःख के अभाव में सुखी होने की प्रतीति होती है। और यदि 'आनन्द' को कोई भावरूप धर्म मान लिया जाय तो भी) उसमें (ईश्वर या मोक्षावस्था में जीवात्मा में) आनन्द हो सकता है न कि वह (स्वयं) 'आनन्द' होगा, क्योंकि श्रुति में 'असुखम्' अर्थात् 'वह सुख या आनन्द नहीं है', ऐसा आया है। यदि यह शङ्का की जाय कि इस श्रुति वाक्य का 'नहीं है सुख जिसमें' यह (बहुव्रीहि समास का) अर्थ क्यों नहीं कर लिया तो उत्तर देते हैं कि उसमें क्लिष्ट (क्लेशयुक्त अर्थात् अधिक) कल्पना करनी पड़ेगी और प्रकरण से विरोध होगा तथा मत्वर्थ में आये 'अच्' प्रत्यय से भी विरोध होगा।

व्याख्या:— यहां यह बताया गया है कि ईश्वर और जीवात्मा के अभेद प्रतिपादक वेद वाक्य का तात्पर्य मोक्ष दशा में जीवात्मा की ईश्वर से समता दिखाने के अर्थ में है न कि अभेद प्रतिपादन में। इसके बाद यह बताया गया कि ईश्वर ज्ञान और सुख स्वरूप नहीं है प्रत्युत ज्ञान और सुख का आश्रय है। जैसा कि आलोचना में ऊपर कहा गया था कि न्याय-वैशेषिक में ईश्वर या ब्रह्म को भी ज्ञान स्वरूप नहीं माना जा सकता प्रत्युत 'ज्ञान' का आश्रय ही माना जा सकता है, वही बात यहां कही गयी है। उपनिषद् में जहां ब्रह्म को आनन्द कहा गया है, वहां पर 'आनन्द' शब्द के साथ मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय हो रहा है (आनन्द + अच् = आनन्द) और उसका अर्थ है 'आनन्द वाला' अर्थात् वह 'विशेषण' हो गया और इसीलिए उसका लिङ्ग विशेष्य (ब्रह्म) के अनुसार 'नपुंसक' हो जाता है। यदि वहां मत्वर्थीय अच् प्रत्यय न माने तो उसका लिङ्ग नित्य लिङ्ग होने से पुल्लिङ्ग ही रहता। फिर यह बतलाया गया है कि 'आनन्द' भी ईश्वर में या मोक्षावस्था में जीवात्मा में रहने वाला कोई भावरूप धर्म नहीं है, प्रत्युत 'दुःख के अभाव' का नाम ही 'आनन्द' या सुख है। और यदि अभ्युपगम सिद्धान्त से (अर्थात् जब किसी बात को न मानते हुए भी कहते हैं कि 'यदि थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लें तो' उसी को अभ्युगम सिद्धान्त कहते हैं) यह मान लें कि 'आनन्द' भावरूप ही धर्म है तो भी यही कहना होगा कि ईश्वर या मोक्षावस्था में जीवात्मा में आनन्द रहता है न कि वह स्वयं ही आनन्द स्वरूप है। क्योंकि वेदवाक्य में 'असुखम्' आया है जिसका अर्थ नञ्तत्पुरुष समास से यही होता है कि 'जो सुख नहीं है' अर्थात् ईश्वर सुख स्वरूप नहीं। परन्तु यदि कोई यहां बहुव्रीहि समास करके यह अर्थ करे कि 'नहीं है सुख जिसमें' तो उत्तर देते हैं कि बहुव्रीहि समास मानने में तत्पुरुष की अपेक्षा क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। क्योंकि तत्पुरुष समास में तो 'नञ्' का अर्थ अभाव हो जाता है जोकि उसका 'अभिधा' वृत्ति से आने वाला साक्षात् अर्थ है, परन्तु बहुव्रीहि समास में 'नहीं है सुख जिसमें' उस अन्य पदार्थ की प्रतीति 'लक्षणा' द्वारा ही होगी। इसलिए बहुव्रीहि मानने में अधिक कल्पना करनी पड़ती

है। इसके सिवाय प्रकरण का विरोध भी होगा क्योंकि उस प्रकरण में 'अस्थूलम्' आदि शब्दों में भी नञ्तत्पुरुष समास ही लिया जाता है। और ऊपर 'आनन्द' शब्द में जो मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय माना गया है, उससे भी विरोध होगा।

सांख्य मत का खण्डन

सि० मु०— एतेन प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः किंतु चेतनः। कार्यकारणयोरभेदात् कार्यनाशे सति कार्यरूपतया तन्नाशो न स्यादित्यकारणत्वं तस्य। बुद्धिगतचैतन्याऽभिमानान्यथानुपपत्त्या तत्कल्पनम्। बुद्धिश्च प्रकृतेः परिणामः। सैव महत्तत्त्वम्, अन्तःकरणमित्युच्यते। तत्सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यां पुरुषस्य संसारापवर्गौ। तस्या एवेन्द्रियप्रणालिकया परिणतिर्ज्ञानरूपा घटादिना सम्बन्धः। पुरुषे कर्तृत्वाभिमानो बुद्धौ चैतन्याभिमानश्च भेदाऽग्रहात्। ममेदं कर्त्तव्यमिति मदंशः पुरुषोपरागो बुद्धेः स्वच्छतया तत्प्रतिबिम्बादतात्त्विको दर्पणस्येव मुखोपरागः। इदमिति विषयोपरागः, इन्द्रियप्रणालिकया परिणतिभेदस्तात्त्विको निःश्वासाभिहतदर्पणस्येव मलिनिमा। कर्त्तव्यमिति व्यापारांशः। तेनांशत्रयवती बुद्धिस्तत्परिणामेन ज्ञानेन पुरुषस्यातात्त्विकः सम्बन्धो दर्पणमलिनिम्नेव मुखस्योपलब्धिरुच्यते। ज्ञानादिवत्सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मा अपि बुद्धेरेव कृतिसामानाधिकरण्येन प्रतीतेः। न च बुद्धिश्चेतना परिणामित्वादिति मतम्।

अनु०:—'एतेन' (इस प्रकार) (इस पद का सम्बन्ध 'इतिमतमपास्तम्'

'यह मत खण्डन कर दिया गया' इस सुदूरस्थित वाक्य से है। यहां पर वह मत अर्थात् सांख्य का मत दिया गया है। सांख्य के अनुसारः—) प्रकृति ही करने वाली है (अर्थात् प्रकृति ही सब कुछ करती है) और पुरुष तो कमलपत्र के समान असङ्ग है किन्तु (पुरुष) चेतन है। कार्य और कारण का अभेद होने से कार्य का नाश होने पर उस (पुरुष) के कार्यरूप होने से उसका भी नाश न हो जाय, इसलिये उसको (पुरुष को) (किसी भी कार्य का) कारण नहीं माना जाता। (परन्तु) बुद्धि में 'चैतन्य' का अभिमान (अर्थात् बुद्धि में यह भान कि 'मैं चेतन हूं') अन्यथा (विना पुरुष को माने) नहीं बन सकता इसलिये उस (पुरुष) की कल्पना की जाती है। बुद्धि प्रकृति का परिणाम है और महत्तत्त्व अर्थात् 'अन्तःकरण' कही जाती है। बुद्धि के होने पर पुरुष के लिये संसार और न होने से अपवर्ग (मोक्ष) होता है। उस बुद्धि का ही इन्द्रिय रूपी नाली के द्वारा घट आदि से सम्बन्ध ही ज्ञानरूप परिणाम होता है। (अर्थात् ज्ञान बुद्धि का धर्म है आत्मा का नहीं)। पुरुष में कर्त्ता होने का अभिमान (अर्थात् 'मैं कर्त्ता हूं' यह प्रतीति) और बुद्धि में 'चैतन्य' का अभिमान (अर्थात् 'मैं चेतन हूं' यह प्रतीति) (बुद्धि और पुरुष में) भेद के ग्रहण न करने से होती है। 'मेरा यह कर्त्तव्य है' * अर्थात् अमुक विषय की ओर मुझे प्रवृत्त होना है) इस (प्रतीति में 'मेरा' यह अंश 'पुरुष' का 'उपराग' (भान, प्रतीति) है' जो कि बुद्धि के स्वच्छ होने से उसमें (पुरुष) के प्रतिबिम्ब (प्रतिच्छाया) पड़ने के कारण अवास्तविक है जैसे दर्पण में मुख का उपराग (अवास्तविक होता है)। 'यह' अंश विषय का उपराग है जो कि इन्द्रिय रूपी नालिका के द्वारा (बुद्धि का) वास्तविक परिणाम विशेष है जैसे कि (मुख की) फूंक की भाप से मैले हुए दर्पण का मैलापन (वास्तविक होता है)। 'कर्त्तव्य' (अर्थात् विषय की ओर प्रवृत्ति यह व्यापार है, इस प्रकार तीन अंशों वाली बुद्धि होती है उसके (भिन्न भिन्न)

---

*'मेरा यह कर्त्तव्य है' इस वाक्य का अर्थ व्यावहारिक भाषा में लिया जाता है कि मुझे अमुक कार्य करना आवश्यक है, यह अर्थ यहां नहीं लेना चाहिये।

परिणामों से पुरुष का अवास्तविक सम्बन्ध होता है जैसे दर्पण के मैल से मुख का सम्बन्ध (अवास्तविक होता है) और यही (पुरुष का बुद्धि के परिणाम से अवास्तविक सम्बन्ध) ही उपलब्धि कहा जाता है। ज्ञान आदि के समान सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म यह (सब) बुद्धि के ही धर्म हैं, क्योंकि ये धर्म कृति (प्रयत्न) के साथ एक ही (अर्थात् समान) अधिकरण में रहने वाले प्रतीत होते हैं। और बुद्धि चेतन नहीं हो सकती क्योंकि वह परिणाम वाली है। यह मत [अर्थात् सांख्य का मत भी 'इस प्रकार' (एतेन) खण्डित हो जाता है (अपास्तम्) इस अगले वाक्य से सम्बन्ध है]।

व्याख्याः — सांख्य सिद्धान्त के अनुसार 'चेतनता' पुरुष का धर्म है अथवा पुरुष का स्वरूप है, इसीलिये पुरुष को 'चैतन्य का आश्रय' 'नहीं' प्रत्युत 'चैतन्य' ही कहा जाता है। सांख्य में पुरुष शब्द आत्मा के लिये आता है, यह भी ध्यान में रखना चाहिये। परन्तु ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न सुख दुःख आदि गुण जो न्याय-वैशेषिक ने आत्मा के माने हैं वे सांख्य के अनुसार आत्मा के नहीं प्रत्युत 'बुद्धि' के हैं। न्याय-वैशेषिक में बुद्धि केवल 'ज्ञान' का ही पर्याय वाची शब्द है, परन्तु सांख्य में बुद्धि प्रकृति से सबसे प्रथम उत्पन्न हुई सूक्ष्म वस्तु है जिसका दूसरा नाम 'महत्तत्त्व' भी है। हमारा अन्तः-करण बुद्धि अहङ्कार और मनस् इन तीन तत्त्वों का बना हुआ है जिसमें बुद्धि प्रधान है। वस्तुतः न्याय-वैशेषिक में माने गये जीवात्मा का सब काम सांख्य के अनुसार 'बुद्धि' ही करती है। ज्ञान इच्छा आदि धर्म पुरुष के इसलिये नहीं माने जाते कि यदि वे धर्म पुरुष में माने जायें तो पुरुष परिणामी अर्थात् विकारयुक्त हो जायगा और उसे कूटस्थ अर्थात् एकरस रहने वाला नित्य पदार्थ नहीं कह सकेंगे। इसलिए परिवर्त्तनशील ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदि धर्म बुद्धि के ही (जो कि परिवर्त्तनशील प्रकृति का ही पहिला विकार है) माने जाते हैं, पुरुष के नहीं। परन्तु प्रकृति जड़ है और प्राकृत होने से बुद्धि भी जड़ है। उसमें चेतनता हो ही नहीं सकती इसलिये चेतनता पुरुष का धर्म माना गया है। वही पुरुष की चेतनता प्रकृति में प्रतिबिम्बित हो

जाती है; पुरुष निर्लेप असङ्ग है, अर्थात् उसमें बदलने वाले ज्ञान इच्छा आदि धर्मों का वास्तविक असर कोई नहीं होता है। पुरुष की चेतनता के कारण बुद्धि में चेतनता का अभिमान होता है। अर्थात् 'मैं चेतन हूं' इस प्रकार का भान बुद्धि में होता है क्योंकि ज्ञान इच्छा सुख दुःख आदि बुद्धि के ही धर्म हैं, इसलिए बुद्धि के साथ पुरुष का सम्बन्ध होने से संसार (जन्म-मरण चक्र) और बुद्धि के नष्ट हो जाने से अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

हमें पदार्थों का ज्ञान किस प्रकार होता है, इस विषय में सांख्य का सिद्धान्त यह है कि हमारी बुद्धि इन्द्रिय रूप नाली के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के मार्ग से किसी बाह्य पदार्थ घट आदि तक पहुंचती है और वहां पहुंचकर वह बुद्धि घट आदि के आकार में परिणत हो जाती है, अर्थात् घट आदि के रूप में बदलती है, बुद्धि का घट आदि के रूप में बदलना ही 'ज्ञान' कहलाता है। बुद्धि के स्वच्छ होने से पुरुष का उसमें (बुद्धि में) प्रतिबिम्ब पड़ता है और प्रतिबिम्बित हुए पुरुष में 'घट' आदि के ज्ञान की प्रतीति भी भासती है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष में ज्ञान का इस प्रकार भासना ही 'उपलब्धि' कहलाती है जोकि चैतन्य अर्थात् पुरुष को होती है। परन्तु यह भासना अतात्त्विक अर्थात् अवास्तविक है, इसलिए 'उपलब्धि' यद्यपि पुरुष में प्रतीत होती है परन्तु वह पुरुष का धर्म नहीं है। यह बतलाया गया कि बुद्धि में पुरुष के प्रतिबिम्बित होने के कारण पुरुष में 'कर्तृत्व' ज्ञातृत्व आदि प्रतीत होते हैं, और साथ ही बुद्धि में चेतनता प्रतीत होती है, क्योंकि दोनों में भेद का ग्रहण न होने से एक का धर्म दूसरे में प्रतीत होने लगता है। 'मेरा यह कर्त्तव्य है' अर्थात् 'अमुक विषय में मुझे प्रवृत्त होना है' इस ज्ञान में तीन अंश हैं। 'मैं' यह 'चैतन्य' अर्थात् पुरुष का अंश है क्योंकि बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुआ पुरुष भासता है अर्थात् उसका चैतन्य बुद्धि में प्रतीत होता है, परन्तु जैसे दर्पण में जब मुख का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है तो यह स्पष्ट है कि मुख का प्रतिबिम्ब सर्वथा अवास्तविक होता है अर्थात् वह प्रतिबिम्बित मालूम तो पड़ता है परन्तु वस्तुतः दर्पण में उस प्रतिबिम्ब का कोई असर हो अर्थात् दर्पण में उससे कोई परिवर्तन हुआ हो ऐसा नहीं

होता; और न मुख के उस प्रकार प्रतिबिम्बित होने का मुख पर ही कोई असर होता है, ठीक इसी प्रकार बुद्धि में पुरुष का उपराग (छाया, आकार) पड़ता है, जो कि अतात्त्विक और अवास्तविक होता है। परन्तु उपर्युक्त 'मेरा यह कर्त्तव्य है' इस प्रतीति का दूसरा अंश 'यह' से आने वाला *'विषय'* है, और क्योंकि इन्द्रिय प्रणाली द्वारा बुद्धि *वस्तुतः* विषय का आकार ग्रहण करती है और उसी के आकार में परिणत हो जाती है इसलिए बुद्धि का यह परिवर्तन वास्तविक है जैसे कि फूंक को भाप से मैले हुए दर्पण में मलिनता वास्तविक होती है। और 'कर्त्तव्य' अंश अर्थात् किसी विषय की ओर प्रवृत्त होना (प्रयत्न, चेष्टा) यह भी बुद्धि का ही धर्म है। जिस प्रकार दर्पण में फूंक की भाप से आयी वास्तविक मलिनता का मुख पर कोई असर नहीं पड़ता, इसी प्रकार बुद्धि में वर्तमान घट पट आदि के ज्ञान से (जो कि बुद्धि के वस्तुतः उन आकारों में परिणत होने से है) पुरुष का *वास्तविक* सम्बन्ध कोई नहीं होता, यद्यपि जैसा ऊपर कहा गया है, वे घट पट आदि के ज्ञान 'पुरुष' में भासित होते हैं और उस भासित होने को ही उपलब्धि (अर्थात् पुरुष के द्वारा घट पट आदि की उपलब्धि) कहते हैं, परन्तु फिर भी यह घट पट आदि की उपलब्धि पुरुष का धर्म नहीं है, क्योंकि पुरुष का उससे 'वास्तविक' (real) तो सम्बन्ध है ही नहीं। इस प्रकार सांख्य के मत का सार यही है कि 'चेतनता' पुरुष का धर्म है अथवा पुरुष चैतन्यस्वरूप है, परन्तु ज्ञान इच्छा, सुख, दुःख आदि धर्म बुद्धि में रहते हैं।

अब न्याय-वैशेषिक सांख्य का खण्डन करता है:—

सि० मु०:-(इति मतम्) अपास्तम्, कृत्यदृष्टभोगानामिव चैतन्यस्यापि सामानाधिकरण्यप्रतीतेस्तद्भिन्ने मानाभावाच्च। चेतनोऽहं करोमीति प्रतीतिश्चैतन्यांशे भ्रम इति चेत्कृत्यंशे किं नेष्यते। अन्यथा बुद्धेर्नित्यत्वे मोक्षाभावोऽनित्यत्वे तत्पूर्वम-

संसारापत्ति । नन्वचेतनायाः प्रकृतेः कार्यत्वाद्बुद्धेरचैतन्यं कार्यकारणयोस्तादात्म्यादिति चेन्न, असिद्धेः । कर्तुर्जन्यत्वे मानाभावात् । वीतरागजन्मादर्शनादनादित्वम् । अनादेर्नाशासम्भवान्नित्यत्वम् । तत्किं प्रकृत्यादिकल्पनेन ।

अनु०:—(यह उपर्युक्त सांख्य का मत इस प्रकार) निराकृत होगया, क्योंकि प्रयत्न (कृति) अदृष्ट (धर्म अधर्म) भोग (सुख दुःख) के समान 'चैतन्य' भी उसी समान अधिकरण में (जहां प्रयत्न आदि रहते हैं) प्रतीत होता है और उस (प्रयत्न आदि के अधिकरण) से भिन्न वस्तु (के मानने) में कोई प्रमाण नहीं है। 'मैं चेतन करता हूं' यह प्रतीति यदि चैतन्य अंश में (अर्थात् कर्त्ता को चेतन के रूप में प्रकट करने के विषय में) भ्रम है, तो कृति (अर्थात् प्रयत्न के अंश में भी भ्रम क्यों न माना जाय) । नहीं तो बुद्धि के नित्य मानने पर मोक्ष का अभाव होगा और अनित्य मानने पर उससे पूर्व संसार (जन्म-मरण चक्र) नहीं बन सकेगा। यदि यह कहा जाय कि अचेतन (जड) प्रकृति का कार्य होने से बुद्धि में चेतनता नहीं हो सकती, क्योंकि कार्य और कारण की एकता (तादात्म्य) माना जाता है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यह बात (अर्थात् प्रयत्न ज्ञान आदि का आश्रय, प्रकृति का कार्य है) सिद्ध नहीं होती, क्योंकि कर्ता [कृति (प्रयत्न) ज्ञान आदि के आश्रय] के उत्पन्न हुए मानने के विषय में कोई प्रमाण नहीं है, और क्योंकि रागरहित प्राणी का कभी जन्म नहीं होता इसलिये कर्ता का अनादित्व (मानना आवश्यक) है, और अनादि का नाश हो नहीं सकता, इसलिये (कर्ता का) नित्यत्व है, इसलिये प्रकृति आदि की कल्पना व्यर्थ है ।

व्याख्या:—न्याय-वैशेषिक, सांख्य के सिद्धान्त के खण्डन में मुख्य युक्ति यही देता है कि प्रयत्न ज्ञान आदि जिस अधिकरण में हैं (उसे चाहे न्याय के अनुसार आत्मा कहो, या सांख्य के अनुसार बुद्धि) उसी में 'चेतनता' भी रहती है । वस्तुतः न्याय-वैशेषिक मत में चेतनता 'ज्ञान' के अतिरिक्त

और कुछ है ही नहीं। ज्ञान प्रयत्न आदि के आश्रय से भिन्न 'पुरुष' कोई अलग वस्तु है इसमें कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि ज्ञान प्रयत्न आदि के आश्रय से भिन्न चेतन की हमें कोई प्रतीति होती ही नहीं क्योंकि यह अनुभव होता है कि 'मैं चेतन कर्ता हूं' अर्थात् जिस में कृति (प्रयत्न) है उसी में चेतनता है। यदि उसमें 'चेतनता' की प्रतीति भ्रम से है तो 'प्रयत्न' की प्रतीति भी भ्रम से क्यों न मानी जाय। जो कुछ भी हो, चेतनता और प्रयत्न एक ही जगह मानने पड़ेंगे। यदि उनके आश्रय का नाम 'बुद्धि' रख दें तो वह न्याय-वैशेषिक के आत्मा के समान ही हो जायगा, केवल नाम का ही अन्तर होगा। इसके सिवाय यदि बुद्धि (जो कि सांख्य में पुरुष से अलग मानी जाती है) नित्य है तो बुद्धि के सदैव बने रहने से पुरुष का कभी मोक्ष नहीं हो सकता, और यदि बुद्धि अनित्य है तो वह कभी उत्पन्न हुई होगी तो उस से पूर्व संसार (जन्म, मरण आदि) किस प्रकार होता था, यह प्रश्न होगा। यदि बुद्धि के अचेतन होने में यह युक्ति दी जाय कि वह जड़ प्रकृति का कार्य है इसलिये वह स्वयं भी जड़ या अचेतन है, तो न्याय-वैशेषिक कहता है कि ज्ञान, प्रयत्न आदि के आश्रयरूप बुद्धि को प्रकृति का कार्य मानना यह सांख्य की अपनी ही कल्पना है जो ठीक नहीं। ऐसी बुद्धि को नित्य ही मानना पड़ेगा अर्थात् वह न्याय-वैशेषिक में माने नित्य आत्मा का ही दूसरा नाम होगी, ऐसी बुद्धि को प्रकृति का कार्य नहीं माना जा सकता। इसके सिवाय यह भी देखा जाता है कि बालक भी उत्पन्न होने के साथ ही माता के दूध के पीने में प्रवृत्त होता है, ऐसे राग या प्रवृत्ति से रहित पुरुष का कभी जन्म नहीं होता, जिस की दूध आदि में प्रवृत्ति ही न होती हो। इससे यह मानना पड़ता है कि जन्म मरण का चक्र अनादि काल से चला आता है और इसलिये जो प्रयत्न ज्ञान का आश्रय है वह अनादि होगा और अनादि होने से नित्य भी होगा। वह ज्ञान प्रयत्न आदि का आश्रय अनादि और नित्य न्याय-वैशेषिक में माना हुआ आत्मा ही हो सकता है। प्रकृति के कार्यरूप बुद्धि को ज्ञान आदि का आश्रय मानने में कोई प्रमाण नहीं।

सि० मु०—न च

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

(गीता अ० ३।२७)

इत्यनेन विरोध इति वाच्यम्, प्रकृतेरदृष्टस्य गुणैरदृष्टजन्यैरिच्छादिभिः कर्ताहमेवेत्यस्य तदर्थत्वात्। "तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः" इत्यादि वदता भगवता प्रकटीकृतोऽयमुपरिष्टादाशय इति संक्षेपः।

अनु०:—और न यह कहा जा सकता है कि (न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त का गीता के) इस वाक्य से विरोध होगा कि "प्रकृति के गुणों से ही सब काम किये जा रहें हैं, (परन्तु) अहंकार से मूढ हुआ आत्मा यह समझता है कि "मैं कर्त्ता हूँ" क्योंकि (उपर्युक्त श्लोक में) प्रकृति अर्थात् अदृष्ट के गुण अदृष्ट जन्य इच्छा आदि के द्वारा (किये जाते हुये काम, ऐसा अर्थ है) और (मैं कर्त्ता हूं इसका) "मैं ही कर्त्ता हूं" ऐसा अर्थ है, भगवान् ने यह कहते हुए कि "ऐसा होने पर जो केवल अपने को कर्त्ता मानता है" यह बात स्वयं स्पष्ट कर दी है कि ऊपर (प्रकृतेः क्रियमाणानि इत्यादि स्थल पर भी) उनका यही आशय है।

व्याख्याः—सांख्य अपने पक्ष में गीता का प्रमाण उद्धृत करता है जिसमें यह कहा गया है कि वस्तुतः सब काम प्रकृति के गुण सत्त्व, रजस् और तमस् से (अर्थात् बुद्धि के द्वारा किये जाते हैं और मिथ्या अहङ्कार से आत्मा समझता है कि मैं ही कर्त्ता हूँ। इसका उत्तर न्याय-वैशेषिक देता है कि गीता के श्लोक का तात्पर्य ही दूसरा है। वहां प्रकृति का अर्थ सांख्य की मानी हुई 'प्रकृति' या प्रधान नहीं है, प्रत्युत वहां प्रकृति शब्द 'अदृष्ट' (धर्म अधर्म) के लिये आया है और यह भी बतलाया गया है कि अदृष्ट के

कारण उत्पन्न हुये इच्छा आदि से कर्म होते हैं उनके विषय में भ्रम से आत्मा यह समझता है कि उन कर्मों का मैं ही एकमात्र कर्त्ता हूं, अर्थात् एकमात्र (केवल) अपने को ही कर्त्ता समझना भूल है। यही बात गीता के एक दूसरे श्लोक में और भी स्पष्ट हो गयी है जहां यह कहा गया कि ऐसा होने पर अर्थात् कर्मों के अनेक निमित्त होने पर केवल 'आत्मा' को ही कर्मों का एकमात्र निमित्त मानना भूल है।

का० धर्माधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणयोगतः ॥४९

सि० मु०:— धर्माधर्माश्रय इति । आत्मेत्यनुषज्यते। शरीरस्य तदाश्रयत्वे देहान्तरकृतकर्मणां देहान्तरेण भोगानुपपत्तेः। विशेषगुणयोगत इति। योग्यविशेषगुणस्य ज्ञानसुखादेः सम्बन्धेनात्मनः प्रत्यक्षत्वं सम्भवति न त्वन्यथा, अहं जाने अहं करोमीत्यादिप्रतीतेः ॥

अनु०:— (वह आत्मा) धर्म और अधर्म का अधिकरण है और (उस आत्मा के) विशेष गुणों के सम्बन्ध से उसका प्रत्यक्ष (अध्यक्ष) होता है।

'धर्माधर्माश्रयः' इस अंश की व्याख्या करते हैं 'आत्मा' यह (प्रकरण से आया हुआ) साथ में जुड़ा हुआ है (अर्थात् आत्मा धर्म और अधर्म का आश्रय है)। शरीर को यदि उन (धर्म और अधर्म) का आश्रय मानें तो दूसरे देह में किये हुए कर्मों का अन्य देह में भोग नहीं बन सकता। 'विशेषगुणयोगतः' इस अंश की व्याख्या करते हैं। प्रत्यक्षयोग्य (आत्मा के) विशेषगुण, ज्ञान, सुखादि के सम्बन्ध से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है अन्यथा नहीं, क्योंकि 'मैं जानता हूँ, मैं करता हूं' इत्यादि प्रतीति होती है।

व्याख्या:— यहां पर यह बतलाया गया है कि आत्मा का प्रत्यक्ष आत्मा में रहने वाले ज्ञान, सुख आदि विशेष गुणों के सम्बन्ध से होता है। अर्थात् विशेष गुणों के बिना आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि 'मैं

जानता हूं,' 'मैं इच्छा वाला हूं' इत्यादि रूप से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, विना विशेषगुण के केवल 'मैं' इस रूप से आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता।

का० प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः।
अहङ्कारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः॥५०

सि० मु०:— अयमात्मा परदेहादौ प्रवृत्त्यादिनाऽनुमीयते। प्रवृत्तिरत्र चेष्टा। ज्ञानेच्छायत्नादीनां देहेऽभावस्योक्तप्रायत्वाच्चेष्टायाश्च प्रयत्नसाध्यत्वाच्चेष्टया प्रयत्नवानात्माप्यनुमीयत इति भावः। अत्र दृष्टान्तमाह। रथेति। यद्यपि रथकर्म चेष्टा न भवति, तथापि तेन कर्मणा सारथिर्यथाऽनुमीयते तथा चेष्टात्मकेन कर्मणा परात्मापीति भावः। अहङ्कारस्येति। अहङ्कारोऽहमिति प्रत्ययस्तस्याश्रयो विषयः आत्मा न शरीरादिरिति। मन इति। मनोभिन्नेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयो मानसप्रत्यक्षविषयश्चेत्यर्थः। रूपाद्यभावेनेन्द्रियान्तरायोग्यत्वात्।

अनु०:— प्रवृत्ति आदि से यह (आत्मा) अनुमान करने योग्य है जैसे रथ की गति से सारथि (का अनुमान किया जाता है)। 'अहं' (मैं) इस प्रतीति का विषय (आत्मा) है और केवल मनस् इन्द्रिय से उसका प्रत्यक्ष होता है।

यह आत्मा दूसरे देहों में प्रवृत्ति आदि से अनुमान किया जाता है। प्रवृत्ति का अर्थ है चेष्टा। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि का देह में अभाव (शरीरस्य न चैतन्यम्, इत्यादि कारिका में) प्रायः कह ही दिया है और चेष्टा प्रयत्न साध्य होती है, इसलिये चेष्टा से प्रयत्न वाले आत्मा का अनुमान किया जाता है, ऐसा तात्पर्य है। उसमें दृष्टान्त कहते हैं 'रथ' इत्यादि अंश से। यद्यपि रथ का कर्म (गमन) चेष्टा नहीं है, तथापि उस कर्म से

जिस प्रकार सारथि का अनुमान होता है, उसी प्रकार चेष्टा रूप कर्म से दूसरी आत्मा का भी अनुमान होता है, ऐसा तात्पर्य है। 'अहङ्कारस्य' इत्यादि अंश की व्याख्या करते हैं। 'अहंकार' 'अहम्' (मैं) इस प्रतीति का नाम है। उसका आश्रय अर्थात् विषय आत्मा है न कि शरीरादि। 'मनस्' इत्यादि अंश की व्याख्या करते हैं 'मनस्' से भिन्न इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का आत्मा विषय नहीं और मानस प्रत्यक्ष का विषय है, ऐसा तात्पर्य है। रूप' आदि के अभाव से दूसरी इन्द्रियों से (प्रत्यक्ष के) अयोग्य है।

व्याख्या:— अपने आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु दूसरे देह में रहने वाले आत्मा का प्रवृत्ति (चेष्टा) देख कर अनुमान होता है, क्योंकि "शरीरस्य न चैतन्यम्" (का० ४८) इत्यादि कारिका में यह बतला दिया गया है कि ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि देह में नहीं हो सकते। यहां 'प्रायः' इसलिये डाला कि वहां शरीर में ज्ञान का अभाव साक्षात् रूप से कहा है। परन्तु 'इच्छा' आदि का अभाव साक्षात् रूप में नहीं कहा है। दूसरे देह में प्रवृत्ति या चेष्टा यह देखकर यह अनुमान होता है कि वह 'प्रयत्न' से होती है। और प्रयत्न देह आदि में सम्भव नहीं प्रत्युत आत्मा में ही सम्भव है। इस प्रकार दूसरे देह में आत्मा का अनुमान हो जाता है। इसमें दृष्टान्त दिया है कि जैसे रथ की गति को देख कर सारथि का अनुमान होता है, यद्यपि रथ की गति को चेष्टा नहीं कह सकते क्योंकि हिताहित की प्राप्ति और परिहार के अनुकूल क्रिया को चेष्टा कहते हैं। वह जड़ रथ में सम्भव नहीं, तो भी अर्थात् रथ की चेष्टा न होने पर भी जैसे उसके 'गमन' से सारथि का अनुमान होता है उसी प्रकार दूसरी देह में होने वाली चेष्टा से उस देह में रहने वाले आत्मा का अनुमान हो जाता है। इसके बाद कहा गया कि 'अहं' अर्थात् (मैं) इस प्रतीति का विषय (आश्रय) आत्मा ही है— अर्थात् आत्मा के कारण ही प्रत्येक ज्ञान के साथ 'मैं' (जानता हूं) ऐसी प्रतीति होती है। उस आत्मा का प्रत्यक्ष केवल मनस् इन्द्रिय से होता है। अन्य बाह्य इन्द्रियों से नहीं, क्योंकि बाह्येन्द्रिय से किसी वस्तु के प्रत्यक्ष में 'रूप'

आदि कारण हैं और आत्मा में रूपादि के अभाव होने से उसका बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

का०— विभुर्बुद्ध्यादिगुणवान् .... ।

विभुत्वं परममहत्त्वत्वम्। तच्च पूर्वमुक्तमपि स्पष्टार्थमुक्तम्। बुद्ध्यादीति। बुद्धिसुखदुःखेच्छादयश्चतुर्दश गुणाः पूर्वमुक्ता वेदितव्याः।

अनु०— (आत्मा) विभु (परम महत्परिमाण वाला) है और बुद्धि (ज्ञान) आदि गुणवाला है। विभुत्व का अर्थ है 'परममहत्त्व'। वह पहिले (अर्थात् का० २६ तथा ३२-३३) कहा हुआ भी स्पष्टता के लिये फिर कहा गया है 'बुद्ध्यादि' अंश की व्याख्या करते हैं। बुद्धि सुख दुःख इच्छा आदि २४ गुण जो कि (का० ३२-३३) में गिनाये हैं, वे ही यहां समझने चाहियें।

ज्ञान के विभाग

का० .... बुद्धिस्तु द्विविधा मता।
अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा॥५१
प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमितिशब्दजे।

अत्रैव प्रसङ्गाद् बुद्धेः कतिपयं प्रपञ्चं दर्शयति। बुद्धिस्त्विति। द्वैविध्यं व्युत्पादयति। अनुभूतिरिति। अनुभूतिश्चतुर्विधेति। एतासां चतसृणां करणानि चत्वारि प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति' (न्यायसूत्र १।१।३) सूत्रोक्तानि वेदितव्यानि।

अनु०:— ज्ञान (बुद्धि) दो प्रकार का माना गया है। एक अनुभूति

और (दूसरा) स्मृति । तथा अनुभूति चार प्रकार की होती है । (i) प्रत्यक्ष (ii) अनुमिति (iii उपमिति (iv) शब्दज (शाब्दी) । यहां पर प्रसङ्ग वश बुद्धि के कुछ विस्तार को (ग्रन्थकार) दिखाते हैं । 'बुद्धिस्तु ...' इत्यादि अंश की व्याख्या करते हैं । बुद्धि के दो प्रकार के होने का (ग्रन्थकार) 'अनुभूतिः' इत्यादि अंश से प्रतिपादन करते हैं । 'अनुभूतिश्चतुर्विधा' इत्यादि अंश की व्याख्या की जाती है । इन (चारों अनुभूतियों) के कारण "प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द ये (चार) प्रमाण हैं" इत्यादि सूत्र में कहे हुए समझने चाहियें ।

व्याख्या: ज्ञान के विभाग को निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है ।

अर्थात् ज्ञान के दो विभाग i) अनुभूति (नया ज्ञान-presentation) और (ii स्मृति (जाने हुए का ज्ञान-representation) किये जाते हैं । और फिर अनुभूति चार प्रकार की है । अनुभूति में प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्दी ये चार प्रकार दिखाये गये हैं । ये चारों प्रमा रूप हैं, इनके 'करण' अर्थात् जिनसे यह चार प्रकार की प्रमायें होती हैं वे प्रमाण भी चार हैं । अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द । 'प्रमा' और 'प्रमाण' में अन्तर (भेद) न्याय-वैशेषिक आग्रह के साथ करता है । बौद्ध उनके भेद पर ज़ोर नहीं देता । यहां 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रमा और प्रमाण दोनों के लिये आया है । परन्तु अगले स्थलों में भिन्न भिन्न नाम हैं, अर्थात् प्रमा का नाम अनुमिति उपमिति, शाब्दी है, और प्रमाण के नाम हैं— अनुमान (जिससे अनुमिति हो), उपमान और शब्द ।

सि० मु०-प्रत्यक्षेति । इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । यद्यपि मनोरूपेन्द्रियजन्यं सर्वमेव ज्ञानं, तथापीन्द्रियत्वेन रूपेणेन्द्रियाणां यत्र ज्ञाने कारणत्वम् तत्प्रत्यक्षमिति विवक्षितम् । ईश्वरप्रत्यक्षं तु न लक्ष्यम् । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकम् प्रत्यक्षमिति (न्यायसूत्र १।१।४) सूत्रे तथैवोक्तत्वात् । अथवा ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । अनुमितौ व्याप्तिज्ञानस्योपमितौ सादृश्यज्ञानस्य शाब्दबोधे पदज्ञानस्य स्मृतावनुभवस्य कारणत्वान्नात्र तत्र नातिव्याप्तिः । इदं लक्षणमीश्वरप्रत्यक्षसाधारणम् । परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः । यद्यपि परामर्शप्रत्यक्षादिकं परामर्शजन्यं तथापि परामर्शजन्यं हेत्वविषयकं यज्ज्ञानं तदेवानुमितिः । न च कादाचित्कहेतुविषयकानुमितावव्याप्तिरिति वाच्यम्, तादृशज्ञानावृत्त्यनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । अथवा व्याप्तिज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिः । एवं सादृश्यज्ञानकरणकं ज्ञानमुपमितिः । पदज्ञानकरणकं ज्ञानं शाब्दबोधः । वस्तुतो यां काञ्चिदनुमितिव्यक्तिमादाय तद्व्यक्तिवृत्तिप्रत्यक्षावृत्ति जातिमत्त्वमनुमितित्वम् । एवं यत्किञ्चित्प्रत्यक्षादिकमादाय तद्व्यक्तिवृत्त्यनुमित्यवृत्तिजातिमत्त्वं प्रत्यक्षत्वादिकं वाच्यमिति ।

अनु०:— 'प्रत्यक्षम्' इत्यादि अंश की व्याख्या करते हैं । इन्द्रिय से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष (कहलाता) है । यद्यपि 'मनस' नामक इन्द्रिय से जन्य (उत्पन्न हुआ) सारा ही ज्ञान (होता) है, तथापि 'इन्द्रियत्व' रूप से इन्द्रियों की जिस ज्ञान में कारणता है वह प्रत्यक्ष होता है, ऐसा तात्पर्य है ।

ईश्वर का प्रत्यक्ष इस प्रत्यक्ष के लक्षण का विषय नहीं (अर्थात् यहां जीवात्मा को होने वाले जन्य प्रत्यक्ष का ही लक्षण किया गया है)। अथवा (प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है कि) (अन्य) ज्ञान जिस में करण (साधन) नहीं है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। अनुमिति में व्याप्तिज्ञान, उपमिति में सादृश्यज्ञान, शाब्दी प्रमा में पदज्ञान, और स्मृति में अनुभव कारण होता है, इसलिये उनमें (अर्थात् अनुमिति, उपमिति, शाब्दी प्रमा और स्मृति में इस प्रत्यक्ष के लक्षण की) अतिव्याप्ति नहीं होती। यह लक्षण ईश्वर प्रत्यक्ष में भी साधारण है (अर्थात् इस लक्षण में जीव और ईश्वर दोनों का प्रत्यक्ष आ जाता है)। परामर्श–जन्य ज्ञान अनुमिति है। यद्यपि परामर्श का प्रत्यक्ष ('परामर्श' नामक ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष) भी परामर्श जन्य ही होता है, तो भी (इस दोष को दूर करने के लिये यह कह सकते हैं कि) 'परामर्शजन्य और हेतु को विषय न करने वाला ज्ञान' अनुमिति है। और यह शङ्का भी न करनी चाहिये, कि यदि कभी कोई हेतु को विषय करने वाली अनुमिति हो तो उस में अनुमिति के लक्षण की (लक्षण में 'हेतु को विषय न करने वाली' ऐसा डालने से) अव्याप्ति होगी। क्योंकि वहां उस प्रकार के (अर्थात् परामर्शजन्य और हेतु को विषय करने वाले) ज्ञान में रहने वाली अनुभवत्वव्याप्यजाति वाला होना, यह तात्पर्य है (ऐसी अनभवत्वव्याप्यजाति अनुमितित्व होगी, जो हेतु को विषय करने वाली अनुमिति में भी रहेगी ही) अथवा व्याप्ति ज्ञान है करण (साधन) जिसका ऐसा ज्ञान अनुमिति है, इसी प्रकार सादृश्य ज्ञान है करण जिसका वह उपमिति, और पदज्ञान है करण जिसका वह शाब्द बोध है। वस्तुतः बात यह है कि किसी भी विशेष अनुमिति को लेकर 'उस अनुमिति व्यक्ति में रहने वाली और प्रत्यक्ष में न रहने वाली जो जाति' उस जाति वाला होना अनुमिति का लक्षण है। इसी प्रकार किसी भी प्रत्यक्ष की विशेष व्यक्ति को लेकर 'उस व्यक्ति में रहने वाली और अनुमिति में न रहने वाली जाति' वाला होना प्रत्यक्ष आदि का लक्षण किया जा सकता है।

व्याख्याः— पांच ज्ञानेन्द्रियों के साथ २ मनस् को भी षष्ठ अन्तरिन्द्रिय माना जाता है। इसलिये यदि प्रत्यक्ष का लक्षण यह किया जाय कि 'जो इन्द्रिय-जन्य हो, वह प्रत्यक्ष है' तो मनस् इन्द्रिय से सभी ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये लक्षण में अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न होगा। इसका उत्तर यह दिया गया कि यद्यपि 'मनस्' इन्द्रिय है परन्तु मनस् जो ज्ञान मात्र के प्रति कारण है, वह 'मनस्त्वेन' अर्थात् मनस् होने की दृष्टि से है न कि इन्द्रियत्व रूप से; इन्द्रियत्व रूप से तो 'मनस्' केवल ज्ञान आदि के मानस प्रत्यक्ष में कारण है और वह प्रत्यक्ष माना ही जाता है।

यहां यह भी बताया गया है, कि यह प्रत्यक्ष का लक्षण केवल जीवात्मा के प्रत्यक्ष का लक्षण है। ईश्वर का प्रत्यक्ष तो नित्य होता है, वह तो जन्य हो ही नहीं सकता। इसलिये उस में यह लक्षण नहीं घट सकता। गौतम के न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष के लक्षण में कहा गया है, कि 'जो इन्द्रिय और वस्तु के सन्निकर्ष से उत्पन्न हो' यह लक्षण भी जीवात्मा को होने वाले जन्य प्रत्यक्ष का ही लक्षण हो सकता है।

न्याय सूत्र के प्रत्यक्ष लक्षण में 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो उत्पन्न हो,' इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष के तीन विशेषण हैं:— (१) 'अव्यपदेश्य' जो शब्द से कथन करने योग्य न हो (२) अव्यभिचारिन् जो भ्रान्ति रहित हो और (३) 'व्यवसायात्मक' जो निश्चयात्मक हो। पहिला विशेषण इसलिये है कि व्यवहार काल में जिस ज्ञान का निर्देश करने के लिये (जैसे-'यह रूप जानता है', 'यह रस जानता है') शब्द का व्यवहार भले ही हो, पर ज्ञान के उत्पन्न होने में शब्द का व्यवहार न हो अर्थात् रूप आदि के प्रत्यक्ष होने में 'रूप' आदि शब्द उपयोग मे नहीं आते और (२) दूसरे विशेषण से यह कहा गया, कि जो ज्ञान भ्रम से रहित हो अर्थात् जिस ज्ञान का बाद में बाध न होता हो, इसलिये मृगतृष्णा में जल का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जायगा (३) तीसरे विशेषण से संशय की व्यावृत्ति हुई अर्थात् 'स्थाणु या पुरुष' इस प्रकार का संशयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं माना जायगा। परन्तु वाचस्पति

मिश्र ने और उनके बाद के अनेक न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के लोगों ने 'अव्यपदेश्य' का अर्थ किया है (१) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, और 'व्यवसायात्मक' का अर्थ किया है (२) सविकल्पक प्रत्यक्ष। और इस प्रकार सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को इस सूत्र से निकाला है। परन्तु यह केवल क्लिष्ट कल्पना है 'क्योंकि 'अव्यभिचारिन्' विशेषण बीच में पड़ा है, और यदि सूत्रकार ने दो प्रकार के प्रत्यक्ष ही गिनाये हैं तो बीच में यह विशेषण नहीं आ सकता था, इस के सिवाय न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने भी उपर्युक्त अर्थ नहीं किया है। वस्तुतः बात यह प्रतीत होती है, कि जब दिङ्-नाग के द्वारा प्रत्यक्ष में सविकल्पक और निर्विकल्पक का भेद किया गया, और बाद में उस भेद को न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में भी स्थान मिला, तो यह आवश्यक हुआ, कि इसका मूल गोतम के सूत्र में ही ढूंढा जाय। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, सूत्र से यह भेद प्रकट नहीं होता।

ऊपर जो प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया, उसकी ईश्वर के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति है, यह स्पष्ट है। इसलिये नव्यन्याय के संस्थापक गङ्गेश ने तत्त्वचिन्तामणि में प्रत्यक्ष का एक नया ही लक्षण किया, जो यहां उद्धृत किया गया है— अर्थात् 'प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसमें अन्य ज्ञान करण न हो' । यहां यह बताया गया कि शेष सभी ज्ञानों में अर्थात् प्रत्यक्ष से अतिरिक्त तीनों प्रकार की अनुभूतियों में (अनुमिति, उपमिति और शाब्दी अनुभूति में) तथा स्मृति में कोई ज्ञान अवश्य करण या निमित्त होता है। परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान में कोई अन्य ज्ञान निमित्त नहीं होता। इसलिये यह प्रत्यक्ष का निर्दोष लक्षण होगा, और यह लक्षण ईश्वर के प्रत्यक्ष में भी चला जायगा।

इसके बाद 'अनुमिति' का लक्षण किया गया कि 'परामर्शजन्य ज्ञान अनुमिति है'। परामर्श क्या है ? पर्वत में धूम को देखकर धूम की वह्नि के साथ व्याप्ति का स्मरण होता है और फिर पर्वत में हुआ धूम का ज्ञान उस स्मृति से विशिष्ट हो जाता है और हमको इस प्रकार का ज्ञान होता है कि

'वह्नि से व्याप्य धूम वाला यह पर्वत है' अर्थात् जिस धूम की वह्नि के साथ व्याप्ति है (जो वह्नि के साथ हो पाया जाता है और उसके बिना कभी नहीं पाया जाता) उस धूम से युक्त यह पर्वत है। इस प्रकार 'वह्निव्याप्य धूम वाला यह पर्वत है इसी ज्ञान का नाम परामर्श है। इस ज्ञान के होते ही 'पर्वत वह्नि वाला है' यह अनुमिति तत्काल हो जाती है। इसलिए अनुमिति का लक्षण किया कि 'परामर्शजन्य ज्ञान अनुमिति है'। परन्तु इसमें भी एक दोष आता है। परामर्श नामक ज्ञान होने पर उस ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष होता है वह मानस प्रत्यक्ष भी तो परामर्शजन्य ही है, इसलिये उस मानस प्रत्यक्ष में अनुमिति का लक्षण चला जायगा। इसलिये कहा गया कि अनुमिति के लक्षण में 'परामर्शजन्य' इसके साथ साथ यह भी डाल देंगे कि 'जो हेतु को विषय न करे'। परामर्श नामक ज्ञान का जो प्रत्यक्ष है वह परामर्श ज्ञान को विषय करेगा और परामर्श का स्वरूप है 'वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वत' अर्थात् उसमें धूमरूप हेतु भी आ जाता है और परामर्श में जब धूमरूप हेतु विद्यमान है तो परामर्श के मानस प्रत्यक्ष में भी वह हेतु विषय हो ही जायगा। इस प्रकार 'जो हेतु को विषय न करे' ऐसा डालने से परामर्श के मानस प्रत्यक्ष में अनुमिति का लक्षण न जायगा। परन्तु यहां एक और शङ्का होती है कि कभी कोई अनुमिति भी ऐसी हो सकती है कि जो हेतु को विषय करती हो उदाहरणार्थ यदि अनुमिति का स्वरूप हो कि 'यह धूमवान् पर्वत वह्निमान् है' तो ऐसी अनुमिति में उपर्युक्त लक्षण (जिसमें 'जो हेतु को विषय न करे,' यह अंश डाल दिया है) अव्याप्त होगा, इसलिये कहते हैं हम अनुमिति का लक्षण इस प्रकार करेंगे कि परामर्शजन्य और हेतु को विषय न करने वाले ज्ञान में रहने वाली अनुभवत्वव्याप्यजाति वाला होना, ऐसी अनुभवत्वव्याप्यजाति अनुमितित्व ही हो सकती है और वह हेतु को विषय करने वाली अनुमिति में भी रहेगी ही।

इसके बाद यह कहा गया कि 'व्याप्ति ज्ञान है करण जिसमें, वह

अनुमिति है' इस प्रकार भी लक्षण किया जा सकता है और इसी प्रकार के लक्षण उपमिति और शाब्दी प्रमा आदि के भी हो जायेंगे। परन्तु निष्कर्ष में यह कहा गया कि सबसे अधिक उपयुक्त लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है कि किसी भी अनुमिति के एक विशेष स्थल (विशेष व्यक्ति) को लेकर यह लक्षण किया जाय कि 'उस प्रकार की (अनुमिति) व्यक्ति में रहने वाली और प्रत्यक्ष में न रहने वाली जाति वाला होना'। ऐसी जाति जो उस व्यक्ति में रहती हो और प्रत्यक्ष में न रहती हो केवल 'अनुमितित्व' ही हो सकती है, क्योंकि उस व्यक्ति में 'अनुमितित्व' और 'अनुभूतित्व' ये दो जातियां होंगी, उसमें से पिछली 'प्रत्यक्ष में न रहने वाली' इस विशेषण से व्यावृत्त होगी, इस प्रकार 'अनुमितित्व' ही बच रहती है और वह जहां रहती हो, वह अनुमितित्व का लक्षण हो जायगा। उसी शैली पर किसी प्रत्यक्ष व्यक्ति को लेकर 'उसमें रहने वाली और अनुमिति में न रहने वाली जाति वाला होना' यह प्रत्यक्ष का भी लक्षण किया जा सकता है, और इसी प्रकार उपमिति और शाब्दी अनुभूति के भी लक्षण हो सकते हैं।

आलोचना:— यहां पर न्याय-वैशेषिक शास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रकार के प्रमाण माने गए हैं जिनसे चार ही प्रकार की अनुभूति होती है। भारतीय दर्शन शास्त्रों में यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है कि कौन शास्त्र कितने प्रमाण मानता है। चार प्रमाण वस्तुतः न्याय में माने जाते हैं, वैशेषिक केवल दो ही प्रमाण मानता है। न्यायकारिकावली यद्यपि मूलतः वैशेषिक का प्रक्रिया ग्रन्थ है परन्तु प्रमाण के विषय में 'न्याय' को आदर्श मानकर न्याय-वैशेषिक शास्त्र के सम्मिलित ग्रन्थों में चार प्रमाण ही माने जाते हैं, भिन्न भिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रमाण निम्न प्रकार से माने जाते हैं:—

चार्वाक	प्रत्यक्ष	(एक प्रमाण)
बौद्ध और वैशेषिक	प्रत्यक्ष और अनुमान	(दो प्रमाण)
सांख्य	उपर्युक्त दोनों और शब्द	(तीन प्रमाण)

न्याय	उपर्युक्त तीनों और उपमान	(चार प्रमाण)
प्रभाकर मीमांसा	उपर्युक्त चार तथा अर्थापत्ति	(पांच प्रमाण)
कुमारिल मीमांसा	उपर्युक्त पांच तथा अभाव प्रमाण	(छः प्रमाण)
पौराणिक	उपर्युक्त छै तथा संभव और ऐतिह्य	(आठ प्रमाण)

प्रत्यक्ष निरूपण

का०—घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधं मतम् ॥५२

सि० मु०:— जन्यप्रत्यक्षं विभजते— घ्राणजादीति। घ्राणजं रसनं चाक्षुषं स्पार्शनं श्रौत्रं मानसमिति षड्विधं प्रत्यक्षम्। न चेश्वरप्रत्यक्षस्याविभाजनान्न्यूनत्वम्, जन्यप्रत्यक्षस्यैव निरूपणीयत्वादुक्तसूत्रानुसारात् ॥ ५२ ॥

अनु०:— घ्राणज आदि के भेद से प्रत्यक्ष छै प्रकार का होता है। 'घ्राणजादि' इत्यादि करिकांश से जन्य प्रत्यक्ष का विभाग करते हैं। घ्राणज, रासन, चाक्षुष, स्पार्शन, श्रौत्र और मानस ये छै प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि इस विभाग में ईश्वर प्रत्यक्ष के न आने से न्यूनता रह गई, क्योंकि उक्त 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्' इत्यादि सूत्र के अनुसार 'जन्यप्रत्यक्ष' ही यहां विवेचनीय है।

व्याख्या:— पांच बाह्येन्द्रिय और एक मानस अन्तरिन्द्रिय, इस प्रकार छै इन्द्रियों के होने से प्रत्यक्ष छै प्रकार का है। यह छै प्रकार का विभाग 'जन्य प्रत्यक्ष' का है। इसीलिये इस विभाग में ईश्वर प्रत्यक्ष को नहीं कहा गया है।

का०:-घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः।
तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः॥५३॥

सि० मु०:— गोचर इति। ग्राह्य इत्यर्थः। गन्धत्वादि-

रिति। आदिपदात् सुरभित्वादिपरिग्रहः। गन्धस्य प्रत्यक्षत्वा-त्तद्वृत्तिजातिरपि प्रत्यक्षा, गन्धाश्रयग्रहणे तु घ्राणस्यासामर्थ्य-मिति बोध्यम्। तथा रस इति। रसत्वादिसहित इत्यर्थः। तथा शब्दोऽपि शब्दत्वादिसहितः। गन्धो रसश्च— उद्भूतो बोध्यः॥ ५३॥

अनु०:— घ्राण इन्द्रिय का विषय (ग्राह्य) गन्ध गुण तथा गन्धत्व आदि जाति को माना गया है (स्मृतः), तथा रसनेन्द्रिय का विषय रस, और श्रोत्रेन्द्रिय का (विषय) शब्द है।

'गोचर' का अर्थ है ग्राह्य (जो ग्रहण किया जाय अर्थात् विषय)। 'गन्धत्वादि' अंश की व्याख्या करते हैं। आदि' पद से 'सुरभित्व' आदि का ग्रहण होता है। गन्ध के प्रत्यक्ष होने से उसमें रहने वाली जाति भी प्रत्यक्ष होती है। (परन्तु) गन्ध के आश्रय (द्रव्य) के ग्रहण करने में घ्राण इन्द्रिय समर्थ नहीं है, ऐसा जानना चाहिए। 'तथा रस' इत्यादि की व्याख्या करते हैं। 'रसत्व आदि से सहित (रस का ग्रहण रसनेन्द्रिय करती है), यह तात्पर्य है। तथा शब्द भी शब्दत्व सहित (श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है, ऐसा तात्पर्य है)। (यहां) गन्ध और रस उद्भूत समझने चाहिए।

व्याख्या:— जिस प्रकार रूप और रूप सहित द्रव्य दोनों का ही चक्षु-रिन्द्रिय से ग्रहण होता है उस प्रकार गन्ध का ग्रहण तो घ्राणेन्द्रिय से होता है किन्तु गन्ध सहित द्रव्य के ग्रहण करने में घ्राणेन्द्रिय समर्थ नहीं होती। अर्थात् नासिका केवल फूल के गन्ध का ग्रहण कर सकती है और फूल का प्रत्यक्ष तो केवल चक्षुरिन्द्रिय करती है। यदि चक्षुरिन्द्रिय का उस फूल से सन्निकर्ष न हो तो घ्राणेन्द्रिय से केवल गन्ध का प्रत्यक्ष होगा न कि गन्ध वाले द्रव्य का भी। परन्तु गन्ध के साथ गन्धत्व जाति, या रूप के साथ रूपत्व जाति और रस के साथ रसत्व जाति का, अथवा शब्द के साथ शब्दत्व

जाति का भी प्रत्यक्ष होता है। यहां पर 'गन्ध' और 'रस' जिनका प्रत्यक्ष घ्राण और रसना इन्द्रिय से होता है वे उद्भूत (प्रकट) होने चाहिएं अर्थात् अनुद्भूत गन्ध और रस का प्रत्यक्ष नहीं होता।

का०—उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये।
विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिणामयुक्तम्॥५४
क्रियाजातिर्योग्यवृत्तिः समवायश्च तादृशः।
गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः॥५५॥

सि० मु०ः–ग्रीष्मोष्मादावनुद्भूतं रूपमिति न तत्प्रत्यक्षम्। तद्वन्ति उद्भूतरूपवन्ति। योग्येति। पृथक्त्वादिकमपि योग्य-व्यक्तिवृत्तितया बोध्यम्। तादृशः योग्यव्यक्तिवृत्तिरित्यर्थः। चक्षुर्योग्यत्वमेव कथं तदाह— गृह्णातीति। आलोकसंयोग उद्भूतरूपंच चाक्षुषप्रत्यक्षे कारणम्। तत्र द्रव्यचाक्षुषं प्रति तयोः समवायसम्बन्धेन कारणत्वम्। द्रव्यसमवेतरूपादिप्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन। द्रव्यसमवेतसमवेतस्य रूपत्वादेः प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेनेति।।५५॥

अनु०ः— उद्भूत रूप (अर्थात् प्रकट हुआ रूप) नेत्र का विषय होता है, और उस (उद्भूत रूप) वाले द्रव्य, पृथक्त्व, संख्या, विभाग, संयोग, परत्वापरत्व, स्नेह, द्रवत्व, परिमाण (प्रत्यक्ष) योग्य द्रव्य की क्रिया और जाति, तथा वैसा ही (प्रत्यक्ष योग्य द्रव्य का) समवाय (ये सब नेत्र के विषय होते हैं)। चक्षु प्रकाश और उद्भूतरूप के सम्बन्ध से ग्रहण करता है।

'उद्भूत रूपम्' इस अंश की व्याख्या करते हैं। ग्रीष्म ऋतु की गरमी में 'अनुद्भूत' (अप्रकट) रूप होता है, इसलिए उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। 'तद्वन्ति' का अर्थ है उद्भूत रूप वाले (द्रव्य आदि का प्रत्यक्ष होता है)। 'योग्य' इत्यादि अंश की व्याख्या करते हैं। पृथक्त्वादि भी प्रत्यक्ष योग्य व्यक्ति में रहने वाले समझने चाहियें, (अर्थात् उनका प्रत्यक्ष होता है)। 'तादृश:' का अर्थ है प्रत्यक्ष योग्य व्यक्ति में रहने वाला (अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य व्यक्ति में रहने वाले समवाय का प्रत्यक्ष होता है)। किस प्रकार (पृथक्त्व आदि) चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय होते हैं ? उसका उत्तर देते हैं 'गृह्णाति' इत्यादि अंश से। प्रकाश का संयोग और उद्भूत रूप चाक्षुष प्रत्यक्ष में कारण है। उसमें (भी), द्रव्य चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति वे (प्रकाश-संयोग और उद्भूत रूप) समवाय सम्बन्ध से कारण होते हैं। द्रव्य समवेत रूप आदि के प्रत्यक्ष में स्वाश्रय-समवाय-सम्बन्ध से और द्रव्य में समवेत (रूपादि) में समवेत रूपत्वादि के प्रत्यक्ष में स्वाश्रय-समवेत -समवाय सम्बन्ध से कारण होते हैं।

व्याख्या :— ग्रीष्म ऋतु में जो गरमी होती है वह भी तैजस होने से रूपवाली होनी चाहिये, परन्तु उसका रूप दिखाई नहीं देता। इसलिये उसमें अनुद्भूत रूप माना जाता है अतएव उस रूप का और उस रूप से युक्त गरमी का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। यहां यह बताया गया कि पृथक्त्व, संख्या संयोग विभाग आदि गुण यदि प्रत्यक्ष योग्य व्यक्ति में पाये जांय तो उनका प्रत्यक्ष होता है। किसी वस्तु के चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिये यह आवश्यक है कि उस वस्तु का प्रकाश से संयोग हो और उसमें उद्भूत रूप हो। द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष होने में ये दोनों अर्थात् प्रकाश सयोग और उद्भूत रूप समवाय सम्बन्ध में कारण होते हैं, क्योंकि प्रकाश और वस्तु का संयोग उभयनिष्ठ होने से वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है, और उद्भूत रूप भी उस वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है; परन्तु द्रव्य समवेत 'रूप' आदि के प्रत्यक्ष में वे दोनों 'स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध' से कारण होते हैं यहां 'स्व' पद से

प्रकाशसंयोग और उद्भूत रूप का ग्रहण होता है उनका आश्रय घट आदि द्रव्य है उसमें रूप का समवाय होता है, इसी प्रकार द्रव्य में समवेत जो रूप, उसमें समवेत जो रूपत्व, उसके प्रत्यक्ष में प्रकाश संयोग और उद्भूत-रूप स्वाश्रयसमवेतसमवाय सम्बन्ध से कारण होते हैं, क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से 'स्व' पद से प्रकाश संयोग और उद्भूत रूप आते हैं। उनका आश्रय घट आदि द्रव्य है, उसमें समवेत रूप है और उस रूप में रूपत्व का समवाय होता है।

का०—उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः।
रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं रूपमत्रापि कारणम् ॥५६॥

द्रव्याध्यक्षे —

सि० मु०:—उद्भूतेति। उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं त्वचो गोचरः। सोऽपि उद्भूतस्पर्शोऽपि स्पर्शत्वादिसहितः। रूपान्यदिति। रूपभिन्नं रूपत्वादिभिन्नं च यच्चक्षुषो योग्यं तत्त्वगिन्द्रियस्यापि ग्राह्यम्। तथा च पृथक्त्वसंख्यादयो ये चक्षुर्ग्राह्या गुणा उक्ता एवं क्रियाजातयो योग्यवृत्तयश्च ते त्वचो ग्राह्या इत्यर्थः। अत्रापि त्वगिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षेऽपि रूपं कारणम्। तथा च बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं कारणम्।

अनु०:— उद्भूत स्पर्श वाले द्रव्य को त्वक् इन्द्रिय भी ग्रहण करती है। रूप को छोड़कर अन्य जो भी चक्षु से प्रत्यक्ष योग्य है (वह त्वक् इन्द्रिय से भी ग्रहण किया जाता है) और यहां भी (त्वक् इन्द्रिय से भी) द्रव्य के प्रत्यक्ष (अध्यक्ष) में रूप ही कारण है।

'उद्भूत' इत्यादि अंश की व्याख्या करते हैं। उद्भूत स्पर्श वाला द्रव्य त्वक् इन्द्रिय का विषय होता है। वह उद्भूतस्पर्श स्पर्शत्व आदि जाति

सहित (त्वक् इन्द्रिय का विषय होता है) 'रूपान्यत्' इस अंश की व्याख्या करते हैं। रूप से भिन्न और रूपत्व आदि से भिन्न जो चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष योग्य है वह 'त्वक्' इन्द्रिय से भी ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार पृथकत्व संख्या आदि जो चक्षु से ग्राह्य गुण कहे गये हैं, और प्रत्यक्ष योग्य वस्तु में रहने वाली क्रिया और जाति भी त्वक् इन्द्रिय से ग्राह्य होती हैं। यहां पर भी अर्थात् त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष में भी रूप कारण होता है। इस प्रकार बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष (मात्र) में रूप कारण होता है।

व्याख्या:—उद्भूत स्पर्श वाले द्रव्य को त्वक् इन्द्रिय भी ग्रहण करती है। ऊपर यह कहा है कि जहां उद्भूत रूप है ऐसे द्रव्य का चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण होता है। परन्तु यदि उद्भूत रूप वाला द्रव्य उद्भूत स्पर्श वाला भी है तो उसका त्वक् इन्द्रिय से भी प्रत्यक्ष होता है। जिस घट को मैं चक्षु से देखता हूं उसी को त्वक् इन्द्रिय से भी ग्रहण करता हूं ऐसा प्रतीत होता है। इसी प्रकार यह बताया गया है 'रूप' अथवा रूपत्व जाति को छोड़कर जो भी चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष के योग्य है उसका त्वक् इन्द्रिय से भी प्रत्यक्ष होता है। इसलिये पृथकत्व संख्या आदि गुण या क्रिया और जाति यदि वे प्रत्यक्ष योग्य द्रव्य में हों तो उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष के सिवाय 'त्वाच प्रत्यक्ष' भी हो सकता है क्योंकि हम त्वगिन्द्रिय से भी किसी पदार्थ की संख्या को गिन सकते हैं या संयोग विभाग अथवा क्रिया का अनुभव कर सकते हैं। परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिये कि त्वगिन्द्रिय से होने वाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में 'रूप' कारण है अर्थात् रूप रहित द्रव्य का यदि स्पर्श भी हो तो उस द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसीलिये वायु का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता परन्तु रूपयुक्त घट का चक्षु से प्रत्यक्ष होता है और उसी घट का त्वचा से भी प्रत्यक्ष हो सकता है। इस प्रकार स्पर्श गुण का प्रत्यक्ष तो त्वचा से बिना रूप को भी हो सकता है परन्तु स्पर्श वाले द्रव्य का प्रत्यक्ष तभी होगा जब उस द्रव्य में रूप भी हो। इसलिये बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष मात्र में रूप को कारण मानते हैं अर्थात् जिसमें रूप (उद्भूत रूप) होता है उसी का बहिरिन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष होता है।

सि० मु०– नवीनास्तु बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपं न वा स्पर्शः कारणं प्रमाणाभावात्, किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूपं, स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमन्वयव्यतिरेकात्। बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे किं कारणमिति चेत् न किञ्चित्, आत्माऽवृत्तिशब्दभिन्नविशेषगुणवत्त्वं वा प्रयोजकमस्तु। रूपस्य कारणत्वे लाघवमिति चेन्न, वायोस्त्वगिन्द्रियेणाग्रहणप्रसङ्गात्। इष्टापत्तिरिति चेदुद्भूतस्पर्श एव लाघवात्कारणमस्तु। प्रभाया अप्रत्यक्षत्वे त्विष्टापत्तिरेव किं नेष्यते। तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवत् वायुं स्पृशामीति प्रत्यक्षस्य सम्भवाद्वायोरपि प्रत्यक्षं सम्भवत्येव। बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपस्य न वा स्पर्शस्य हेतुत्वम्। वायुप्रभयोरेकत्वं गृह्णत एव, क्वचिद्द्वित्वादिकमपि, क्वचित् सङ्ख्यापरिमाणाद्यग्रहो दोषादित्याहुः ॥५६॥

अनु०:— नवीन नैयायिकों का यह मत है (अन्त में आये 'आहुः' के साथ अन्वय है) कि बहिरिन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष में रूप कारण नहीं है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है किन्तु चाक्षुष प्रत्यक्ष में रूप, और स्पार्शन प्रत्यक्ष में स्पर्श कारण है। क्योंकि (उसी प्रकार का) अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है। यदि यह प्रश्न किया जाय, कि बहिरिन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष मात्र में (अर्थात् सब प्रकार के वहिरिन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष में) क्या कारण है तो (नवीनों का उत्तर है कि) कुछ भी नहीं (अर्थात् बहिरिन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष मात्र के प्रति कोई एक कारण नहीं हो सकता) अथवा आत्मा में न रहने वाले शब्द भिन्न विशेष गुण वाला होना ही (बहिरिन्द्रिय जन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष मात्र में) कारण है [क्योंकि इस प्रकार रूपादि विशेष गुण

द्रव्य आयेंगे, उनसे युक्त पृथिवी जल, तेजस् और (नवीन मत से) वायु का भी प्रत्यक्ष माना ही जाता है] यदि यह कहो कि रूप के कारण मानने में लाघव है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि (रूप को बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्य मात्र के प्रत्यक्ष के कारण मानने में) वायु का त्वक् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं बन सकेगा। (यदि इस पर प्राचीन नैयायिक कहे कि) हमें यह बात अभीष्ट ही है (अर्थात् हम वायु का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष मानते ही नहीं) (तो इस पर प्राचीन नैयायिक कहता है कि) लाघव की दृष्टि से उद्भूत स्पर्श को ही (बहिरिन्द्रिय जन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष मात्र में) कारण क्यों न मान लो (और यदि कहो कि ऐसा मानने से) प्रभा (प्रकाश) का प्रत्यक्ष न होगा, तो उसमें (नवीन नैयायिक कहता है कि) इष्टापत्ति ही (अर्थात् प्रत्यक्ष न होने को अभीष्ट ही) क्यों न मान ली जाय, क्योंकि जिस प्रकार 'प्रकाश को देखता हूं' यह प्रतीत होती है। उसी प्रकार 'वायु को स्पर्श करता हूं' यह प्रतीति भी होती है, इसलिये (यदि प्रतीति को ही देखो तो) वायु का भी प्रत्यक्ष होता ही है, (इसलिये) बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्र में न रूप और न स्पर्श की ही कारणता है (क्योंकि वायु और प्रभा दोनों का ही प्रत्यक्ष होता है, इसका एक यह भी प्रमाण है कि) वायु और प्रभा में रहने वाली कहीं एकत्व संख्या और कहीं द्वित्व संख्या की भी प्रतीति होती है, और कहीं (सजातीय में मिल जाना रूप) दोष से (वायु के) संख्या परिमाण आदि का ग्रहण नहीं भी होता।

व्याख्या:— नवीन और प्राचीन नैयायिकों का अन्तर यह है- कि प्राचीन नैयायिक यह मानते हैं, कि जिस द्रव्य में रूप होता है उसी का प्रत्यक्ष होता है। परन्तु जिस द्रव्य में रूप हो और स्पर्श भी हो तो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष के साथ साथ स्पार्शन प्रत्यक्ष भी हो सकता है। जैसे घट का चाक्षुष और स्पार्शन दोनों प्रत्यक्ष होता है। परन्तु जहां रूप नहीं हैं, ऐसे द्रव्य के 'स्पर्श' का तो प्रत्यक्ष हो सकता है। जैसे वायु के स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु स्पर्श वाले द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता, अर्थात् प्राचीनों

के मत में 'वायु' का त्वचा द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्युत वायु का अनुमान ही किया जाता है। परन्तु नवीन नैय्यायिकों के मत में त्वक् इन्द्रिय से वायु के स्पर्श का ही नहीं, प्रत्युत स्पर्शयुक्त वायु द्रव्य का भी स्पर्श होता है। इसलिये नवीन नैयायिक बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष मात्र के प्रति रूप को कारण नहीं मानते। प्रत्युत चाक्षुष प्रत्यक्ष में रूप को और स्पार्शन प्रत्यक्ष में स्पर्श को कारण मानते हैं। जिन द्रव्यों में रूप और स्पर्श दोनों पाये जाते हैं जैसे घट आदि, उनका प्रत्यक्ष दोनों के मत में होता है। परन्तु नवीन कहते हैं, कि यदि रूप के न होने से वायु का प्रत्यक्ष न माना जाय, तो स्पर्श के न होने से प्रभा का भी प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा क्यों माना जाय। यदि स्पर्शरहित प्रभा का प्रत्यक्ष माना जाता है, तो रूपरहित वायु का भी प्रत्यक्ष मानना ही चाहिये, क्योंकि प्रभा और वायु दोनों में ही संख्या का भी ग्रहण होता है, अर्थात् यह 'एक प्रभा है, यह दो प्रभायें हैं' तथा यह एक वायु है, और यह दक्षिण और उत्तर के दो वायु है, इस प्रकार की प्रतीति होती है। और क्योंकि उसी द्रव्य की संख्या का प्रत्यक्ष हो सकता है जिस द्रव्य का स्वयं भी प्रत्यक्ष हो, इसलिये प्रभा और वायु की संख्या के प्रत्यक्ष होने से यह भी स्पष्ट है, कि प्रभा और वायु का प्रत्यक्ष होता है।

अब यह विचार करते हैं, कि ज्ञान मात्र में (अर्थात् सब प्रकार के ज्ञानों में) सामान्य कारण क्या है? उसका उत्तर दिया कि :—

का०— ········ त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम्।

सि० मु०:— त्वङ्मनःसंयोगो ज्ञानसामान्ये कारणमित्यर्थः। किं तत्र प्रमाणम्, सुषुप्तिकाले त्वचं त्यक्त्वा पुरीतति वर्तमानेन मनसा ज्ञानाजननमिति।

अनु०:—मनस् के साथ त्वक् इन्द्रिय का संयोग (सामान्य-रूपेण) ज्ञान मात्र का कारण है।

त्वक् और मनस् का संयोग ज्ञान सामान्य में कारण है, यह तात्पर्य है, उसमें क्या प्रमाण है ? सुषुप्ति काल त्वचा को छोड़ कर 'पुरीतत्' (नाम की निद्रा-नाडी) में वर्तमान मनस् के द्वारा ज्ञान का पैदा न करना ही (इस बात का प्रमाण है कि त्वक् और मनस् का संयोग ज्ञान मात्र में सामान्य कारण है) ।

व्याख्याः- बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष मात्र में क्या नियामक है, इसका विचार करने के बाद अब यह बतलाते हैं कि प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का अर्थात् ज्ञान सामान्य का क्या कारण है ? नैयायिक का उत्तर है कि ज्ञान सामान्य के प्रति 'त्वक् और मनस् का संयोग' कारण है। यह माना जाता है कि निद्रा अर्थात् गाढ़ निद्रा (स्वप्न से भिन्न सुषुप्ति) अवस्था में मनस् 'पुरीतत्' नाम की नाडी में, जिसे निद्रा नाडी भी कहते हैं, चला जाता है और मनस् के उस नाडी में चले जाने से मनस् का त्वचा से संयोग नहीं हो सकता, इसलिये सुषुप्ति अवस्था में कोई भी ज्ञान नहीं होता । इससे यह आ जाता है कि त्वचा और मनस् का संयोग ज्ञान मात्र में कारण है। जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में मनस् 'पुरीतत्' नाड़ी में नहीं होता, इसलिये उसका त्वचा से सम्बन्ध हो सकता है, अतएव उन अवस्थाओं में ज्ञान सम्भव है।

सि० मु०ः— ननु सुषुप्तिकाले किं ज्ञानं भविष्यति अनुभवरूपं स्मरणरुपं वा । नाद्यः, अनुभवसामग्र्यभावात् । तथाहि प्रत्यक्षे चक्षुरादिना मनःसंयोगस्य हेतुत्वात्तदभावादेव न चाक्षुषादिप्रत्यक्षम् । ज्ञानादेरभावादेव न मानसं प्रत्यक्षम् । ज्ञानाद्यभावे चात्मनोऽपि न प्रत्यक्षमिति । एवं व्याप्तिज्ञाना-भावादेव नानुमितिः । सादृश्यज्ञानाभावान्नोपमितिः । पदज्ञाना-भावान्न शाब्दबोधः । इत्यनुभवसामग्र्यभावान्नानुभवः ।

उद्बोधकाभावाच्च न स्मरणम् । मैवम् । सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्ने-च्छादिव्यक्तेस्तत्सम्बन्धेनात्मनश्च प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । तदती-न्द्रियत्वे मानाभावात् । सुषुप्तिप्राक्काले निर्विकल्पकमेव नियमेन जायत इत्यत्रापि प्रमाणाभावात् ।

अनु०:- प्रश्न होता है कि सुषुप्ति काल में किस प्रकार का ज्ञान होगा, अनुभवरुप या स्मरणरूप । इनमें से पहिला (अनुभव रूप ज्ञान) सम्भव नहीं, अनुभव की सामग्री का अभाव होने से, क्योंकि (तथाहि) प्रत्यक्ष में 'चक्षु आदि का मनस् से संयोग' हेतु है उसके न होने से 'चाक्षुष' आदि प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकते । और ज्ञानादि के अभाव से (ज्ञानादि का) मानस प्रत्यक्ष भी न होगा, तथा ज्ञानादि का अभाव होने पर आत्मा का भी प्रत्यक्ष न होगा । इसी प्रकार व्याप्ति ज्ञान के अभाव से अनुमिति भी नहीं हो सकती, सादृश्यज्ञान के अभाव से उपमिति नहीं हो सकती, पदज्ञान के अभाव से शाब्दबोध नहीं हो सकता, तथा उद्बोधक के अभाव से स्मरण नहीं हो सकता। (उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं कि) यह (युक्ति) ठीक नहीं (क्योंकि) सुषुप्ति होने से पहिले समय में उत्पन्न जो इच्छा आदि व्यक्ति (आत्मा के विशेष गुण), उन इच्छा आदि का प्रत्यक्ष होना तथा उनके (इच्छा आदि के) सम्बन्ध से (अर्थात् इच्छा आदि का अधिकरण होने से) आत्मा का भी प्रत्यक्ष होना आ पड़ेगा (प्रसङ्गात्) । क्योंकि उसके (ज्ञान के) अतीन्द्रिय (प्रत्यक्षायोग्य) होने में कोई प्रमाण नहीं है । (और यदि यह कहा जाय कि) सुषुप्ति से पहिले समय में सदा (नियमेन) निर्विकल्पक ज्ञान ही उत्पन्न होता है (कि जिसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता), तो इसमें भी कोइ प्रमाण नहीं है ।

व्याख्या:— ऊपर न्याय का यह सिद्धान्त बतलाया गया था कि सुषुप्ति में किसी प्रकार के ज्ञान के न होने से ज्ञान सामान्य के प्रति 'त्वक् और मनस् के संयोग' को कारण माना जाता है । यहां पर यह शङ्का उठायी गयी है कि त्वक् और मनस् को ज्ञान सामान्य के प्रति कारण मानने की आवश्यकता

नहीं, क्योंकि सुषुप्ति में ज्ञान का अभाव तो स्वयमेव ही होगा कारण कि वहां पर किसी प्रकार के ज्ञान की सामग्री ही नहीं है। चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष स्थल में बाह्य वस्तु से चक्षु आदि इन्द्रियों का संयोग होने पर इन्द्रिय का मनस् से संयोग होता है और इन्द्रिय-मनस्-संयोग चाक्षुष आदि प्रत्यक्षों का कारण है और उसके विना 'चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष' स्वयमेव नहीं होंगे। इस प्रकार सामग्री के अभाव से ही 'मानस प्रत्यक्ष' भी न होगा और सामग्री के अभाव से ही अनुमिति, उपमिति या शाब्द-बोध भी सम्भव नहीं, तथा उद्बोधक के न होने से स्मरण भी सम्भव नहीं। इस प्रकार सुषुप्ति में ज्ञान का अभाव तो सामग्री के अभाव से ही आ जाता है, उसके लिये 'त्वङ्मनःसंयोग' को ज्ञान सामान्य का निमित्त मानने की आवश्यकता नहीं। इसका उत्तर नैयायिक यह देता है कि सुषुप्ति प्रारम्भ होने से पहिले आत्मा के अन्दर जो इच्छा या ज्ञान आदि धर्म होंगे उनका प्रत्यक्ष सुषुप्ति काल में भी बना रहना चाहिये, और न केवल ज्ञान इच्छा आदि का प्रत्युत उनके द्वारा आत्मा का भी प्रत्यक्ष सुषुप्ति काल में बना रहेगा। और यह नहीं कहा जा सकता कि सुषुप्ति से पहिले क्षण में उत्पन्न ज्ञान अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष के अयोग्य) ही होता है। यदि यह कहा जाय कि सुषुप्ति से पहिले का ज्ञान 'निर्विकल्पक' ही होता है अतएव वह अतीन्द्रिय होता है तो इसमें भी कोई प्रमाण नहीं।

सि० मु०:— अथ ज्ञानमात्रे त्वङ्मनःसंयोगस्य यदि कारणत्वं तदा रासनचाक्षुषादिप्रत्यक्षकाले त्वाचप्रत्यक्षं स्यात्। विषयत्वक्संयोगस्य त्वङ्मनःसंयोगस्य च सत्त्वात्। परस्परप्रतिबन्धादेकमपि वा न स्यादिति। अत्र केचित्पूर्वोक्त-युक्त्या त्वङ्मनोयोगस्य ज्ञानहेतुत्वे सिद्धे चाक्षुषादिसामग्र्याः स्पार्शनादिप्रतिबन्धकत्वमनुभवानुरोधात्कल्प्यत इति, अन्ये तु सुषुप्त्यनुरोधाच्चर्ममनःसंयोगस्य ज्ञानहेतुत्वं कल्प्यते, चाक्षु-

षादिप्रत्यक्षकाले त्वङ्मनःसंयोगाभावान्न स्पार्शनप्रत्यक्षमिति वदन्ति ।

अनुः— अब (यदि यह प्रश्न किया जाय कि) यदि ज्ञान मात्र में त्वक् और मनस् का संयोग कारण है तो रसना द्वारा या चक्षु द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष के समय में भी त्वक् सम्बन्धी (त्वाच) प्रत्यक्ष प्राप्त होगा; क्योंकि (रासन और चाक्षुष प्रत्यक्ष काल में) विषय और त्वचा का संयोग तथा त्वचा और मनस् का संयोग विद्यमान है, अथवा एक दूसरे की (सामग्री से) एक दूसरे को रोक देने से कोई भी प्रत्यक्ष न हो । (इसका उत्तर देते हैं कि) इस विषय में कोई लोग पूर्वोक्त युक्ति से (अर्थात् सुषुप्ति में ज्ञान के अभाव से) 'त्वङ्मनःसंयोग' के ज्ञान के हेतु सिद्ध हो जाने के कारण अनुभव के अनुसार चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष की सामग्री को स्पार्शन प्रत्यक्ष का विरोधी मान लिया जाता है, ऐसा कहते है ('इति वदन्ति' इस आगे के अंश से अन्वय) और दूसरे सुषुप्ति के कारण (अर्थात् सुषुप्ति में ज्ञान नहीं होता इसलिये) चर्म और मनस् के संयोग को (न कि त्वक् और मनस् के संयोग को) ज्ञान का हेतु माना जाता है और चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष काल में 'त्वङ्मनःसंयोग' के अभाव से स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा कहते हैं ।

व्याख्या: — त्वङ्मनःसंयोग को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण मानने में यहां शङ्का उठायी गयी कि आम्र आदि फल के रस का जब रसना इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है और उसी समय आम्र आदि के रूप का जब चक्षु इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, उस समय यह स्पष्ट है कि आम्र के साथ त्वचा का भी संयोग हो रहा है, इसलिये रासन और चाक्षुष प्रत्यक्ष काल में त्वाच प्रत्यक्ष भी होना चाहिये, क्योंकि उसकी सामग्री विद्यमान है। अथवा यदि एक प्रकार के प्रत्यक्ष की सामग्री दूसरे प्रकार के प्रत्यक्ष को रोक दे तो कोई भी प्रत्यक्ष न होगा। इस शङ्का का यह उत्तर दिया गया कि चाक्षुष अथवा रासन प्रत्यक्ष की सामग्री त्वक् सम्बन्धी प्रत्यक्ष को रोक देता है अर्थात् त्वक्

सम्बन्धी प्रत्यक्ष तभी होता है जब रासन या चाक्षुष प्रत्यक्ष की सामग्री न हो। कतिपय नैयायिक उपर्युक्त कठिनता का समाधान करने के लिये 'त्वङ् मनः-संयोग' को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण नहीं मानते, प्रत्युत वे 'चर्ममनः-संयोग' को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण मानते हैं। उनके अनुसार सुषुप्ति में ज्ञान इसलिये नहीं होता कि उस समय मनस् के निद्रानाडी में वर्तमान होने से मनस् और चर्म का संयोग नहीं हो पाता। चर्म 'त्वक्' इन्द्रिय का गोलक है अर्थात् चर्म में त्वक् इन्द्रिय रहती है, परन्तु त्वक् चर्म से भिन्न है। रासन आदि प्रत्यक्ष काल में आम्र आदि का चर्म से तो संयोग होता है पर त्वक् इन्द्रिय से नहीं होता अतएव 'त्वङ्मनःसंयोग' भी नहीं होता। इसलिये रासन प्रत्यक्ष काल में 'त्वाच प्रत्यक्ष' होने की आपत्ति नहीं हो सकती।

का० मनोग्राह्यं सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो मतिःकृतिः ५७

सि० मु०ः- मनोग्राह्यमिति। मनोजन्यप्रत्यक्षविषयमित्यर्थः। मतिर्ज्ञानम्। कृतिः प्रयत्नः। एवं सुखत्वादिकमपि मनोग्राह्यम्। एवमात्मापि मनोग्राह्यः किन्तु मनोमात्रस्य गोचर इत्यनेन पूर्वमुक्तत्वादत्र नोक्तः।

अनु० :— सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, प्रयत्न ये मनस् इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं।

'मनोग्राह्यम्' इस अंश की व्याख्या करते हैं:— मनस् इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष का विषय है, यह अर्थ है, मति का अर्थ है ज्ञान और 'कृति' का अर्थ है प्रयत्न। इसी प्रकार 'सुखत्व' आदि जातियां भी मनस् इन्द्रिय से ग्राह्य हैं और आत्मा भी मनस् इन्द्रिय से ग्राह्य है किन्तु 'मनोमात्रस्य गोचरः' (कारिका सं० ५०) वह बात (कि आत्मा मनस् इन्द्रिय का विषय है) पहिले ही कही जा चुकी है, इसलिये यहां नहीं कही गयी।

व्याख्या :— आत्मा के विशेष गुण, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान और प्रयत्न तथा उन गुणों में रहने वाली सुखत्व आदि जातियां और उन गुणों का अधिकरण आत्मा, मनस् इन्द्रिय से ग्रहण किये जाते हैं। न्याय के मत में बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष पांच बाह्य इन्द्रियों से होता है किन्तु ज्ञान आत्मा आदि का मनस् इन्द्रिय द्वारा मानस प्रत्यक्ष होता है।

का०:- ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते।
महत्त्वं षड्विधे हेतुरिन्द्रियं कारणं मतम्॥५८

सि० मु० :- चक्षुःसंयोगाद्यनन्तरं घट इत्याकारकं घटत्वादिविशिष्टं ज्ञानं न सम्भवति पूर्वं विशेषणस्य घटत्वादेर्ज्ञानाभावात्। विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात्। तथा च प्रथमतो घटघटत्वयोर्वैशिष्ट्यानवगाह्येव ज्ञानं जायते। तदेव निर्विकल्पकम्। तच्च न प्रत्यक्षम्।

अनु०— *ज्ञान जो कि 'निर्विकल्पक' है वह अतीन्द्रिय माना जाता है।*

चक्षुसंयोग के बाद ''घट'' इस प्रकार का 'घटत्व' आदि विशेषण से युक्त ज्ञान सम्भव नहीं है उससे पहले विशेषणरूप घटत्व आदि के ज्ञान के न होने से, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान के होने में विशेषण का ज्ञान कारण होता है। इसलिये पहिले 'घट' और घटत्व के 'विशेष्यविशेषण-भाव' को विषय न करने वाला अर्थात् उसको ग्रहण न करने वाला ज्ञान ही उत्पन्न होता है, वही 'निर्विकल्पक' माना जाता है और वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता।

व्याख्या:— प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का माना जाता है एक तो 'यह घट है' इस प्रकार का सविकल्पक ज्ञान, और एक उससे पहिले होने वाला 'यह कुछ है' इत्यादि प्रकार का 'निर्विकल्पक ज्ञान', जिसका सविकल्पक ज्ञान

से पहिले होना आवश्यक रूप से मानना पड़ता है । पाश्चात्य दर्शन और मनोविज्ञान में भी 'संवेदन रूप' (sensation) और 'प्रत्यक्ष रूप' (perception) ये दो प्रकार के ज्ञान माने जाते हैं। 'यह पुस्तक है' इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान (perception) से पूर्व 'यह कुछ है' इस प्रकार का संवेदन(sensation) या जिसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कह सकते हैं, अवश्य होता है। यहां पर यही बतलाया गया है कि निर्विकल्पक या संवेदनात्मक ज्ञान को, जिसका हमें स्पष्ट आभास नहीं होता, सविकल्पक प्रत्यक्ष से पूर्व क्यों माना जाय। उसके मानने का प्रमाण यह है कि 'यह घट है' इस ज्ञान में ध्यान से देखने से पता लगेगा कि तीन अंश सम्मिलित हुये भासते हैं, अर्थात् (i) घटत्व विशेषण से युक्त (ii) घट वस्तु का ज्ञान होता है और साथ में (iii) घट और घटत्व के सम्बन्ध (समवाय सम्बन्ध) का भी ज्ञान होता है। यह स्पष्ट है कि 'यह घट है' इस ज्ञान में केवल एक वस्तु का ज्ञान नहीं है प्रत्युत 'घटत्व विशेषण से युक्त' वस्तु का (विशिष्ट का) ज्ञान है। विशिष्ट के ज्ञान के लिये यह आवश्यक है कि उससे पहिले विशेषण का ज्ञान हो, उदाहरणार्थ- 'दण्डी पुरुषः' अर्थात् 'यह पुरुष दण्ड वाला है' इसमें पुरुष विशेष्य और दण्ड विशेषण है तथा पुरुष और दण्ड का संयोग सम्बन्ध है। 'दण्ड वाला पुरुष है' इस प्रकार के संकलित अर्थात् इकट्ठे ज्ञान के लिये यह आवश्यक है कि उससे पहिले 'पुरुष' 'दण्ड' और उनके 'संयोग' का अलग अलग (विशकलित) ज्ञान हो। दण्ड के ज्ञान के विना 'दण्ड वाला पुरुष है' यह ज्ञान कभी नहीं हो सकता, क्योंकि यह माना जाता है कि विशिष्ट ज्ञान से पूर्व विशेषण का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। इसी प्रकार 'यह घट है' इस ज्ञान में जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'घटत्व' विशेषण है और घट विशेष्य है। विशेषण ज्ञान के विना अर्थात् 'घटत्व' के ज्ञान के विना 'यह घट है' ऐसा ज्ञान सम्भव ही नहीं। इसलिये यह मानना पड़ता है कि 'यह घट है' इस ज्ञान से पहिले जब चक्षु और घट का संयोग होता है तो सबसे पहिले 'घट' और 'घटत्व का विशेष्य-विशेषणभाव से रहित अर्थात् 'वैशिष्ट्यानवगाहि' ज्ञान होता है, उस

अवस्था में 'घट' और घटत्व 'विशकलित' रूप में (असंकलित रूप में) अर्थात् अलग अलग भासते हैं, उनमें कोई सम्बन्ध नहीं होता। उनके अलग अलग भासने से और उनमें विशेष्य-विशेषण भाव सम्बन्ध न होने से हमें उस निर्विकल्पक ज्ञान का साक्षात्कार भी नहीं हो सकता। इसलिये निर्विकल्पक ज्ञान को अतीन्द्रिय अर्थात् प्रत्यक्षायोग्य (प्रत्यक्ष के अयोग्य) माना गया है। क्यों उसको अतीन्द्रिय मानना पड़ता है, इसको आगे स्पष्ट किया जाता है।

सि० मु०:— तथाहि। वैशिष्ट्यानवगाहिज्ञानस्य प्रत्यक्षं न भवति घटमहं जानामीति प्रत्ययात्। तत्रात्मनि ज्ञानं प्रकारीभूय भासते। ज्ञाने घटस्तत्र घटत्वम्। यः प्रकारः स एव विशेषणमित्युच्यते। विशेषणे यद्विशेषणं तद्विशेषणतावच्छेदकमित्युच्यते। विशेषणतावच्छेदकप्रकारकं ज्ञानं विशिष्ट-वैशिष्ट्यज्ञाने कारणम्। निर्विकल्पके च घटत्वादिकं न प्रकार-स्तेन घटत्वादिविशिष्टघटादिवैशिष्ट्यभानं ज्ञाने न संभवति। घटत्वाद्यप्रकारकं च घटादिविशिष्टज्ञानं न संभवति, जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थज्ञानस्य किञ्चिद्धर्मप्रकारकत्व-नियमात्॥

अनु०:— (निर्विकल्पक ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता) क्योंकि विशेष्य-विशेषण भाव को विषय न करने वाले (ग्रहण न करने वाले) ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता। कारण यह है कि "मैं घट को जानता हूँ" इस प्रकार की (प्रत्यक्ष ज्ञान के मानस प्रत्यक्ष में अर्थात् 'अनुव्यवसाय' में) प्रतीति होती है। उस प्रतीति में आत्मा में 'ज्ञान' प्रकार (विशेषण) होकर भासता है, और ज्ञान में 'घट' (विशेषण होता है) और घट में घटत्व (विशेषण होता है)। 'प्रकार' को ही विशेषण कहते हैं। विशेषण में जो विशेषण होता है, वह 'विशेषणतावच्छेदक' कहा जाता है, (जैसे ज्ञान में

'घट' विशेषण है उस घट का विशेषण 'घटत्व' 'विशेषणतावच्छेदक' कहलायेगा । (यह स्पष्ट है इस प्रकार के विशिष्ट ज्ञान का जो वैशिष्ट्य-ज्ञान अर्थात् उस ज्ञान की विशेषणता से युक्त ज्ञान ("मैं घट को जानता हूं" इस प्रकार का ज्ञान) उसमें 'विशेषणतावच्छेदक' (अर्थात् घटत्व) को 'प्रकार' अर्थात् विशेषण रूप से रखने वाला ज्ञान कारण होता है। (यदि 'घटत्व' विशेषण पूर्वक घट का ज्ञान न हो तो उस ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होगा, और निर्विकल्पक ज्ञान में 'घटत्व' आदि विशेषण नहीं होते। (क्योंकि ऊपर बतलाया गया है कि निर्विकल्पक में घट और घटत्व का विशेष्य-विशेषण-भाव रहित ज्ञान होता है। अतएव निर्विकल्पक ज्ञान में घटत्व आदि से विशिष्ट घट की विशेषणता की प्रतीति संभव नहीं, क्योंकि 'घटत्व' आदि को विशेषण न करने वाला 'घट' आदि का विशिष्ट ज्ञान सम्भव नहीं। कारण कि यह नियम है कि जाति और अखण्डोपाधि से अतिरिक्त पदार्थ का ज्ञान किसी धर्म को विशेषण बनाये विना नहीं हो सकता।

व्याख्या:— अब यह बतलाते हैं कि निर्विकल्पक ज्ञान क्यों अतीन्द्रिय होता है अर्थात् क्यों मानस प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। इसका उत्तर यह दिया है कि यदि ज्ञान विशेष्यविशेषणभाव युक्त न हो तो उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। जिस ज्ञान का हमें प्रत्यक्ष होता है उसमें विशेष्यविशेषण-भाव अवश्य होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि हमें ज्ञान का प्रत्यक्ष तभी हो सकता है जब कि ज्ञान का यह स्वरूप हो कि किसी वस्तु के विषय में कुछ कहा जाय। यहां पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि पाश्चात्य दर्शन में भी ज्ञान को 'उद्देश्य' और 'विधेय' (subject or predicate) से बने एक वाक्य (judgment) के रूप में माना गया है। वही बात यहां पर इस प्रकार कही गयी है कि जब हमारा ज्ञान विशेष्यविशेषणभाव-पूर्वक अर्थात् उद्देश्य और विधेय के रूप में हो तभी उसका प्रत्यक्ष हो सकता है। साथ ही यहां यह भी बतलाया गया कि ऐसी दो वस्तुओं का जिनमें

विशेष्यविशेषणभाव न हो, ज्ञान तो हो सकता है जैसा कि विशेष्यविशेषण-भावशून्य 'घट' और 'घटत्व' का ज्ञान निर्विकल्पक अवस्था में बतलाया गया है, परन्तु वह ज्ञान ऐसा होगा कि उसका मानस प्रत्यक्ष (जिसको अनुव्यवसाय भी कहते हैं) नहीं हो सकता। विशेष्यविशेषणभावरहित ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष क्यों नहीं हो सकता इसको अनुभव के आधार पर सिद्ध करते हैं। हमें ज्ञान का प्रत्यक्ष इस रूप में होता है कि 'मैं घट को जानता हूं' यहां घट का अर्थ है 'घटत्वावच्छिन्न' अर्थात् घटत्व विशेषण से युक्त घट। 'मैं घट को जानता हूं' इस प्रकार के 'मानस प्रत्यक्ष' या 'अनुव्यवसाय' का यदि पूरा विश्लेषण किया जाय तो वह इस प्रकार होगा (जैसा कि ग्रन्थकार ने दिया है) :—

प्रत्येक ज्ञान जैसा कि ऊपर कहा गया विशेष्यविशेषणभावपूर्वक होता है। 'मैं घट को जानता हूं' यह भी मानस प्रत्यक्ष रूप ज्ञान है। इस ज्ञान में 'मैं' अर्थात् 'आत्मा' विशेष्य है और 'ज्ञान' उसका विशेषण है। ज्ञान का रूप है कि 'यह घट है', यह ज्ञान चाक्षुष प्रत्यक्ष है। इस ज्ञान में घट विशेषण है परन्तु 'घट' का अर्थ है 'घटत्वविशिष्ट घट' अर्थात् ज्ञान में 'घट' विशेषण है और घट में 'घटत्व' विशेषण है। इस प्रकार 'अयं घटः' इस स्थल पर 'घटत्वविशिष्ट घट' ज्ञान में भासता है। विशेषण व्यावर्त्तक होता है, व्यावर्त्तक का अर्थ है दूसरों से अलग करने वाला, जैसे 'नीला घोड़ा' यहां पर 'नीला' यह विशेषण उस घोड़े को पीले आदि घोड़ों से अलग करता है; इसलिये विशेषण व्यावर्तक कहलाता है। व्यावर्तक को ही न्याय की भाषा में 'अवच्छेदक' कहते हैं, क्योंकि अवच्छेदक का भी शब्दार्थ यही है कि 'औरों से अलग करने वाला'। यहां पर कहा गया कि 'अयं घटः' इस ज्ञान में घट विशेषण है अर्थात् घट इस ज्ञान को और ज्ञानों से अलग करता है, परन्तु 'घट' का अर्थ है 'घटत्वविशिष्ट घट' अर्थात् घटत्व घट का विशेषण है, 'व्यवच्छेदक' है। 'घटत्व' ज्ञान के विशेषण 'घट' का अवच्छेदक है इसका अर्थ यह है कि घट की 'विशेषणता' 'घटत्व' से अवच्छिन्न है अर्थात् घट की विशेषणता का 'घटत्व' 'अवच्छेदक' है। इस प्रकार 'घटत्व' की विशेषणता

का अवच्छेदक कह सकते हैं। इसके बाद यह बतलाया गया कि 'मैं घट को जानता हूं' इस प्रकार का मानस प्रत्यक्ष या अनुव्यवसाय 'विशिष्ट वैशिष्ट्य' ज्ञान है, क्योंकि 'अयं घटः' यह विशिष्ट अर्थात् विशेष्यविशेषणभावयुक्त ज्ञान है और 'मैं घट को जानता हूँ' यह ज्ञान 'अयं घटः' इस विशिष्ट ज्ञान की विशिष्टता अर्थात् विशेषणता से युक्त ज्ञान है। अतः 'मैं घट को जानता हूं' इस अनुव्यवसाय रूप ज्ञान को *'विशिष्ट वैशिष्ट्य ज्ञान'* कहा जा सकता है और उस प्रकार के ज्ञान में 'घटत्वविशिष्ट घट' का ज्ञान कारण है। 'घटत्वविशिष्टघटज्ञान' को ही "विशेषणतावच्छेदक प्रकारक" ज्ञान कह सकते हैं अर्थात् 'विशेषणतावच्छेदकः जो 'घटत्व' वह है 'प्रकार' (विशेषण) जिसमें ऐसा ज्ञान। इस प्रकार अनुभव से यह प्रतीत होता है कि अनुव्यवसाय-रूप मानस प्रत्यक्ष तभी सम्भव है जब ज्ञान के विषय में कोई विशेषणता हो, अर्थात् ज्ञान निर्विशेषण या निष्प्रकारक न हो। निर्विकल्पक ज्ञान निष्प्रकारक या निर्विशेषण होता है, क्योंकि यद्यपि उसमें 'घट' और 'घटत्व' दोनों का ज्ञान होता है परन्तु उस ज्ञान में 'विशेष्य-विशेषणभाव' न होने से वह ज्ञान निष्प्रकारक ही कहा जायगा, और निष्प्रकारक होने से उसका मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकता इसलिये कहा गया कि निर्विकल्पक ज्ञान अतीन्द्रिय होता है यहां यह भी बतलाया गया कि 'घटत्व' के 'प्रकार' या 'विशेषण' हुये बिना 'अयं घटः' यह विशिष्ट ज्ञान सम्भव नहीं, क्योंकि यह माना गया है कि जाति और अखण्डोपाधि को छोड़कर प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान किसी विशेषणता या प्रकारता को लेकर होता है, और तभी उसका मानस प्रत्यक्ष होता है। यदि उस ज्ञान में कोई विशेषणता न हो तो उसका प्रत्यक्ष नहीं होगा, इसीलिये निर्विकल्पक ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता। ऊपर यह बतलाया गया है कि प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान किसी विशेषणता (या प्रकारता) के साथ होता है, परन्तु 'जाति' और 'अखण्डोपाधि' का ज्ञान बिना 'प्रकारता' या 'विशेषणता' के भी हो सकता है क्योंकि घट का ज्ञान 'घटत्व' की विशेषणता के साथ होता है, और यदि 'घटत्व' का ज्ञान भी किसी दूसरी विशेषणता के साथ माना जाय तो अनवस्था

दोष आ जायगा। इसलिये जाति का ज्ञान बिना प्रकारता के ही माना जाता है। इसी प्रकार 'अखण्डोपाधि' का भी ज्ञान बिना प्रकारता के होता है। वस्तुओं में रहने वाले सामान्य धर्म दो प्रकार के हैं एक तो नित्य 'सामान्य' या 'जाति' के रूप में जिनका बाह्य जगत् में अस्तित्व है जैसे गौ में रहने वाला 'गौत्व' और घटों में रहने वाला 'घटत्व' आदि। परन्तु कुछ ऐसे भी सामान्य धर्म होते हैं जिनका बाह्य जगत् में आस्तित्व नहीं है परन्तु कतिपय समान गुणों के कारण उनको भी 'सामान्य धर्म' या उपाधि कहते हैं जैसे भारतीयत्व (अर्थात् भारत में पैदा होने का धर्म उपाधि है, अथवा इन्द्रियत्व भी एक उपाधि है (जिसका निरूपण इसी (५८ वीं) कारिका के अन्तर्गत आगे किया गया है)। यह उपाधि कोई बाह्यरूपेण सत् वस्तु नहीं होती प्रत्युत वह मानसिक कल्पना मात्र होती है (देखो पृष्ठ ३५)। यह उपाधि दो प्रकार की होती है एक सखण्डोपाधि और एक अखण्डोपाधि। जिन उपाधियों का निरूपण या निर्वचन हो सकता है जैसे 'भारतीयत्व' अर्थात् 'भारत में पैदा होना' यही उसका निर्बचन है, वह सखण्डोपाधि कहलाती है। इसी प्रकार 'इन्द्रियत्व' भी जिसका निरूपण आगे किया गया है, 'सखण्डोपाधि' है, परन्तु जिसका कोई निर्वचन नहीं हो सकता जैसे 'आकाशत्व' 'प्रतियोगिता' 'अनुयोगिता' आदि, वे अखण्डोपाधि हैं। इसीलिये जाति के समान अखण्डोपाधि का भी विना 'विशेषणता' या 'प्रकारता' के ज्ञान होता है।

का०—महत्वं षड्विधे हेतुः।

सि० मु०:— महत्त्वमिति। द्रव्यप्रत्यक्षे महत्त्वं समवायसम्बन्धेन कारणम्। द्रव्यसमवेतानां गुणकर्मसामान्यानां प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन कारणम्, द्रव्यसमवेतसमवेतानां गुणत्वकर्मत्वादीनां प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेन कारणमिति।

अनु०: — महत्त्व अर्थात् महत् परिमाण छै प्रकार के (अर्थात् छै इन्द्रियों से होने वाले) प्रत्यक्ष में हेतु है ।

'महत्त्वम्' इत्यादि अंश की व्याख्या करते हैं, द्रव्य के प्रत्यक्ष में 'महत्त्व' समवाय सम्बन्ध के कारण है । द्रव्य में समवेत, अर्थात समवाय सम्बन्ध से रहने वाले, गुण कर्म और सामान्य के प्रत्यक्ष में 'स्वाश्रय समवाय' सम्बन्ध से कारण है और द्रव्य में जो समवेत गुण कर्म आदि उनमें समवेत जो गुणत्व, कर्मत्व आदि उनके प्रत्यक्ष में 'स्वाश्रयसमवेतसमवाय-सम्बन्ध' से कारण हैं ।

व्याख्या : — द्रव्य के प्रत्यक्ष में महत्व अर्थात् महत् परिमाण को समवाय सम्बन्ध से कारण इसलिये कहा गया कि उसी द्रव्य का प्रत्यक्ष हो सकता है जिसमें महत् परिमाण रहता हो, अणु और द्व्यणुक में महत्-परिमाण नहीं रहता, इसलिये उनका प्रत्यक्ष नहीं होता । त्र्यणुक और उससे बड़े घट आदि द्रव्यों में महत् परिमाण होता है इसलिये उनका प्रत्यक्ष माना जाता है । क्योंकि द्रव्य में महत् परिमाण समवाय सम्बन्ध से रहता है इसलिये महत् परिमाण को प्रत्यक्ष में समवाय सम्बन्ध से कारण कहा गया है । साथ ही न्याय-वैशेषिक मत में गुण कर्म और जाति का भी प्रत्यक्ष माना गया है । उनमें तो महत् परिमाण, जो कि गुण है, नहीं रह सकता, क्योंकि गुण द्रव्य में ही रहता है इसलिये गुण आदि के प्रत्यक्ष में महत् परिमाण को 'स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध' से कारण कहा गया है । यहां 'स्व' का अर्थ है महत्परिमाण, उसका 'आश्रय' है द्रव्य, उसमें गुण कर्म सामान्य आदि का 'समवाय' रहता है । इस प्रकार गुण आदि के प्रत्यक्ष में महत् परिमाण स्वाश्रयसमवाय सम्बन्ध से कारण हुआ । न्याय-मत में गुणों में रहने वाली गुणत्व जाति का या कर्म में रहने वाली कर्मत्व जाति का भी प्रत्यक्ष माना जाता है अर्थात् द्रव्य में समवेत गुण और कर्म और उनमें समवेत गुणत्व और कर्मत्व जातियां हैं इसलिये गुणत्व और कर्मत्व जातियों को "द्रव्यसमवेतसमवेत" कह सकते हैं । उनके प्रत्यक्ष में भी महत् परिमाण असाक्षात् सम्बन्ध से कारण है जिसका स्वरूप है 'स्वाश्रयसमवेतसमवाय-

सम्बन्ध'' । यहां 'स्व' अर्थात् महत् परिमाण, उसका 'आश्रय' है द्रव्य, उसमें 'समवेत' हैं गुण और कर्म और उन गुण कर्म में गुणत्व और कर्मत्व का 'समवाय' है इसलिये गुणत्व, कर्मत्व के प्रत्यक्ष में महत्परिमाण 'स्वाश्रयसम-वेतसमवाय' सम्बन्ध से कारण है ।

का०:-........इन्द्रियं करणं मतम् ॥५८॥

सि० मु० :- इन्द्रियमिति । अत्रापि षड्विध इत्यनुषज्यते इन्द्रियत्वं तु न जातिः पृथिवीत्वादिना सांकर्यप्रसङ्गात् । शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनः संयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम् । आत्मादिवारणाय सत्यन्तम् । उद्भूतविशेषगुणस्य शब्दस्य श्रोत्रे सत्त्वाच्छब्देतरेति । विशेषगुणस्यरूपादेश्चक्षुरादावपि सत्त्वादुद्भूतेति ।

अनु०:— इन्द्रिय छै प्रकार के प्रत्यक्ष में कारण है ।

'इन्द्रियम्' इत्यादि अंश की व्याख्या करते हैं । यहां भी 'षड्विधे' इत्यादि अंश की आवृति होती है (अर्थात् इन्द्रिय छै प्रकार के प्रत्यक्ष में कारण है) । 'इन्द्रियत्व' जाति नहीं है क्योंकि पृथ्वीत्व आदि से उसकी संकरता का दोष आ जायगा (अपितु 'इन्द्रियत्व' उपाधि है जिसका लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है, कि 'शब्द के अतिरिक्त अन्य उद्भूत विशेष गुणों के आश्रय न होने पर जो ज्ञान के कारण मनःसंयोग का आश्रय हो वह इन्द्रिय है' । यहां आत्मा आदि को हटाने के लिये 'न होने पर' इस तक का पहिला विशेषण अर्थात 'शब्द के अतिरिक्त अन्य उद्भूत विशेष गुणों के आश्रय न होने पर' अंश दिया गया । क्योंकि शब्द उद्भूत विशेष गुण है जो श्रोत्र में रहता है, इसलिये 'शब्देतर' यह अंश दिया गया । क्योंकि रूप आदि विशेष गुण चक्षु आदि में भी रहते हैं इसलिये 'उद्भूत' यह अंश दिया गया (अर्थात् विशेष गुण का विशेषण 'उद्भूत' यह दिया गया) ।

व्याख्या:— इन्द्रियों को छै प्रकार के प्रत्यक्ष में कारण बतलाया गया है। वस्तुतः पांच बाह्य इन्द्रियां और एक मनस्, यह छै इन्द्रियां हैं, और उन इन्द्रियों से छै प्रकार के प्रत्यक्ष होते हैं। छै इन्द्रियों में रहने वाली 'इन्द्रियत्व' को जाति नहीं माना जा सकता क्योंकि इन्द्रियत्व की पृथ्वीत्व आदि के साथ संकरता आ जाती है। इन्द्रियत्व न केवल पृथ्वीत्वजातियुक्त 'घ्राण' में है अपितु चक्षु आदि में भी है, जिनमें 'पृथ्वीत्व' जाति नहीं रहती और उधर पृथ्वीत्व घटादि में भी पाया जाता है जहां इन्द्रियत्व नहीं। इस प्रकार 'इन्द्रियत्व' और 'पृथ्वीत्व' का क्षेत्र एक दूसरे को काटता है इसलिये इन्द्रियत्व को जाति नहीं माना जा सकता (देखो पृ० ३७-३८)। परन्तु इन्द्रियत्व उपाधि है और उसका स्वरूप यह बताया गया है कि 'जो शब्द के अतिरिक्त अन्य उद्भूत विशेष गुणों के न होने पर, जो ज्ञान के कारण मनःसंयोग का आश्रय हो वह इन्द्रिय है'। 'यहां पर 'ज्ञानकारण मनःसंयोग का आश्रय' कहने से 'काल' आदि का वारण हो जाता है, क्योंकि यद्यपि काल आदि के सर्वव्यापक होने से उनका मनस् से भी संयोग है और इसलिये काल आदि मनःसंयोग के आश्रय हैं, परन्तु वह मनःसंयोग 'ज्ञानकारण' नहीं होता। इसलिये 'काल' आदि को 'ज्ञानकारण मनःसंयोग का आश्रय' नहीं कह सकते। केवल इन्द्रियें ही 'ज्ञानकारण मनःसंयोग का आश्रय' हैं। इस प्रकार यह लक्षण इन्द्रियों में घट जायगा। परन्तु ज्ञान में आत्मा और मनस् का संयोग भी कारण है और इसलिये आत्मा को भी 'ज्ञानकारण मनःसंयोग आश्रय' कहा जा सकता है। उसमें लक्षण न जाय इसलिये पहिले का अंश अर्थात् 'शब्द के अतिरिक्त अन्य उद्भूत विशेष गुणों का जो आश्रय न हो' यह विशेषण दिया गया। आत्मा शब्द से भिन्न ज्ञान इच्छा आदि उद्भूत विशेष गुणों का आश्रय है इसलिये इन्द्रिय का लक्षण आत्मा में न जायगा। उपर्युक्त विशेषण में 'शब्द से अतिरिक्त' यह अंश इसलिये दिया गया कि शब्द जो कि विशेष गुण है वह उद्भूत रूप से श्रोत्र में रहता है और इस प्रकार श्रोत्र 'उद्भूत विशेष गुण शब्द का आश्रय है', इसलिये इन्द्रिय का लक्षण श्रोत्र में नहीं घटेगा, उस

अव्याप्ति को हटाने के लिये विशेष गुण के साथ 'शब्देतर' यह अंश जोड़ दिया गया। विशेष गुण इसका विशेषण 'उद्भूत' इसलिये रक्खा कि विशेष गुण रूप आदि चक्षु आदि में भी विद्यमान हैं और इस प्रकार उनमें 'इन्द्रियत्व' लक्षण न जाता, परन्तु चक्षु आदि में रहने वाले रूप आदि विशेष गुण 'उद्भूत' नहीं हैं इसलिये 'उद्भूत' विशेषण डालने से यह लक्षण चक्षु आदि में भी चला जायगा।

सि० मु० :— उद्भूतत्वं न जातिः शुक्लत्वादिना सांकर्यात्। न च शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवोद्भूतत्वमिति वाच्यम्, उद्भूतरूपवत्त्वादिना चाक्षुषादौ जनकतानुपपत्तेः। किन्तु शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवानुद्भूतत्वं तदभावकूटश्चोद्-भूतत्वम्।

अनु०:— 'उद्भूतत्व' जाति नहीं है, क्योंकि 'शुक्लत्व' आदि के साथ उसका संकर होगा और यह भी नहीं कह सकते कि शुक्लत्व आदि गुणों के व्याप्य उद्भूतत्व अनेक हैं। क्योंकि वैसा मानने पर 'उद्भूत रूप वाला' होने आदि की (उद्भूतरूपवत्व आदि को) चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष में कारणता न बन सकेगी। परन्तु ऐसा मानते हैं कि शुक्लत्व आदि जातियों के व्याप्य 'अनुद्भुतत्व' नाना हैं और उनके अभाव समूह को ही 'उद्भूतत्व' है।

व्याख्याः- ऊपर विशेष गुण का विशेषण 'उद्भूत' दिया गया है। यहां उद्भूत के स्वरूप पर विचार करते हैं। 'उद्भूतत्व' जाति नहीं हो सकती क्योंकि उसका शुक्लत्व से सांकर्य है, अर्थात् शुक्लत्व को छोड़कर 'उद्भूतत्व' उद्भूत गन्ध में रहता है और 'उद्भूतत्व' को छोड़कर शुक्लत्व धर्म अनुद्भूत शुक्ल में रहता है इस प्रकार उन दोनों का क्षेत्र एक दूसरे को काटता है। इसलिये उद्भूतत्व को जाति नहीं माना जा सकता (देखो पृ ३७-३८)। यदि यह कहा जाय कि उद्भूत धर्म जो कि शुक्लरूप नीलरूप या गन्ध, स्पर्श

आदि में रहते हैं वे अनेक हैं और इस प्रकार 'शुक्लोद्भूतत्व', 'नीलोद्भूतत्व' आदि जातियां मानने में संकर नहीं आयेगा, तो यह भी ठीक नहीं (क्योंकि चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष में 'उद्भूत रूप वाला होना' आदि को कारण माना गया है (अर्थात् चाक्षुष प्रत्यक्ष में उद्भूत रूप कारण है और स्पार्शन प्रत्यक्ष में उद्भूत स्पर्श कारण है) और कारणता का 'अवच्छेदक' एक ही हो सकता है न कि नाना। इसलिये नैयायिक 'उद्भूतत्व' को अभाव रूप मानकर उसकी एकता स्थापित करते हैं। उनके अनुसार शुक्लत्व आदि के व्याप्य अर्थात् शुक्ल नील आदि रूपों में या गन्ध स्पर्श आदि में रहने वाले 'अनुद्भूतत्व' अनेक हैं और उन सब के अभाव समूह का नाम 'उद्भूतत्व' है और वह उद्भूतत्व एक होने से चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष में कारण माना जा सकता है।

सि० मु०:— तच्च संयोगादावप्यस्ति तथा च शब्देतरोद्भूतगुणः संयोगादिश्चक्षुरादेरप्यस्त्यतो विशेषेति। कालादिवारणाय विशेष्यदलम्। इन्द्रियावयवविषयसंयोगस्यापि प्राचां मते प्रत्यक्षजनकत्वादिन्द्रियावयववारणाय, नवीनमते कालादौ रूपाभावप्रत्यक्षे संनिकर्षघटकतया कारणीभूतचक्षुःसंयोगाश्रयस्य कालादेश्च वारणाय मनः पदम्। ज्ञानकरणमित्यपि तद्वारणाय। करणमिति। असाधारणं कारणं करणम्। असाधारणत्वं व्यापारवत्त्वम्।

अनु०:— और वह (ऊपर के प्रकार से बताया हुआ 'उद्भूतत्व') संयोग आदि में भी रहता है और इस प्रकार शब्द से इतर उद्भूत गुण संयोग आदि चक्षु आदि में भी रहते हैं (और उनमें लक्षण नहीं घटेगा) इसलिये (गुण के साथ) 'विशेष' यह अंश दे दिया (संयोग आदि विशेष गुण नहीं हैं)। (इस लक्षण में) 'विशेष्य अंश' (अर्थात् ज्ञान के कारण मनःसंयोग का जो आश्रय हो, यह अंश) इसलिये दिया कि काल आदि में लक्षण न चला जाय। प्राचीनों के मत में इन्द्रियावयव और विषय के संयोग को

भी प्रत्यक्ष का कारण माना गया है इसलिये (इन्द्रिय के लक्षण को) इन्द्रियावयवों में जाने से रोकने के लिये; और नवीन मत में काल आदि में रूपभाव के प्रत्यक्ष में (संयुक्तविशेषणरूप) सन्निकर्ष को बनाने वाला अर्थात् कारणरूप जो 'कालचक्षुःसंयोग' उसके आश्रय काल आदि में (इन्द्रिय लक्षण की) अतिव्याप्ति रोकने के लिये यहां 'मनस्' पद डाला गया (अर्थात् केवल 'संयोग' न कह कर 'मनःसंयोग' ऐसा कहा गया)। यहां 'ज्ञानकारण' यह (विशेषण) भी उसी को अर्थात् काल आदि में इन्द्रिय के लक्षण की अतिव्याप्ति को) रोकने के लिये है। 'करणम्' इस अंश की व्याख्या करते हैं। असाधारण (विशेष) कारण को करण कहते हैं। असाधारणत्व का अर्थ है व्यापार वाला होना।

व्याख्या :—ऊपर 'उद्भूतत्व' को नाना अनुद्भूतत्वों का अभाव रूप माना गया है और वैसा अभावरूप 'उद्भूतत्व' संयोग आदि में भी रह सकता है इसलिये शब्द से अतिरिक्त उद्भूत गुण संयोग आदि भी हो सकते हैं और वह संयोग आदि चक्षु आदि में भी रहते हैं और इस प्रकार लक्षण की चक्षु आदि में भी अव्याप्ति हो जायगी; इसलिये यहां पर गुण यह 'सामान्य' शब्द न डालकर 'विशेषगुण' शब्द डाला। क्योंकि शब्द के अतिरिक्त कोई उद्भूत विशेषगुण चक्षु आदि में नहीं रहता अर्थात चक्षु आदि में रहने वाले रूप आदि विशेषगुण अनुद्भूत होते हैं, इसलिये उस लक्षण की चक्षु आदि में अव्याप्ति न होगी। इसकी व्याख्या पहिले ही की जा चुकी है कि यहां पर लक्षण का 'विशेष्य' अंश अर्थात् 'ज्ञानकारणमनःसंयोग का आश्रय होना' इसलिये दिया गया कि जिससे इन्द्रिय का लक्षण काल आदि में न चला जाय क्योंकि काल आदि भी मनःसंयोग के आश्रय हैं, परन्तु वह मनःसंयोग ज्ञान कारण नहीं होता। इस लक्षण में केवल 'संयोग का आश्रय' न कहकर 'मनःसंयोग का आश्रय' इसलिये कहा गया कि प्राचीनों के मत में इन्द्रिय और अवयवों का विषय से संयोग भी प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण है, इसलिये 'ज्ञानकारणसंयोगाश्रय' यदि केवल इतना ही इन्द्रिय के लक्षण में डालते तो वह इन्द्रियावयवों में भी चला जाता, इसलिये संयोग के साथ मनस् पद डालकर

ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रय ऐसा लक्षण किया गया। साथ ही यदि 'मनस्' पद 'संयोग' के साथ न डालते तो नवीनों के मत में इन्द्रिय का लक्षण काल आदि में चला जाता क्योंकि उनके मत में काल में रूपाभाव का प्रत्यक्ष होता है और उस प्रत्यक्षमें काल में रहने वाले रूपाभाव के साथ इन्द्रिय का संयुक्तविशेषणभाव-सन्निकर्ष होता है। उस सन्निकर्ष का घटक 'कालचक्षुःसंयोग' है। और उस संयोग का आश्रय काल है। इस प्रकार काल भी ज्ञानकारणसंयोग का आश्रय हो जाता है और उसमें भी इन्द्रिय का लक्षण चला जायगा, उसको रोकने के लिये 'संयोग' न कहकर 'मनःसंयोग' ऐसा कहा। यदि यहां पर केवल 'मनःसंयोग' कहते और उसके साथ 'ज्ञानकारण' न जोड़ते तो भी वह लक्षण काल में चला जाता क्योंकि काल के विभु होने से कालमनःसंयोग विद्यमान ही है और उस मनःसंयोग का आश्रय काल है ही। अतएव उसमें इन्द्रियलक्षण चला जायगा, उसको रोकने के लिये मनःसंयोग का विशेषण 'ज्ञानकारण' यह दे दिया। यह स्पष्ट है कि काल और मनस् का संयोग ज्ञान-कारण नहीं है। इसके बाद बतलाया कि असाधारण कारण को 'करण' कहते हैं। असाधारण का अर्थ है जिसमें व्यापार रहता हो, जैसा कि आगे बतला-येंगे। यहां व्यापार विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष को कहते हैं और वह व्यापार इन्द्रियों में विद्यमान है। इसलिये इन्द्रियों को छै प्रकार के प्रत्यक्ष का कारण कहा गया।

का०-विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापारः सोऽपि षड्विधः।
द्रव्यग्रहस्तु संयोगात्संयुक्तसमवायतः ॥५९॥
द्रव्येषु समवेतानां, तथा तत्समवायतः।
तत्रापि समवेतानां, शब्दस्य समवायतः ॥६०॥
तद्वृत्तीनां समवेतसमवायेन तु ग्रहः।
प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत् ॥६१॥

विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहो भवेत् ।

सि० मु०:— व्यापारः सन्निकर्षः । षड्विधं सन्निकर्ष-मुदाहरणद्वारा दर्शयति । द्रव्यग्रह इति । द्रव्यप्रत्यक्षमिन्द्रिय-संयोगजन्यम् । द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयुक्तसमवायजन्यम् । एवमग्रेऽपि । वस्तुतस्तु द्रव्यचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयोगः कारणं, द्रव्यसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयुक्तसमवायः कारणं, द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवायः । एवमन्यत्रापि विशिष्यैव कार्यकारणभावः ।

अनु०:— विषय और इन्द्रिय का सम्बन्ध व्यापार (सन्निकर्ष) कहलाता है । वह भी छै प्रकार का है । द्रव्य का ग्रहण संयोग सम्बन्ध से होता है और द्रव्यों में समवेत (गुण, कर्म आदि का) ग्रहण 'संयुक्तसमवाय-सम्बन्ध' से होता है और उन द्रव्य में समवेत (गुण, कर्म आदि में) समवेत (गुणत्व, कर्मत्व आदि का ग्रहण) 'संयुक्तसमवेतसमवायसम्बन्ध' से होता है तथा शब्द का ग्रहण 'समवाय' सम्बन्ध से होता है, और उस (शब्द) में रहने वाले (शब्दत्व आदि) का ग्रहण 'समवेतसमवाय-सम्बन्ध' से होता है । समवाय का प्रत्यक्ष (ग्रहण) 'विशेषणता सम्बन्ध' से होता है । उसी प्रकार अभावों का भी ग्रहण 'विशेषणता' सम्बन्ध से होता है । व्यापार का अर्थ सन्निकर्ष है । छै प्रकार के सन्निकर्ष को मूल ग्रन्थकार उदाहरण द्वारा दिखलाते हैं । 'द्रव्यग्रह' इत्यादि अंश की व्याख्या करते हैं । द्रव्य का प्रत्यक्ष इन्द्रियसंयोग से होता है । द्रव्य समवेत (रूप आदि) का प्रत्यक्ष 'इन्द्रियसंयुक्तसमवाय' से होता है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये । वस्तुतः यह बात है कि द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति 'चक्षुःसंयोग' सन्निकर्ष कारण है और द्रव्यसमवेत (रूप आदि) के चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति 'चक्षुःसंयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष

कारण है, तथा द्रव्य में समवेत (रूप आदि और उन) में समवेत (जो रूपत्व आदि उन) के प्रत्यक्ष में "चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवाय" सन्निकर्ष कारण है। इसी प्रकार आगे भी (चाक्षुष प्रत्यक्ष के समान 'त्वाच, आदि प्रत्यक्ष में भी) विशेष रूप से ही (अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्ष का अलग अलग ही) 'कार्यकारणभाव' समझना चाहिये।

व्याख्या:— न्याय-वैशेषिक में विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है, यह सिद्धान्त माना गया है। विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध को ही 'व्यापार' कहते हैं। साधारणतया व्यापार का लक्षण यह किया जाता है कि 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः' अर्थात् व्यापार वह है जो करण से जन्य अर्थात् उत्पन्न होता है और साथ ही करण से जन्य फल का जनक अर्थात् उत्पादक भी होता है 'जैसे कुठार से लकड़ी काटी जाती है', यहां पर कुठार 'करण' है और लकड़ी का चीरना 'फल' है और इन दोनों के बीच में 'कुठार और लकड़ी का संयोग' 'व्यापार' माना जाता है क्योंकि वह कुठार (करण) से उत्पन्न हुआ है और कुठार से उत्पन्न होने वाले फल अर्थात् 'लकड़ी का कटना' इसका कारण है। यहां पर इन्द्रिय 'करण' है और प्रत्यक्ष ज्ञान 'फल' है, उनके बीच में इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध को 'व्यापार' कहा गया है। परन्तु इन सम्बन्धों में, जैसा कि आगे बताया जायगा, एक सम्बन्ध श्रोत्र से शब्द के ग्रहण होने के स्थल पर 'समवाय' भी है जो कि नित्य पदार्थ है। उसे करण अर्थात् इन्द्रिय से 'जन्य' नहीं कहा जा सकता। इसलिये यहां पर 'व्यापार' का अर्थ किया गया है 'सन्निकर्ष'। यह सन्निकर्ष छै प्रकार का होता है। जब इन्द्रिय से किसी द्रव्य घट पट आदि का ग्रहण होता है तो घट पट आदि तथा इन्द्रिय दोनों ही द्रव्य है। उनका सम्बन्ध संयोग ही होता है। परन्तु इन्द्रिय से द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण और कर्म का जब भी प्रत्यक्ष होता है, उनके साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध क्या होगा? उस सम्बन्ध का स्वरूप है 'संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष' अर्थात् इन्द्रिय से संयुक्त द्रव्य है उसमें गुण, कर्म आदि का समवाय रहता है। इस प्रकार इन्द्रिय और गुण, कर्म आदि का 'संयुक्तसमवायसन्निकर्ष' बन जाता है। न्याय-वैशे-

षिक मत में गुण और कर्म में रहने वाली गुणत्व और कर्मत्व जाति का भी प्रत्यक्ष माना जाता है। इनके सम्बन्ध (सन्निकर्ष) का स्वरूप है 'संयुक्तसमवेत-समवाय' अर्थात् इन्द्रिय से संयुक्त घट पट आदि द्रव्य, उनमें समवेत रूप आदि गुण, और उनमें रूपत्व आदि जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है। इसलिये इन्द्रिय और रूपत्व आदि का सन्निकर्ष 'संयुक्तसमवेतसमवाय' हुआ। शब्द का ग्रहण श्रोत्र इन्द्रिय होता है। श्रोत्र इन्द्रिय कर्ण शष्कुली से अवच्छिन्न आकाश का ही नाम है और उस आकाशरूप श्रोत्र इन्द्रिय में शब्द समवाय सम्बन्ध से रहता है, इसलिये शब्द और श्रोत्र का सम्बन्ध या सन्निकर्ष 'समवाय' है और शब्द में समवेत 'शब्दत्व' जाति का भी प्रत्यक्ष होता है। उस शब्दत्व जाति का श्रोत्र इन्द्रिय के साथ 'समवेत-समवाय' सन्निकर्ष है, क्योंकि श्रोत्र में समवेत शब्द है और उसमें 'शब्दत्व' जाति का समवाय है। साथ ही नैयायिक 'समवाय' सम्बन्ध का भी प्रत्यक्ष मानते हैं परन्तु वैशेषिक 'समवाय' का प्रत्यक्ष नहीं मानते; तथा न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में 'अभाव' का भी प्रत्यक्ष माना जाता है। प्रश्न यह है कि समवाय और 'अभाव' का इन्द्रिय से क्या सम्बन्ध हो सकता है ? क्योंकि समवाय और अभाव अपने अधिकरण में संयोग या समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते, जैसे भूतल में 'घटाभाव' स्वरूप सम्बन्ध से रहता है। 'स्वरूप सम्बन्ध' से रहने का अर्थ यह है कि 'घटाभाव' भूतल का विशेषण है और यही बात समवाय के विषय में भी कही जा सकती है। भूतल में रहने वाले 'घटाभाव' का भूतल से सम्बन्ध 'विशेषणता' अथवा 'संयुक्त विशेषणता' कहा जायगा अर्थात् भूतल इन्द्रिय 'संयुक्त' है और उस भूतल का 'अभाव' 'विशेषण' है. इसलिये भूतल का इन्द्रिय के साथ 'संयुक्तविशेषणता' नामक सम्बन्ध हुआ। इसीप्रकार समवाय के विषय में भी सन्निकर्ष समझा जा सकता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान छै इन्द्रियों से होने वाले चाक्षुष, स्पार्शन आदि छै प्रकार के होते हैं। यहां यह बतलाया गया है कि द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में चक्षुः संयोग कारण है। इसी प्रकार रूप के चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'चक्षुःसंयुक्तसमवाय'

कारण है तथा 'रूपत्व' के चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवाय' कारण है। इस प्रकार सामान्यरूप से संयोग या संयुक्तसमवाय आदि को कारण न कहकर प्रत्येक इन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्ष के विषय में उस-उस इन्द्रिय के संयोग आदि को कारण कहना चाहिये।

सि० मु०:— परन्तु पृथिवीपरमाणुनीले नीलत्वं पृथिवीपरमाणौ पृथिवीत्वं च चक्षुषा कथं न गृह्यते तत्र परम्परयोद्भूतरूपसम्बन्धस्य महत्त्वसम्बन्धस्य च सत्त्वात्। तथाहि नीले नीलत्वं जातिरेकैव घटनीले परमाणुनीले च वर्तते। तथा च महत्त्वसम्बन्धो घटनीलमादाय वर्तते। उद्भूतरूपसम्बन्धस्तूभयमादायैव वर्तते। एवं पृथिवीत्वेऽपि घटादिकमादाय महत्त्वसम्बन्धो बोध्यः। एवं वायौ तदीयस्पर्शादौ च सत्तायाश्चाक्षुषप्रत्यक्षं स्यात्। तस्मादुद्भूतरूपावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्न चक्षुःसंयुक्तसमवायस्य द्रव्यसमवेतचाक्षुषप्रत्यक्षे, तादृशचक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवायस्य द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषप्रत्यक्षे कारणत्वं वाच्यम्। इत्थं च परमाणुनीलादौ न नीलत्वादिग्रहः, परमाणौ चक्षुःसंयोगस्यमहत्त्वावच्छिन्नत्वाभावात्। एवं वाय्वादौ न सत्तादिचाक्षुषं तत्र चक्षुःसंयोगस्य रूपावच्छिन्नत्वाभावात्।

अनु०— (इस प्रकार विषय का इन्द्रिय के साथ असाक्षात् परम्परा सम्बन्ध माना जाता है) परन्तु पृथिवी परमाणु में रहने वाले 'नीलरूप' में 'नीलत्व' जाति और (पृथिवी परमाणु में रहने वाली) 'पृथिवीत्व' जाति का चक्षु से ग्रहण क्यों नहीं होता क्योंकि वहां परम्परा से उद्भूत रूप का सम्बन्ध और महत्परिमाण का सम्बन्ध विद्यमान है, वह इस प्रकार कि (तथाहि) 'नीलत्व' जाति एक ही है जो 'घटनील' और 'परमाणुनील'

में रहती है और इस प्रकार नीलत्व जाति में महत् परिमाण का सम्बन्ध घटनील को लेकर हो सकता है और उद्भूत रूप का सम्बन्ध तो (घटनील और परमाणुनील) दोनों को ही लेकर हो सकता है। इसी प्रकार पृथिवीत्व जाति में भी घट आदि को लेकर 'महत् परिमाण' का सम्बन्ध समझना चाहिये। इसी प्रकार (परम्परा सम्बन्ध मानने से) वायु में और उसके स्पर्श आदि में रहने वाली सत्ता जाति का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिये। इसलिये द्रव्य समवेत (रूप आदि) के चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति 'उद्भूत रूपावच्छिन्न' और 'महत्वावच्छिन्न' जो 'चक्षुःसंयुक्त उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने को (अर्थात् ऐसे सन्निकर्ष को) कारण कहना चाहिये, इसी प्रकार द्रव्य में समवेत (जो रूप आदि उन) में समवेत (जो रूपत्वआदि उन) के चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'उद्भूतरूपावच्छिन्न' 'महत्वावच्छिन्न' जो 'चक्षुःसंयुक्त' उसमें जो 'समवेत' उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने को (ऐसे सन्निकर्ष को) कारण समझना चाहिये। इस प्रकार परमाणुनील आदि में नीलत्व आदि का ग्रहण नहीं होता क्योंकि परमाणु में 'चक्षुःसंयोग' महत्वावच्छिन्न नहीं है (अर्थात् चक्षुःसंयुक्त परमाणु महत परिमाण से अवच्छिन्न (युक्त) नहीं है। इसी प्रकार वायु आदि में भी सत्ता जाति का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि वहां पर भी चक्षुःसंयोग रूपावच्छिन्न नहीं है। अर्थात चक्षुः संयुक्त वायु रूप से अवच्छिन्न (युक्त) नहीं है।

व्याख्याः— प्रश्न यह होता है कि जब विषय के साथ इन्द्रिय का परम्परा सम्बन्ध मानकर द्रव्य में रहने वाले रूप आदि गुणों का और उन रूप आदि में रहने वाली रूपत्व जाति का प्रत्यक्ष हो जाता है तो परम्परा सम्बन्ध को मानकर ही पृथिवी परमाणु के नील में रहने वाली नीलत्व जाति का भी प्रत्यक्ष क्यों न माना जाय, क्योंकि परम्परा सम्बन्ध से 'उद्भूत रूप' और 'महत् परिमाण' को नीलत्व जाति में कारण माना जा सकता है[1]। कारण कि परमाणु के नीलरूप और घट के नीलरूप में रहने वाली 'नीलत्व' जाति एक ही है

1 महत्परिमाण और उद्भूतरूप को प्रत्यक्ष में [illegible] माना जाता है।

उस नीलत्व जाति में परम्परा सम्बन्ध अर्थात् 'स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्वसम्बन्ध' से 'उद्भूत रूप' और 'महत् परिमाण' रहते हैं क्योंकि 'स्व' अर्थात् महत् परिमाण, उसका 'आश्रय' घट, उस घट में 'समवेत' नीलरूप और उसमें 'समवेत' नीलत्व जाति है। इस सम्बन्ध के द्वारा 'महत् परिमाण नीलत्व जाति में चला गया और वही नीलत्व जाति परमाणु के नीलरूप में रहती है, इसलिये उसका प्रत्यक्ष होना चाहिये। और उद्भूत रूप का सम्बन्ध नीलत्व जाति में घटनील और परमाणु नील दोनों को लेकर हो सकता है। घट का नील रूप तो उद्भूत है ही, परन्तु परमाणु का नीलरूप उद्भूत नहीं माना जाता। तथापि परमाणु में पाक मानने वाले कई लोग परमाणु में भी उद्भूत रूप मानते हैं। उस दृष्टि से यहां पर कहा गया कि उद्भूत रूप नीलत्व जाति में घटनील और परमाणुनील दोनों को लेकर हो सकता है। सम्बन्ध यहां भी वही 'स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्व' स्वरूप होगा, क्योंकि 'स्व' उद्भूत रूप, उसका 'आश्रय' घट, उसमें 'समवेत' नील, और उसमें 'समवेत' नीलत्व जाति है। इसी प्रकार पृथिवी के परमाणु में रहने वाली पृथिवीत्व जाति में भी 'स्वाश्रयसमवेतत्व' सम्बन्ध से महत् परिमाण आ जायगा, क्योंकि 'स्व' अर्थात् महत् परिमाण, उसका 'आश्रय' घट, उसमें 'समवेत' पृथिवीत्व जाति है और पृथिवीत्व जाति पृथिवी के परमाणु में भी रहती है। इस प्रकार पृथिवी परमाणु के पृथिवीत्व में महत्परिमाण 'स्वाश्रयसमवेतत्व नामक परम्परा सम्बन्ध से रहेगा। इसी प्रकार वायु में रहने वाली सत्ता जाति में, 'महत् परिमाण' घट में रहने वाली सत्ता जाति को लेकर 'स्वाश्रयसमवेतत्व' सम्बन्ध से दिखाया जा सकता है, और वायु के स्पर्श में रहने वाली सत्ता में भी महत्परिमाण 'स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्व' सम्बन्ध से दिखाया जा सकता है क्योंकि 'स्व' महत् परिमाण उसका 'आश्रय' घट, उसमें 'समवेत' स्पर्श और उस स्पर्श में 'समवेत' सत्ता जाति वही है जो कि वायु के स्पर्श में रहती है। इस प्रकार वायु के स्पर्श में रहने वाली सत्ता जाति में भी महत् परिमाण चला जायगा और इसी प्रकार सत्ता आदि में उद्भूत रूप भी चला जायगा। इसलिये सन्निकर्ष के स्वरूप में इस प्रकार का परिष्कार किया कि द्रव्य में

समवेत जो रूप आदि उनके चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'उद्भूतरूपावच्छिन्न' 'महत्त्वावच्छिन्न' जो चक्षुःसंयुक्त द्रव्य 'ऐसे द्रव्य में समवाय का होना' कारण है अर्थात् सन्निकर्ष का रूप केवल चक्षुःसंयुक्तसमवाय न होकर उपर्युक्त परिष्कार युक्त किया गया। इसी प्रकार द्रव्य में 'समवेत' जो रूप आदि उनमें 'समवेत' जो रूपत्व आदि, उनके चाक्षुष प्रत्यक्ष में भी उपर्युक्त परिष्कार जोड़ दिया जायगा और इस परिष्कार के जोड़ने से पृथिवी परमाणु के नील में नीलत्व का प्रत्यक्ष या पृथिवी परमाणु में परमाणुत्व जाति का प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि वहां पर चक्षुःसंयुक्त जो परमाणु वह उद्भूतरूपावच्छिन्न या महत्त्वावच्छिन्न नहीं है अर्थात् वह परमाणु उद्भूत रूप या महत् परिमाण से युक्त नहीं है। इसी प्रकार वायु आदि में भी रहने वाली या वायु के स्पर्श में रहने वाली सत्ता जाति का स्पर्श नहीं होगा क्योंकि इन्द्रिय-संयुक्त वायु उद्भूत रूपावच्छिन्न और महत्त्वावच्छिन्न नहीं है।

सि० मु० :— एवं यत्र घटस्य मध्यावच्छेदेनालोकसंयोगः चक्षुःसंयोगस्तु बाह्यावच्छेदेन तत्र घटप्रत्यक्षाभावादालोक-संयोगावच्छिन्नत्वं चक्षुःसंयोगे विशेषणं देयम्। एवं द्रव्य-स्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयोगः कारणं द्रव्यसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवायः, द्रव्यसमवेतसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्त-समवेतसमवायः कारणम्। अत्रापि महत्त्वावच्छिन्नत्वमुद्भूत-स्पर्शावच्छिन्नत्वं च पूर्ववदेव बोध्यम्। एवं गन्धप्रत्यक्षे घ्राण-संयुक्तसमवायः। गन्धसमवेतस्य घ्राणजन्यप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्त-समवेतसमवायः कारणम्। एवं रसप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवायः रससमवेतरासनप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्। शब्दप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवायः कारणम्। शब्दसमवेत-

श्रावणप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवायः कारणम् । अत्र सर्वं प्रत्यक्षं लौकिकं बोध्यम् । वक्ष्यमाणमलौकिकं प्रत्यक्षमिन्द्रियसंयोगादिकं विनापि भवति । एवमात्मनः प्रत्यक्षे मनःसंयोगः, आत्मसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवायः, आत्मसमवेतसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम् ।

अनु० :— इसी प्रकार जहां घट के अन्दर के हिस्से से अवच्छिन्न प्रकाश का संयोग हो और चक्षुःसंयोग (घट के) बाह्यभाग से अवच्छिन्न हो, वहां घट का प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये (यह आवश्यक है कि) 'प्रकाश के संयोग से अवच्छिन्न होना' 'चक्षुःसंयोग' का विशेषण कर दिया जाय । इसी प्रकार द्रव्य के स्पार्शन प्रत्यक्ष में 'त्वक्संयोग' कारण है और द्रव्यसमवेत (स्पर्श आदि) के स्पार्शन प्रत्यक्ष में 'त्वक्संयुक्तसमवाय' कारण है और द्रव्य में समवेत (जो स्पर्श), उसमें समवेत (जो स्पर्शत्व जाति उस) के स्पार्शन प्रत्यक्ष में 'त्वक्संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष कारण है । यहां पर भी 'महत् परिमाण से अवच्छिन्न होना' और 'उद्भूत स्पर्श से अवच्छिन्न होना' पहिले के समान ही समझना चाहिये । इसी प्रकार गन्ध के प्रत्यक्ष में 'घ्राणसंयुक्तसमवाय' कारण है (अर्थात् घ्राण इन्द्रिय से संयुक्त पुष्प आदि में गन्ध का समवाय है), और गन्ध से समवेत (गन्धत्व) के घ्राणजन्य प्रत्यक्ष में 'घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष कारण है (अर्थात् घ्राण से संयुक्त जो पुष्प उसमें समवेत जो गन्ध, उस गन्ध में गन्धत्व का समवाय है) । इसी प्रकार रस के प्रत्यक्ष में 'रसनासंयुक्तसमवाय' कारण है । (अर्थात् रसनेन्द्रिय से संयुक्त जो जल आदि द्रव्य उसमें रस का समवाय है) । इसी प्रकार रस में समवेत (जो रसत्व आदि जाति, उस) के प्रत्यक्ष में 'रसनासंयुक्तसमवेतसमवाय' कारण है (अर्थात् रसना से संयुक्त जो जल आदि द्रव्य उसमें समवेत जो रस उसमें रसत्व जाति का समवाय है) । शब्द के प्रत्यक्ष में श्रोत्रावच्छिन्न समवाय (अर्थात् श्रोत्र

देश के आकाश में शब्द का समवाय) कारण है। शब्द में समवेत (शब्दत्व आदि जाति) के श्रावण प्रत्यक्ष में 'श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवाय' कारण है। इस प्रकरण में (जो प्रत्यक्ष कहा गया है वह) सब प्रत्यक्ष लौकिक समझना चाहिये। अलौकिक प्रत्यक्ष जो कि आगे कहा जायगा वह इन्द्रियसंयोग आदि के विना भी होता है। इसी प्रकार आत्मा के प्रत्यक्ष में मनःसंयोग (अर्थात् आत्मा और मनस् का संयोग) कारण है। और आत्मसमवेत (जो ज्ञान, सुख आदि उन) के प्रत्यक्ष में मनःसंयुक्त-समवाय कारण है (अर्थात मनःसंयुक्त जो आत्मा उसमें ज्ञान, सुख आदि का समवाय है), तथा आत्मा में समवेत (जो ज्ञान, सुख आदि उन) में समवेत (जो ज्ञानत्व, सुखत्व आदि जाति उन) के प्रत्यक्ष में 'मनःसंयुक्त-समवेतसमवाय' कारण है (अर्थात मनःसंयुक्त जो आत्मा, उसमें समवेत जो ज्ञान, सुख आदि उनमें ज्ञानत्व, सुखत्व आदि जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है।

व्याख्या:— चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'सन्निकर्ष' व्यापार होता है। उसके सिवाय तीन सहकारी कारण होते हैं (i) महत्परिमाण (ii उद्भूत रूप (iii) प्रकाश-संयोग। दो के विषय में विचार हो चुका। 'प्रकाशसंयोग' के विषय में प्रश्न उठता है कि यदि प्रकाश का संयोग किसी घड़े के भीतर के हिस्से में हो और मान लो कि वह घड़ा चारों ओर से बन्द हो; और घड़े के बाहर की ओर प्रकाश का संयोग न हो, परन्तु चक्षुःसंयोग घड़े के बाहर के भाग में हो, तो यह स्पष्ट है कि घट का प्रत्यक्ष नहीं होगा। परन्तु जब कि घट के साथ प्रकाश का भी संयोग है और चक्षुष् का भी संयोग है तो घट का प्रत्यक्ष होना चाहिये। इस दोष को हटाने के लिये कहा कि 'प्रकाशसंयोगावच्छिन्न' को 'चक्षुःसंयोग' का विशेषण रखना चाहिये। संयोग एक अव्याप्यवृत्ति गुण है अर्थात् जिन द्रव्यों का संयोग होता है, संयोग उन द्रव्यों के केवल एक भाग में रहता है इसलिये यहां बतलाया कि द्रव्य के जिस देश देश में 'चक्षुःसंयोग' हो उसी देश में प्रकाश का भी संयोग होना चाहिये अर्थात् 'चक्षुःसंयोग प्रकाशसंयोगा-वच्छिन्न' होना चाहिये।

चाक्षुष प्रत्यक्ष पर विचार कर अब 'त्वाच' अथवा 'स्पार्शन' प्रत्यक्ष पर विचार करते हैं। वहां भी चाक्षुष प्रत्यक्ष के समान ही द्रव्य के स्पार्शन प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष 'त्वक्संयोग' है; और द्रव्य में समवेत स्पर्श आदि के स्पार्शन प्रत्यक्ष में 'त्वक्संयुक्तसमवायसन्निकर्ष' कारण है क्योंकि 'त्वक्संयुक्त' घट पट आदि द्रव्य, उस में स्पर्श का 'समवाय' है; तथा द्रव्य में 'समवेत' जो स्पर्श और उसमें 'समवेत' जो स्पर्शत्व आदि जाति, उनके स्पार्शन प्रत्यक्ष में 'त्वक्संयुक्तसमवेतसमवाय' कारण है क्योंकि त्वक् से संयुक्त जो द्रव्य उसमें समवेत जो स्पर्श, उस स्पर्श में स्पर्शत्व जाति का समवाय है। यहां भी त्वक्-संयोग या त्वक्संयुक्तद्रव्य, 'महत्त्वावच्छिन्न' और 'उद्भूतस्पर्शावच्छिन्न' होना चाहिये। अणु और द्व्यणुक में महत्परिमाण नहीं है, इसलिये उसका स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि उद्भूत स्पर्श न हो तो भी स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं होगा, जैसे प्रकाश का स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि उसमें उद्भूत स्पर्श नहीं माना जाता।

इसके बाद घ्राणज प्रत्यक्ष का वर्णन करते हैं। इस स्थल पर यह समझ लेना आवश्यक है कि बाह्य द्रव्य का प्रत्यक्ष केवल चक्षु और त्वक् दो इन्द्रियों से होता है और आत्मा का प्रत्यक्ष मनस् से होता है। शेष तीन इन्द्रियों से, अर्थात् घ्राण, रसना और श्रोत्र से, द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होना। घ्राण से पुष्प के गन्ध का प्रत्यक्ष होता है किन्तु पुष्प का प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये घ्राणज प्रत्यक्ष में संयोग सन्निकर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि सयोग तो द्रव्य से ही हो सकता है। घ्राणज प्रत्यक्ष में, गन्ध का प्रत्यक्ष 'घ्राणसंयुक्त-समवायसम्बन्ध' से होता है, क्योंकि 'घ्राण' से 'संयुक्त' जो पुष्प आदि, उसमें गन्ध का 'समवाय' है। इसी प्रकार 'गन्धसमवेत गन्धत्व' आदि जाति का प्रत्यक्ष 'घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष' से होता है (जो कि स्पष्ठ हो है)। इसी प्रकार रासन प्रत्यक्ष में भी 'संयोग' सन्निकर्ष नहीं होता क्योंकि रसना के द्वारा किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्युत रस नामक गुण का ही होता है। रस के प्रत्यक्ष में 'रसनासंयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष अर्थात्

'रसनासंयुक्त' जो जल आदि उसमें रस का 'समवाय' है, इसी प्रकार रस में समवेत जो रसत्व आदि जाति उसका प्रत्यक्ष 'रसनासंयुक्तसमवेतसमवाय' सम्बन्ध से होता है। शब्द के प्रत्यक्ष में 'समवाय' अथवा 'श्रोत्रावच्छिन्न आकाश देश में शब्द का समवाय' ही सन्निकर्ष का स्वरूप है। शब्द में रहने वाली शब्दत्व जाति के श्रावण प्रत्यक्ष में 'श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवाय' कारण है क्योंकि 'श्रोत्रावच्छिन्न' देश में शब्द 'समवेत' है और उसमें शब्दत्व जाति का 'समवाय' है।

आगे चलकर बतलाया जायगा, प्रत्यक्ष दो प्रकार का है, एक लौकिक प्रत्यक्ष और दूसरा अलौकिक प्रत्यक्ष। ऊपर जो छै प्रकार के सन्निकर्ष बतलाये गये हैं, वह लौकिक प्रत्यक्ष के ही हैं। अलौकिक प्रत्यक्ष तो, जैसा कि आगे स्पष्ट हो जायगा, विना इन्द्रियसंयोग आदि सन्निकर्षों के भी होता है।

आत्मा का प्रत्यक्ष मनस् इन्द्रिय से माना गया है। मनस् और आत्मा दोनों द्रव्य हैं, इसलिये आत्मा का मनस् से संयोग होता है, इसलिये आत्मा के प्रत्यक्ष में 'मनःसंयोग' सन्निकर्ष है। आत्मा में समवेत ज्ञान आदि का भी मानस प्रत्यक्ष होता है, उसमें 'मनःसंयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष है क्योंकि मनःसंयुक्त है आत्मा उसमें ज्ञान आदि का समवाय है, और आत्मा में समवेत जो ज्ञान, सुख आदि उनमें समवेत जो ज्ञानत्व, सुखत्व आदि जातियें उनके प्रत्यक्ष में 'मनःसंयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष' है जो कि स्पष्ट ही है।

सि० मु०:— अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे चेन्द्रियसंबद्धविशेषणता हेतुः। वैशेषिकमते तु समवायो न प्रत्यक्षः। अत्र यद्यपि विशेषणता नानाविधा, यथाहि भूतलादौ घटाद्यभावः संयुक्तविशेषणतया गृह्यते। संख्यादौ रूपाद्यभावः संयुक्तसमवेतविशेषणतया। संख्यात्वादौ रूपाद्यभावः संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणतया। शब्दाभावः केवलश्रोत्रावच्छिन्नविशेषणतया। कादौ खत्वाद्यभावः श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतविशेषणतया।

एवं कत्वाद्यवच्छिन्नाभावे गत्वाभावादिकं श्रोत्रावच्छिन्नविशेषण-विशेषणतया । एवं घटाभावादौ पटाभावः चक्षुःसंयुक्तविशेषण-विशेषणतया, एवमन्यदप्यूह्यम् । तथापि विशेषणतात्वरूपेणैकैव सा गण्यते । अन्यथा षोढा सन्निकर्ष इति प्राचां प्रवादो व्याहन्येतेति ।

अनु०: — अभाव के प्रत्यक्ष और समवाय के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय सम्बद्ध (अर्थात् 'इन्द्रियसंयुक्त' 'इन्द्रियसंयुक्तसमवेत' आदि) का 'विशेषण' होना हेतु (सन्निकर्ष का स्वरूप) है । वैशेषिक के मत से समवाय प्रत्यक्ष नहीं होता । यहां पर यद्यपि विशेषणता अनेक प्रकार की होती है जैसे भूतल आदि में घट आदि का अभाव 'संयुक्तविशेषणता' सन्निकर्ष से ग्रहण होता है (क्योंकि भूतल 'संयुक्त' है और उसका अभाव 'विशेषण' है) । और संख्या आदि में रूप आदि का अभाव 'संयुक्तसमवेतविशेषणता' रूप सन्निकर्ष से ग्रहण किया जाता है (क्योंकि 'संयुक्त' जो घट पट आदि द्रव्य उनमें 'समवेत' जो संख्या उसका अभाव 'विशेषण' होता है) संख्यात्व आदि में रूप आदि का अभाव 'संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणतास्वरूप सन्निकर्ष' से होता है (क्योंकि संयुक्त जो घट पट आदि, उसमें समवेत जो संख्या, उसमें समवेत जो संख्यात्व, उसमें रूप आदि का अभाव विशेषण है) । शब्द का अभाव केवल 'श्रोत्रावच्छिन्न विशेषणता' नामक सन्निकर्ष से होता है, (क्योंकि शब्दाभाव श्रोत्र का विशेषण है अर्थात् शब्दाभाव में श्रोत्रावच्छिन्न विशेषणता है) । 'क' आदि वर्णों में 'खत्व' आदि का अभाव 'श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतविशेषणता' नामक सन्निकर्ष से होता है (क्योंकि श्रोत्रावच्छिन्न आकाश में समवेत है 'क' वर्ण, उसमें 'खत्वाभाव' विशेषण है) । इसी प्रकार 'कत्व' ('क' वर्ण में रहने वाली जाति) से अवच्छिन्न अभाव अर्थात् 'कत्वाभाव' में 'गत्वाभाव' आदि 'श्रोत्रावच्छिन्नविशेषणविशेषणता' सन्निकर्ष से ग्रहण होता है (क्योंकि

श्रोत्रावच्छिन्न जो आकाश उसका विशेषण है कत्वाभाव और उस कत्वाभाव का विशेषण है गत्वाभाव, इस प्रकार 'श्रोत्रावच्छिन्नविशेषणविशेषणता' सम्बन्ध हुआ) इसी प्रकार घटाभाव में पटाभाव 'चक्षुःसंयुक्तविशेषण-विशेषणतासम्बन्ध' से रहता है, क्योंकि चक्षुःसंयुक्त जो भूतल आदि द्रव्य उसका विशेषण है घटाभाव और उस घटाभाव का विशेषण है पटाभाव, इसलिये यहां 'चक्षुःसंयुक्तविशेषणविशेषणता' सन्निकर्ष हुआ)। इसी प्रकार और और भी (सन्निकर्षों के स्वरूप की) कल्पना कर लेनी चाहिये (इस प्रकार यद्यपि विशेषणता सन्निकर्ष अनेक प्रकार का है) तथापि विशेषणतात्व रूप से यह विशेषणता सन्निकर्ष एक ही प्रकार का गिना जाता है, नहीं तो (यदि विशेषणता अनेक प्रकार की मान ली जाय तो) 'सन्निकर्ष छै प्रकार का है' यह प्राचीन लोगों का कथन ठीक न रहेगा।

व्याख्या :— जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि घटाभाव आदि भूतल में स्वरूप सम्बन्ध से रहते हैं अर्थात् घटाभाव भूतल का विशेषण है क्योंकि स्वरूप सम्बन्ध से रहने के कारण अभाव जिस अधिकरण में रहता है वह उस अधिकरण का विशेषण होता है। इसलिये अभाव के प्रत्यक्ष में 'इन्द्रिय-सम्बद्धविशेषणता' सन्निकर्ष है, अर्थात् अधिकरण 'संयोगसंयुक्तसमवाय' 'संयुक्तसमवेतसमवाय' 'समवाय' 'समवेतसमवाय' विशेषणता इन छै सम्बन्धों में से किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध होगा और उस (अधिकरण) की विशेषणता ही अभाव के प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष का स्वरूप है।

इसी प्रकार समवाय के प्रत्यक्ष में भी 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता' ही हेतु है। यह ध्यान रखना चाहिये कि न्याय-वैशेषिक में बाह्य जगत् में पृथक् अस्तित्व रखने वाले सम्बन्ध दो ही प्रकार के माने गये हैं, एक 'संयोग' और द्वितीय 'समवाय'। इनमें से दो द्रव्यों में सम्बन्ध संयोग कहलाता है। उन दोनों संयुक्त द्रव्यों में वह 'संयोग' गुण होने के कारण 'समवाय' सम्बन्ध से रहता है। परन्तु यहां प्रश्न हो सकता है कि समवाय किस सम्बन्ध से रहता है ? परन्तु समवाय के रहने का सम्बन्ध भी यदि

दूसरा समवाय मान लिया जाय तो अनवस्था आ जायगी, इसलिये यह माना जाता है कि समवाय अपने अधिकरण में विना किसी अन्य सम्बन्ध के अर्थात् स्वरूपत: ही रहता है। इसलिये समवाय भी जिस अधिकरण में रहता है उसका विशेषण होता है अतएव समवाय का प्रत्यक्ष भी अभाव के प्रत्यक्ष के समान 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतासन्निकर्ष' से ही होता है।

परन्तु वैशेषिक मत में समवाय का प्रत्यक्ष माना ही नहीं जाता क्योंकि वैशेषिकों (वैशेषिक मत मानने वालों) का यह कथन है कि सम्बन्ध का प्रत्यक्ष तभी हो सकता है कि जब उस सम्बन्ध के द्वारा सम्बद्ध सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष हो। संसार में समवाय नित्य है और एक है। उसके द्वारा सम्बद्ध सभी वस्तुओं का, न केवल वर्तमान काल की वस्तुओं का अपितु भूत भविष्यत् काल की वस्तुओं का, प्रत्यक्ष सम्भव नहीं। इसलिये वैशेषिक लोग समवाय का प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं करते, परन्तु नैयायिक समवाय का प्रत्यक्ष मानते हैं। उनका कथन है कि जब घट में रूप का प्रत्यक्ष होता है तो यह आवश्यक है कि रूपसमवाय का भी प्रत्यक्ष हो अर्थात् सम्बन्ध का भी प्रत्यक्ष आवश्यक है। वैशेषिकों द्वारा दी गई आपत्ति के विषय में नैयायिकों का कथन है कि वह आपत्ति ठीक नहीं क्योंकि यह बात कि सम्बन्ध का प्रत्यक्ष तभी हो कि जब उससे सम्बद्ध सब पदार्थों का भी प्रत्यक्ष हो, केवल संयोग सम्बन्ध के विषय में ठीक है न कि समवाय के विषय में भी। जो कुछ भी हो यहां पर नैयायिक के मत के अनुसार यह बतलाया गया कि समवाय का प्रत्यक्ष भी अभाव के प्रत्यक्ष के समान 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतासन्निकर्ष' से होता है। इसके बाद बतलाया कि विशेषणता अनेक प्रकार की हो सकती है अर्थात् 'संयुक्तविशेषणता' 'संयुक्तसमवेतविशेषणता' आदि आदि जिसका निरूपण ऊपर स्पष्ट रूप से हो चुका है। इस प्रकार यद्यपि विशेषणतायें नाना प्रकार की हैं तथापि विशेषणतात्व सामान्य धर्म (उपाधि) के कारण उनको एक ही प्रकार का समझना चाहिये जिससे कि प्राचीनों का यह कथन कि सन्निकर्ष छै प्रकार

का है ठीक हो सके, क्योंकि यदि विशेषणताओं को अनेक प्रकार का मान लें तो सन्निकर्ष भी छै की अपेक्षा कहीं अधिक हो जायेंगे।

का०: यदि स्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते ॥६२॥

सि० मु०:-- यदि स्यादुपलभ्येति। अत्राभावप्रत्यक्षे योग्यानुपलब्धिः कारणम्। तथाहि, भूतलादौ घटादिज्ञाने जाते घटाभावादिकं न ज्ञायते तेनाभावोपलम्भे प्रतियोग्युपलम्भाभावः कारणम्। तत्र योग्यताप्यपेक्षिता सा च प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा। तदर्थश्च प्रतियोगिनो घटादेः सत्त्वप्रसक्त्या प्रसञ्जित उपलम्भरूपः प्रतियोगी यस्य सोऽभावप्रत्यक्षे हेतुः। तथाहि यत्रालोकसंयोगादिकं वर्तते तत्र यद्यत्र घटः स्यात्तर्हि उपलभ्येतेत्यापादयितुं शक्यते। तत्र घटाभावादिप्रत्यक्षं भवति। अन्धकारे तु नापादयितुं शक्यते। तेनघटाभावादेरन्धकारे न चाक्षुषप्रत्यक्षम्, स्पार्शनप्रत्यक्षं तु भवत्येव, आलोकसंयोगं विनापि स्पार्शनप्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात्। गुरुत्वादिकं यदयोग्यं तदभावस्तु न प्रत्यक्षस्तत्र गुरुत्वादिप्रत्यक्षस्यापादयितुमशक्यत्वात्। वायौ रूपाभावः, पाषाणे सौरभाभावः, गुडे तिक्ताभावः, श्रोत्रे शब्दाभावः, आत्मनि सुखाभावः, एवमादयस्तत्तदिन्द्रियैर्गृह्यन्ते तत्तत्प्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात्। संसर्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगिनो योग्यता, अन्योन्याभावप्रत्यक्षे त्वधिकरणयोग्यताऽपेक्षिता। अतः स्तम्भादौ

पिशाचादिभेदोऽपि चक्षुषा गृह्यत एव ।

अनु०:— जहां यह बात आ पड़े कि (प्रतियोगी) यदि हो तो उसकी उपलब्धि भी होगी (वह भी अभाव के ग्रहण में हेतु है)।

'यदि स्यादुपलभ्येत' इस अंश की व्याख्या करते हैं। यहां अभाव के प्रत्यक्ष में (प्रत्यक्ष के) योग्य की उपलब्धि का न होना भी कारण है। इसी को दिखाते हैं (तथाहि) भूतल आदि में 'घट' आदि के ज्ञान के होने पर 'घटाभाव' आदि का ज्ञान नहीं होता, इसलिये (यह मानना पड़ता है कि) अभाव के ग्रहण में 'प्रतियोगी के ग्रहण का न होना' (उपलम्भाभाव) कारण हैं। उसमें योग्यता भी अपेक्षित होती है और उस योग्यता का स्वरूप है इस प्रकार का होना कि 'प्रतियोगी (घट आदि) के सत्त्व के आ पड़ने पर जिस (घटोपलम्भाभाव) का प्रतियोगी (अर्थात् उपलम्भ) आ पड़ता हो' ('उपलम्भाभाव' का इस प्रकार का होना ही उसकी योग्यता है)। उसका अर्थ यह है कि प्रतियोगी अर्थात् घट आदि में सत्त्व के आ पड़ने से, आ पड़ता है उपलम्भरूप प्रतियोगी जिसका वह (घटोपलम्भाभाव), अभाव (अर्थात् घटाभाव) के प्रत्यक्ष में हेतु है। इसी को दिखाते हैं कि (तथाहि) जहां प्रकाशसंयोग आदि विद्यमान है, वहां यह बात आ पड़ती है कि यदि यहां पर घट होता उसका उपलम्भ (ग्रहण) होता। इसलिये अन्धकार में घटाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है क्योंकि प्रकाशसंयोग के विना भी स्पार्शन प्रत्यक्ष का आ पड़ना (अर्थात् यदि यहां घट होता तो उसका स्पार्शन प्रत्यक्ष होता इस रूप में) दिखाया जा सकता है। इसीलिये गुरुत्व आदि जो प्रत्यक्ष के अयोग्य वस्तु है उनके अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि गुरुत्व आदि के प्रत्यक्ष का आ पड़ना नहीं दिखाया जा सकता। (इस प्रकार) वायु में रूप का अभाव, पत्थर में सुगन्धि का अभाव, गुड में तीखेपन (रस) का अभाव, श्रोत्र में शब्द का अभाव, आत्मा में सुख का अभाव इत्यादि उन उन इन्द्रियों से (जिनसे प्रतियोगी का ग्रहण हो सकता है) ग्रहण किये जाते हैं क्योंकि उन-

उन के प्रतियोगी के प्रत्यक्ष का आ पड़ना दिखाया जा सकता है। संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी की (प्रत्यक्ष) योग्यता अपेक्षित होती है, परन्तु अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में अधिकरण की योग्यता अपेक्षित होती है। इसलिये स्तम्भ आदि में पिशाच आदि का अन्योन्याभाव चक्षुष् से ग्रहण किया जाता है (क्योंकि यद्यपि इस स्थल पर प्रतियोगी पिशाच प्रत्यक्ष योग्य नहीं है तथापि उस अभाव का अधिकरण स्तम्भ प्रत्यक्ष योग्य है)।

व्याख्या :— मीमांसक 'विशेषणता' नामक सन्निकर्ष को नहीं मानते। उनके मत में समवाय तो पदार्थ ही नहीं, और अभाव का ज्ञान 'अनुपलब्धि' नामक प्रमाण से होता है। उनके मत में भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता प्रत्युत घट के 'अनुपलम्भ' (अर्थात् उपलब्धि के अभाव) से ही घटाभाव का ज्ञान होता है। इस प्रकार मीमांसकों ने 'अभाव' या 'अनुपलब्धि' नामक पृथक् एक प्रमाण माना है। परन्तु वैशेषिक मत में अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जाता है, परन्तु प्रत्यक्ष के लिये वस्तु से इन्द्रियसन्निकर्ष आवश्यक है। वह सन्निकर्ष उन्होंने 'विशेषणता' रूप माना है जैसे कि ऊपर दिखाया जा चुका है। परन्तु नैयायिक अभाव के प्रत्यक्ष में 'अनुपलब्धि' को भी सहकारी कारण मानते हैं। उसी का यहां पर निरूपण किया गया है। यहां यह कहा गया है कि 'यदि होता तो उपलब्ध होता, इस प्रकार की बात जहां पर आ पड़े' (प्रसक्त हो), वहीं पर अभाव का प्रत्यक्ष होता है। इसी को विशद करके इस प्रकार दिखाया गया है कि भूतल में यदि 'घट' का ज्ञान हो तो वहां उस भूतल में 'घटाभाव' का ज्ञान नहीं हो सकता। इससे यह आया कि अभाव के प्रत्यक्ष में 'प्रतियोगी' अर्थात् घट की उपलब्धि का अभाव कारण है अर्थात् घट की उपलब्धि का अभाव न हो तो वहां पर घटाभाव का प्रत्यक्ष भी न होगा। परन्तु साथ ही बतलाया कि उसमें योग्यता भी अपेक्षित है जिसका अर्थ यह है कि उसी वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष होता है जो वस्तु प्रत्यक्ष के योग्य हो। इसी को दार्शनिक भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'घटाभाव' के प्रत्यक्ष में 'घट की उपलब्धि (उपलम्भ) का अभाव' हेतु

है। घटानुपलब्धि अथवा 'घट के उपलम्भ के अभाव' की 'घटाभाव' के प्रत्यक्ष में योग्यता यही है कि 'घटाभाव' के प्रतियोगी 'घट' के सत्त्व (अर्थात् अस्तित्व) के आ पड़ने पर (प्रसञ्जन) 'घटोपलम्भ के अभाव' का भी प्रतियोगी अर्थात् 'उपलम्भ' आ पड़ता हो। इसी को (अर्थात् योग्यता को) 'प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्व' स्वरूप भी कह सकते हैं अर्थात् प्रतियोगी 'घट' के 'सत्त्व' के आ पड़ने (प्रसञ्जन) से आ पड़ता है प्रतियोगी अर्थात् 'उपलम्भाभाव' का प्रतियोगी 'उपलम्भ' जिसका, ऐसा होना। पहिले अंश में 'घटाभाव' का प्रतियोगी घट लिया जाता है और दूसरे अंश में 'उपलम्भाभाव' का प्रतियोगी 'उपलम्भ' लिया जाता है। इसी को साधारण भाषा में यह कह सकते हैं घट के उपलम्भाभाव की घटाभाव के प्रत्यक्ष में योग्यता यही है कि 'घट के अस्तित्व के होने से घट का 'उपलम्भ' आ पड़ता है। क्योंकि जहां प्रकाशसंयोग विद्यमान है वहां यह कहा जा सकता है कि घट यदि होता तो उसका उपलम्भ भी होता; परन्तु अन्धकार में यह नहीं कहा जा सकता कि घट यदि होता तो उसका उपलम्भ होता। इसलिये अन्धकार में 'अनुपलम्भ' होना घटाभाव के चाक्षुष प्रत्यक्ष में कारण नहीं है क्योंकि वहां योग्यता नहीं है। परन्तु वहां पर भी घटाभाव का स्पार्शन प्रत्यक्ष तो हो ही सकता है क्योंकि अन्धकार में भी यह कहा जा सकता है कि घट यदि होता तो उसका स्पार्शनप्रत्यक्ष रूप उपलम्भ होता, इसलिये घट के स्पार्शन प्रत्यक्ष का 'अनुपलम्भ' घटाभाव के स्पार्शन प्रत्यक्ष में कारण कहा जा सकता है।

उपर्युक्त प्रकार की योग्यता को दृष्टि में रखते हुये 'गुरुत्व' आदि जो प्रत्यक्ष के अयोग्य हैं उनके 'अभाव' का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि वहां पर यह नहीं कहा जा सकता है कि यदि 'गुरुत्व' होता तो उसका प्रत्यक्ष भी होता।

इसी योग्यता की दृष्टि से न्याय-वैशेषिक में यह माना जाता है कि जिस-जिस इन्द्रिय से जिस-जिस का प्रत्यक्ष होता है उस-उस के अभाव का भी उसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है जैसे रूप का प्रत्यक्ष चक्षु से होता है

तो वायु में रूपाभाव का प्रत्यक्ष भी चक्षु से ही होगा। सुगन्ध का प्रत्यक्ष घ्राण से होता है तो पाषाण में सुगन्ध का अभाव भी घ्राण से ही ग्रहण किया जायगा। इसी प्रकार गुड में तीखेपन का अभाव, श्रोत्र में शब्द का अभाव और आत्मा में सुख का अभाव क्रमशः रसना श्रोत्र और मनस् इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किये जायेंगे, क्योंकि उपर्युक्त सब स्थलों पर यह कहा जा सकता है कि वायु में यदि रूप होता तो चक्षु से उसका ग्रहण होता अथवा पाषाण में यदि सुगन्ध होती तो उसका घ्राण से ग्रहण होता। इसी प्रकार की योग्यता अन्य उदाहरणों में भी दिखलाई जा सकती है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'वायु में रूपाभाव' या पाषाण में 'सुगन्ध का अभाव' आदि जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं वे सब 'संसर्गाभाव' के प्रत्यक्ष के हैं। संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष में जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है प्रतियोगी (जिसका अभाव होता है) की योग्यता अपेक्षित होती है जैसे कि 'वायु में रूपाभाव' स्थल पर रूपाभाव का प्रतियोगी 'रूप' है, उस रूप की चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष होने की योग्यता देखी जाती है। परन्तु 'अन्योन्याभाव' के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी की नहीं अपितु अधिकरण की अर्थात् अनुयोगी (जिसमें अभाव रहता है उस) की योग्यता देखी जाती है। (उदाहरणार्थ:—) 'यह स्तम्भ पिशाच नहीं है' इसका अर्थ यह है कि स्तम्भ में पिशाच का 'अन्योन्याभाव' है। यहाँ पर पिशाच 'प्रतियोगी' है जिसका 'अन्योन्याभाव' कहा गया है और स्तम्भ 'अनुयोगी' है जिसमें अन्योन्याभाव रहता है। इस स्थल पर यद्यपि प्रतियोगी पिशाच प्रत्यक्षयोग्य नहीं है तथापि इस अन्योन्याभाव का अनुयोगी 'स्तम्भ' प्रत्यक्ष के योग्य है इसलिये 'यह स्तम्भ पिशाच नहीं है' इस स्थल पर अधिकरण के प्रत्यक्ष योग्य होने से अन्योन्याभाव का प्रत्यक्ष हो जाता है।

सि० मु०:— एवं प्रत्यक्षं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधम्। तत्र लौकिकप्रत्यक्षे षोढा सन्निकर्षो वर्णितः। अलौकिकसन्निकर्षस्त्विदानीमुच्यते—

का०:—अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः ।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा ॥६३॥

सि० मु०:— व्यापारः सन्निकर्षः । सामान्यलक्षण इति सामान्यं लक्षणं यस्येत्यर्थः । तत्र लक्षणपदेन यदि स्वरूपमुच्यते तदा सामान्यस्वरूपा प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते । तच्चेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञाने प्रकारीभूतं बोध्यम् । तथाहि, यत्रेन्द्रियसंयुक्तो धूमादिस्तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानं यत्र जातं तत्र ज्ञाने धूमत्वं प्रकारः । तत्र धूमत्वेन सन्निकर्षेण धूमा इत्येवंरूपं सकलधूमविषयकं ज्ञानं जायते । अत्र यदीन्द्रियसम्बद्धमित्येवोच्यते तदा धूलीपटले धूमत्वभ्रमानन्तरं सकलधूमविषयकं ज्ञानं न स्यात् तत्र धूमत्वेन सहेन्द्रियसम्बन्धाभावात् । मन्मते तु इन्द्रियसम्बद्धं धूलीपटलं तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानम् तत्र प्रकारीभूतं धूमत्वं प्रत्यासत्तिः । इन्द्रियसम्बन्धश्च लौकिको ग्राह्यः । इदं च बहिरिन्द्रियस्थले । मानसस्थले तु ज्ञानप्रकारीभूतं सामान्यमात्रं प्रत्यासत्तिः । अतः शब्दादिना यत्किञ्चित् पिशाचाद्युपस्थितौ मानससकलपिशाचादिबोध उपपद्यते ।

अनु०:— इस प्रकार प्रत्यक्ष लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का है, उसमें से लौकिक प्रत्यक्ष में छै प्रकार के सन्निकर्ष का वर्णन किया गया । अब अलौकिक सन्निकर्ष को बतलाते हैं ।

अलौकिक व्यापार (सन्निकर्ष) तीन प्रकार का कहा गया है, सामान्य-लक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज ।

'व्यापार' का अर्थ है सन्निकर्ष । सामान्यलक्षण इसका अर्थ है 'सामान्य

है लक्षण' जिसका। यदि वहां लक्षण पद से 'स्वरूप' लिया जाय तो सामान्य है स्वरूप जिसका ऐसी प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) यह अर्थ हो जाता है; और उस (सामान्य) को 'इन्द्रियसम्बद्ध है विशेष्य जिसके ऐसे ज्ञान' में विशेषण रूप समझना चाहिये। उसी को बतलाते हैं, जहां इन्द्रियसंयुक्त धूम है और उसको विशेष्य करने वाला 'धूम' इस प्रकार का ज्ञान जहां हुआ है वहां ज्ञान में 'धूमत्व' प्रकार अर्थात् विशेषण है। वहां 'धूमत्व' इस सन्निकर्ष से 'सारे धूम' इस प्रकार का सारे धूमों को विषय करने वाला ज्ञान हो जाता है। यहां पर यदि ("इन्द्रियसम्बद्ध है विशेष्य जिस ज्ञान में उसमें विशेषण रूप") ऐसा न कहकर केवल 'इन्द्रियसम्बद्ध (जो सामान्य)' इतना ही कहें तो धूलि के समूह में धूमत्व के भ्रम होने के बाद सारे धूमों को विषय करने वाला ज्ञान न होगा, क्योंकि वहां 'धूमत्व' के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध का अभाव है और मेरे मत में तो इन्द्रियसम्बद्ध जो धूलिपटल उसको विशेष्य करने वाला 'धूम' इस प्रकार का ज्ञान हुआ, उसमें विशेषण हुआ 'धूमत्व' सन्निकर्ष है। और इन्द्रियसम्बन्ध यहां पर लौकिक समझना चाहिये और यह बात (कि इन्द्रियसम्बन्ध है विशेषण जिसमें ऐसे ज्ञान में प्रकारीभूत होना) बाह्य इन्द्रियस्थल में (अर्थात् बाह्य इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान के विषय में) कहा गया है मानस ज्ञान (अर्थात् अनुमान या शब्द से होने वाले ज्ञान) के स्थल में तो ज्ञान में विशेषण हुआ सामान्यमात्र प्रत्यासत्ति है, इसलिये शब्द आदि के द्वारा किसी पिशाच आदि की उपस्थिति होने पर सारे पिशाच आदि के विषय में मानस बोध (मानसिक ज्ञान का होना) बन सकता है।

व्याख्या:— यह ऊपर आ चुका है, प्रत्यक्ष लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का है। अलौकिक प्रत्यक्ष के सन्निकर्ष भी अलौकिक ही होते हैं। अलौकिक प्रत्यक्षों में से एक योगज प्रत्यक्ष माना जाता है जो योगियों को ही होता है, परन्तु दो प्रकार के अलौकिक प्रत्यक्ष जो कि 'सामान्यलक्षण' और 'ज्ञानलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा होते हैं, वे साधारण मनुष्यों को भी होते हैं। इन अलौकिक सन्निकर्षों के निरूपण करने वाली कारिका और

उसकी टीका के शब्दार्थों की व्याख्या करने से पूर्व उनका साधारणतया स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

सामान्यलक्षण सन्निकर्षः— न्याय-वैशेषिक के अनुसार 'व्याप्तिज्ञान' जो अनुमान के लिये आवश्यक है उसका स्वरूप है कि जहां जहां धूम होता है वहां वहां वह्नि होती है; अर्थात् 'साधन धूम' की 'साध्य वह्नि' के साथ व्याप्ति है। परन्तु इस पर बौद्धों की ओर से आक्षेप हुआ कि जब तक सारे धूम और सारी वह्नियों का प्रत्यक्ष न हो तब तक इस प्रकार का व्याप्तिज्ञान सम्भव ही नहीं और साधारण मनुष्य के लिये यह सम्भव ही नहीं कि उसे सब देशों और सब कालों के सारे धूमों और सारी वह्नियों का ज्ञान हो। इस कठिनता को दूर करने के लिये अर्थात् व्याप्तिज्ञान को सिद्ध करने के लिये न्याय-वैशेषिक ने सामान्यलक्षणरूप अलौकिक सन्निकर्ष की कल्पना की, जिसका तात्पर्य यही है कि जब किसी भी धूम का धूमत्व विशेषण के साथ ज्ञान होता है तो धूमत्व के सामान्य होने से 'धूमत्व' रूप से सारे धूमों की उपस्थिति हो जाती है। इस प्रकार सारे धूमों की उपस्थिति हो जाने से व्याप्तिज्ञान सम्भव है। धूमत्व सामान्य से सारे धूमों की उपस्थिति हो जाने को ही 'अलौकिक प्रत्यक्ष' कहा गया, जिसमें 'धूमत्व' सामान्य ही सन्निकर्ष बन जाता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का प्रत्यक्ष और उसका सन्निकर्ष अलौकिक है क्योंकि लौकिक प्रत्यक्ष में बताये सन्निकर्षों के अनुसार जिस पदार्थ से इन्द्रिय से सन्निकर्ष हो उसी का प्रत्यक्ष सम्भव हो सकता है।

ज्ञानलक्षण सन्निकर्षः— न्याय-वैशेषिक का ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष-सिद्धान्त बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और इसका विकास भी बौद्धों के साथ संघर्ष से हुआ, यह स्पष्ट है। जब हम किसी वस्तु का सविकल्पक प्रत्यक्ष करते हैं कि 'यह घट है' अथवा 'यह देवदत्त है' तो उसके साथ कुछ स्मरणात्मक ज्ञान भी होता है जैसे 'यह घट वही है जो पहिले भी देखा था' अथवा 'यह देवदत्त वही है जिसको पहिले भी अथवा किसी अन्य स्थल में देखा था'। अब यदि इस स्मरणात्मक ज्ञान को स्मरणात्मक ही माना जाय और प्रत्यक्षात्मक न माना जाय तो न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त का आधारभूत

'सविकल्पक प्रत्यक्ष' का सिद्धान्त ही न बन सकेगा और 'यह वही पदार्थ है जिसको मैंने पहिले देखा था' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा (recognition) जिससे किसी पदार्थ की स्थिरता सिद्ध होती है यह भी न बन सकेगी। इसलिये इस प्रकार के स्मरणात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष का अङ्ग बनाने के लिये न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय ने 'ज्ञानलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकर्ष की कल्पना की, जिसका उदाहरण यह है कि जब हम चक्षुष् से चन्दन को देखते हैं तो साथ ही उसके सुगन्धित होने का भी प्रत्यक्ष होता है। यहां सुगन्धित होने के ज्ञान को स्मरणात्मक न मानकर प्रत्यक्षात्मक माना जाता है, परन्तु चक्षुष् इन्द्रिय से तो सुगन्धि का सन्निकर्ष है नहीं इसलिये सुगन्ध के ज्ञान के लिये 'ज्ञानलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकर्ष की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार "यह देवदत्त वही है जिसको मथुरा में देखा था", यहां पर 'मथुरा में देखना' भूतकाल की घटना है उसका प्रत्यक्षात्मक ज्ञान 'ज्ञानलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकर्ष से ही सम्भव है।

इस प्रकार 'सामान्यलक्षण' और 'ज्ञानलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकर्षों का स्वरूप साधारण रूप से समझने के बाद अब कारिका और टीका के शब्दार्थ की व्याख्या की जायगी।

कारिका में 'व्यापार' शब्द सन्निकर्ष के लिये आया है, क्योंकि व्यापार का लक्षण है 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः' जो कि ऊपर कारिका संख्या ५९, की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है, वह लक्षण यहां पर नहीं घट सकता, क्योंकि 'सामान्यलक्षण' नामक व्यापार में 'व्यापार' का स्वरूप 'धूमत्व' भी हो जाता है जो कि नित्य पदार्थ होने से 'जन्य' नहीं है, अतएव वह उपर्युक्त अर्थ में व्यापार हो ही नहीं सकता. इसलिये यहां व्यापार का अर्थ है 'सन्निकर्ष'। व्यापार का यही अर्थ (सन्निकर्ष) कारिका संख्या ५९ में भी किया गया है। सामान्यलक्षण का शब्दार्थ यह किया गया कि "सामान्य है 'लक्षण' जिसका"। परन्तु लक्षण शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं:— 'स्वरूप' अथवा 'विषय', उसमें से यदि लक्षण का अर्थ स्वरूप करें तो यह अर्थ आ जायगा कि 'सामान्य है स्वरूप जिसका', ऐसा सन्निकर्ष।

इस सामान्य स्वरूप सन्निकर्ष के विषय में कहा गया कि वह इन्द्रियसम्बद्ध जो वस्तु उसको विशेष्य करने वाले ज्ञान में प्रकारीभूत अर्थात् 'विशेषण' के रूप में समझना चाहिये, अर्थात् यहां 'सामान्य' को इन्द्रियसम्बद्ध न कहकर यह कहा कि "इन्द्रियसम्बन्ध पदार्थ है विशेष्य जिस ज्ञान में उसमें 'सामान्य' विशेषणभूत होना चाहिये'। जब धूम का ज्ञान होता है तो उस ज्ञान में धूम विशेष्य होता है और 'धूमत्व' प्रकार अर्थात् विशेषण होता है। और वह 'धूमत्व ही सन्निकर्ष बन जाता है और उस धूमत्व नामक सामान्य सन्निकर्ष के द्वारा संसार के सारे धूमों का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार संसार के सारे धूमों का ज्ञान कराना ही 'सामान्यलक्षण' नामक अलौकिक सन्निकर्ष का प्रयोजन है। परन्तु यदि यहां पर 'इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्यज्ञान में जो सामान्य विशेषण हो', इतना न कहकर केवल यह ही कह दें कि 'जो सामान्य इन्द्रियसम्बद्ध हो' तो ऐसे स्थल पर दोष आयेगा जहां धूलि के समूह में धूमत्व के भ्रम के बाद धूमत्वस्वरूप 'सामान्यलक्षण' सन्निकर्ष से सारे धूमों का ज्ञान हुआ है क्योंकि वहां पर 'धूमत्व' के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं है, कारण यह है कि 'धूमत्व' के साथ इन्द्रिय का 'संयुक्त-समवाय' सन्निकर्ष वहीं सम्भव है जहां धूम के साथ इन्द्रिय का संयोग हो, और यहां तो धूलिसमूह के साथ इन्द्रियसंयोग है परन्तु यदि यहां इन्द्रिय-सम्बद्ध विशेष्य ज्ञान में जो सामान्य, प्रकार या विशेषण हो, ऐसा कहें तो कोई दोष नहीं आता क्योंकि यहां पर 'इन्द्रियसम्बद्ध' धूलिसमूह है, उसको विशेष्य करने वाला 'धूमः इस प्रकार का ज्ञान हुआ है, जिसमें धूमत्व प्रकार या विशेषण है। इस प्रकार वह धूमत्व सामान्य सन्निकर्ष हो जायगा और उससे सारे धूमों की उपस्थिति हो जायगी। यहां पर 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक ज्ञान' इत्यादि स्थल में 'इन्द्रियसम्बन्ध' लौकिक समझना चाहिये और यह भी ध्यान रखना चाहिये कि 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञान में जो सामान्य विशेषण हो' यह बात बहिरिन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के विषय में कही गयी है। अनुमान, शब्द आदि से उत्पन्न होने वाले मानस ज्ञान में तो 'इन्द्रियसम्बद्ध' यह अंश घट ही नहीं सकता क्योंकि वहां तो इन्द्रियसम्बद्ध कुछ होता ही नहीं। इसलिये मानसज्ञान के स्थल में, ज्ञान में जो प्रकारीभूत

अर्थात् विशेषण हो ऐसा सामान्य' इतना मात्र 'सन्निकर्ष' माना जायगा। इसलिये शब्द आदि के द्वारा जब किसी पिशाच का ज्ञान हो तो उस पिशाच के साथ इन्द्रियसम्बन्ध न होने पर भी 'पिशाचत्व' रूप से सारे पिशाचों की उपस्थिति हो जाती है।

सि० मु०:— परन्तु समानानां भावः सामान्यम्, तच्च क्वचिन्नित्यं धूमत्वादि, क्वचिच्चानित्यं घटादि। यत्रैको घटः संयोगेन भूतले समवायेन कपाले ज्ञातस्तदनन्तरं सर्वेषामेव तद्घटवतां भूतलादीनां कपालादीनां वा ज्ञानं भवति तत्रेदं बोध्यम्। परन्तु सामान्यं येन सम्बन्धेन ज्ञायते तेन सम्बन्धेनाधिकरणानां प्रत्यासत्तिः।

अनु०:— परन्तु (सामान्यलक्षण, इस शब्द में) समान पदार्थों के भाव अर्थात् साधारण धर्म को सामान्य कहते हैं। वह कहीं तो नित्य 'धूमत्व' आदि है (अर्थात् न्याय-वैशेषिक के अनुसार नित्य जाति), कहीं अनित्य घट आदि (भी सामान्य रूप हो जाता है, जिसका उदाहरण आगे दिया है)। जहां एक घट संयोग से भूतल में, या समवाय से कपालों में जाना गया, उसके बाद उस घट वाले सब भूतलों का और सारे घट वाले कपालों का ज्ञान होता है वहां यह बात (कि अनित्य वस्तु भी सामान्यरूप प्रत्यासत्ति हो सकती है) जाननी चाहिये, परन्तु सामान्य जिस सम्बन्ध से (अधिकरण में) जाना जाता है, उसी सम्बन्ध से (उस सामान्य को रखने वाले) अधिकरणों की प्रत्यासत्ति (अर्थात् सन्निकर्ष) होता है (जैसे कि ऊपर के उदाहरण में संयोग और समवाय सम्बन्ध से घट के अधिकरण भूतल और कपाल दिखाये गये हैं)।

व्याख्या:— साधारणतया न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में सामान्य का अर्थ नित्यजातिरूप सामान्य लिया जाता है, किन्तु यहां बतलाया कि इस प्रकरण में 'सामान्य' शब्द 'साधारण धर्म' के लिये अर्थात् व्यापक अर्थ में है

जिससे कि कहीं तो जातिरूप सामान्य शब्द से नित्य 'धूमत्व' आदि लिये जाते हैं, और कहीं अनित्य 'घट' भी सामान्य हो जाता है, क्योंकि सारे घट वाले भूतलों का घट साधारण धर्म है। साथ ही यह भी बतलाया कि सामान्य धर्म जिस सम्बन्ध से अधिकरण में ज्ञात होता है, उसी सम्बन्ध से उस अधिकरण वाले सारे धर्मों को उपस्थित करता है, जैसे कि संयोग सम्बन्ध से घटयुक्तभूतल का ज्ञान होने पर संयोग सम्बन्ध से ही घटयुक्त सारे भूतलों को सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से उपस्थिति होगी। इसी प्रकार समवाय से घटयुक्त कपाल का ज्ञान होने पर समवाय सम्बन्ध से ही घटयुक्त सारे कपालों की उपस्थिति होगी।

सि० मु०:— किन्तु यत्र तद्घटनाशान्तरं तद्घटवतः स्मरणं जातं तत्र सामान्यलक्षणया सर्वेषां तद्घटवतां भानं न स्यात् सामान्यस्य तदानीमभावात्। किंचेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकं घट इति ज्ञानं यत्र जातं तत्र परदिने इन्द्रियसम्बन्धं विनापि तादृशज्ञानप्रकारीभूतसामान्यस्य सत्त्वात्तादृशज्ञानं कुतो न जायते, तस्मात्सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रत्यासत्तिर्न तु सामान्य-मित्याह।

का०:—आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते।

सि० मु०:— आसत्तिः प्रत्यासत्तिरित्यर्थः। तथा च सामान्यलक्षण इत्यत्र लक्षणशब्दस्य विषयोऽर्थः। तेन सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते।

अनु०:— किन्तु जब उस घट के नाश के बाद उस घट वाले (भूतल या कपाल) का स्मरण हुआ तो 'सामान्यलक्षण' के द्वारा सारे घट वालों का ज्ञान नहीं होना चाहिये, क्योंकि सामान्य (घट जो कि सन्निकर्ष रूप था) उस समय नष्ट हो चुका है। तथा इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्य है जिसमें, ऐसे

घट का ज्ञान जब हुआ तो उसके बाद अगले दिन इन्द्रियसम्बन्ध के विना भी उस प्रकार का ज्ञान (कि सब घट, घटत्व वाले हैं) क्यों नहीं होता, क्योंकि उस प्रकार के (अर्थात् इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक घट) ज्ञान के 'प्रकार' अर्थात् 'विशेषण' रूप सामान्य (अर्थात् घटत्व' नित्य होने से) विद्यमान है इसलिये (उपर्युक्त दोषों का उत्तर देने के लिये (ग्रन्थकार) कहते हैं कि सामान्यविषयक ज्ञान प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) है न कि सामान्यः—

सामान्य का ज्ञान ही आश्रयों की (सामान्य धर्म से युक्त सारे अधिकरणों की) प्रत्यासत्ति (अर्थात् सन्निकर्ष) माना जाता है।

(कारिका में आगे) आसत्ति शब्द का अर्थ है प्रत्यासत्ति। इस प्रकार 'सामान्य-लक्षण' इस शब्द में 'लक्षण' शब्द का अर्थ है 'विषय' जिससे कि 'सामान्यविषयक ज्ञान' ही प्रत्यासत्ति (अर्थात् सन्निकर्ष) है यह अर्थ आ जाता है।

व्याख्याः— यहां पर यह बताया गया है कि यदि सन्निकर्ष का स्वरूप 'सामान्य' को मानें तो उसमें अधिक दोष आयेंगे। इसलिये सन्निकर्ष का स्वरूप सामान्य को नहीं मानते, प्रत्युत सामान्य के ज्ञान को मानते हैं। सामान्य को मानने में दोष यह आयेगा कि जहां पर 'घट' सामान्य रूप है वह अनित्य होने से यदि नष्ट हो जाय तो उस 'घट' के स्मरण से सारे घट वालों की उपस्थिति सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से नहीं होगी। परन्तु वस्तुतः 'घट' के स्मरण के द्वारा सारे घट वालों की उपस्थिति अभीष्ट है, इसलिये घटरूप सामान्य को सन्निकर्ष मानने में दोष होगा। इसी प्रकार जहां एक बार 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक' घट का ज्ञान हुआ अर्थात् इन्द्रियसम्बन्ध के द्वारा घट का ज्ञान हुआ वहां अगले दिन इन्द्रियसम्बन्ध के विना भी अर्थात् इन्द्रियसम्बन्ध के द्वारा घटज्ञान न होने पर भी 'सब घट घटत्व वाले हैं' ऐसी उपस्थिति हो जायगी क्योंकि उस इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक घटज्ञान का प्रकार अर्थात् विशेषण जो घटत्व था, वह नित्य होने से विद्यमान ही है। परन्तु सामान्य को स्वरूपतः सन्निकर्ष न मानकर यदि सामान्य के ज्ञान को सन्निकर्ष मानें तो कोई दोष नहीं होगा,

क्योंकि प्रथम उदाहरण में घट का नाश होने पर भी घटज्ञान तो सम्भव है ही। द्वितीय उदाहरण में यद्यपि 'घटत्व' रूप सामान्य नित्य है परन्तु घट से इन्द्रियसम्बन्ध के विना उसका ज्ञान सम्भव नहीं। इसलिये 'सामान्य-लक्षण' प्रत्यासत्ति इस शब्द में लक्षण शब्द का अर्थ 'स्वरूप' न लेकर उसका अर्थ 'विषय' लेते हैं। इस प्रकार 'सामान्यविषयक ज्ञान' अर्थात् सामान्य का ज्ञान प्रत्यासत्ति का स्वरूप हो जाता है।

सि० मु०:-- ननु चक्षुःसंयोगादिकं विनापि सामान्य-ज्ञानं यत्र वर्तते तत्र सकलघटादीनां चाक्षुषादिप्रत्यक्षं स्यादत आह--

का०:- तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते ॥६४

सि० मु०:---- तदिति। अस्यार्थः-- यदा बहिरेन्द्रियेण सामान्यलक्षणया ज्ञानं जननीयं तदा यत्किञ्चिद्धर्मिणि तत्सामान्यस्य तदिन्द्रियजन्यज्ञानस्य सामग्री अपेक्षिता। सा च सामग्री चक्षुःसंयोगालोकसंयोगादिकम्। तेनान्धकारादौ चक्षुरादिना तादृशज्ञानं न जायते।

अनु०:— प्रश्न यह होता है कि चक्षुः संयोग आदि के विना भी जहां (अनुमान या शब्द से) सामान्यज्ञान हो जाता है, वहां पर सम्पूर्ण घट आदि का चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष होना चाहिये। इसलिये कहा गया :—

उस इन्द्रिय से होने वाले उस धर्म (घटत्व आदि) के ज्ञान की (सारी) सामग्री अपेक्षित होती है।

इसका अर्थ यह है कि जब बाह्य इन्द्रिय से सामान्य लक्षण के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता हो तो किसी भी धर्मी (घट आदि वस्तु) में उस सामान्य (घटत्व आदि) के, उस इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले, ज्ञान की (सारी) सामग्री अपेक्षित होती है और वह सामग्री चक्षुःसंयोग, प्रकाशसंयोग आदि

है। इसलिये अन्धकार आदि में चक्षु आदि से वैसा ज्ञान (अर्थात् अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा सारे घटों का चाक्षुप ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

व्याख्या:— जब एक घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है तो उसमें प्रकारीभूत 'घटत्व' सामान्य के द्वारा सारे घटों का अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। यहां प्रश्न किया गया कि यदि चक्षुःसंयोग के विना शब्द या अनुमान से घट के ज्ञान होने पर जो घटत्व का ज्ञान हो उसके द्वारा भी सारे घटों का अलौकिक सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से चाक्षुष अलौकिक प्रत्यक्ष होना चाहिये। इसका उत्तर दिया कि जब बाह्य इन्द्रिय से सामान्यलक्षण द्वारा चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष करना हो तो किसी घट आदि धर्मी में घटत्व सामान्य के, उस चक्षु आदि इन्द्रिय से, ज्ञान होने की सारी सामग्री अपेक्षित होती है अर्थात् यदि सारे घटों का अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष करना है तो चक्षुःसंयोग द्वारा घट का संयोग होने पर जो 'घटत्व' का लौकिक संयुक्तसम्वायसम्बन्ध से ज्ञान होने के लिये महत्परिमाण उद्भूत रूप, प्रकाशसंयोग आदि सामग्री चाहिये, वह सब अपेक्षित है। और उस सामग्री के साथ घट में चक्षुःसंयोग होने पर जो 'घटत्व' का चाक्षुष प्रत्यक्ष होगा वही सारे घटत्व वाले घटों के अलौकिक प्रत्यक्ष में सामान्यलक्षणरूप अलौकिक सन्निकर्ष हो सकेगा, इसलिये अनुमान द्वारा घटत्व का ज्ञान होने पर सारे घटों का चाक्षुष अलौकिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

सि० मु०:-- ननु ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिर्यदि ज्ञानरूपा सामान्यलक्षणाऽपि ज्ञानरूपा तदा तयोर्भेदो न स्यादत आह--

का०:-विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः॥

सि० मु०:-- सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिर्हि तदाश्रयस्य ज्ञानं जनयति। ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिस्तु यद्विषयकं ज्ञानं तस्यैव प्रत्यासत्तिरिति।

अनु०:— प्रश्न यह होता है कि जब कि ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति ज्ञान

रूप है और सामान्यलक्षणा भी ज्ञान रूप है तब उनका भेद नहीं होना चाहिये इसलिये कहते हैं:—

कि जिसका ज्ञान (विषयी) होता है उसी का सन्निकर्ष (व्यापार) ज्ञान-लक्षण (सन्निकर्ष) कहा जाता है।

सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष सामान्य के अधिकरणों का ज्ञान कराता है, परन्तु ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष तो जिस (सुगन्ध आदि) का अलौकिक ज्ञान हुआ है उसी की प्रत्यासत्ति अर्थात् सन्निकर्ष का नाम है।

व्याख्या:- सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति की व्याख्या में यह कहा गया कि 'सामान्य' प्रत्यासत्ति या सन्निकर्ष नहीं है प्रत्युत 'सामान्य का ज्ञान' प्रत्यासत्ति या सन्निकर्ष स्वरूप है। इस प्रकार सामान्यलक्षण सन्निकर्ष भी ज्ञानस्वरूप हुआ और ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष तो ज्ञान स्वरूप है ही, तो प्रश्न यह होता है कि उन दोनों में अन्तर क्या रहा ? उस के उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि दोनों ही सन्निकर्ष ज्ञानस्वरूप हैं तो भी 'सामान्य का ज्ञान' स्वरूप जो सामान्यलक्षण सन्निकर्ष वह उस सामान्य के सारे अधिकरणों का अलौकिक प्रत्यक्ष कराता है, परन्तु ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से चन्दन में जिस सुगन्ध आदि का ज्ञान होता है, उस सुगन्ध का सन्निकर्ष ही ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष का स्वरूप है, अर्थात् सामान्यलक्षण के स्थल में हम 'सामान्य' अलौकिक सन्निकर्ष से उसके सारे अधिकरणों का अलौकिक प्रत्यक्ष करते हैं, परन्तु ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष में तो जिस सुगन्ध आदि का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है वही सन्निकर्ष का स्वरूप है अर्थात् सन्निकर्ष के द्वारा हम किसी अन्य पदार्थ तक नहीं जाते।

अब इसके आगे सामान्यलक्षण सन्निकर्ष के द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष क्यों माना गया तथा ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष क्यों माना गया, इसका आलोचनात्मक निरूपण करते हुये उन दोनों का भेद दिखाते हैं:-

सि० मु०:— अत्रायमर्थः। प्रत्यक्षे सन्निकर्षं विना भानं न संभवति। तथा च सामान्यलक्षणां विना धूमत्वेन सकलधूमानां वह्नित्वेन सकलवह्नीनां च भानं कथं भवेत्तदर्थं सामान्य-

लक्षणा स्वीक्रियते । न च सकलवह्निधूमभानाभावे का क्षतिरिति वाच्यं, प्रत्यक्षधूमे वह्निसम्बन्धस्य गृहीतत्वादन्यधूमस्य चानुपस्थितत्वाद्धूमो वह्निव्याप्यो नवेति संशयानुपपत्तेः। मन्मते तु सामान्यलक्षणया सकलधूमोपस्थितौ कालान्तरीयदेशान्तरीयधूमे वह्निव्याप्यत्वसंदेहः संभवति। न च सामान्यलक्षणास्वीकारे प्रमेयत्वेन सकलप्रमेयज्ञाने जाते सार्वज्ञापत्तिरिति वाच्यं, प्रमेयत्वेन सकलप्रमेयज्ञाने जातेऽपि विशिष्य सकलपदार्थानामज्ञातत्वेन सार्वज्ञ्याभावात्।

अनु०:— यहां पर यह तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष के विना किसी पदार्थ का बोध नहीं हो सकता, इसलिये सामान्यलक्षणा को माने विना धूमत्व रूप से सारे धूमों का, और वह्नित्वरूप से सारी वह्नियों का बोध किस प्रकार हो, इसलिये सामान्यलक्षणा स्वीकार की जाती है। और यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि सारी वह्नि और सारे धूमों के बोध न होने से क्या हानि होगी, क्योंकि प्रत्यक्ष जो धूम उसमें वह्नि का सम्बन्ध–गृहीत होता है, परन्तु अन्य धूम के अनुपस्थित होने से (उसके विषय में) धूम वह्निव्याप्य है या नहीं, यह संशय नहीं बन सकता और मेरे मत में (अर्थात् सामान्यलक्षणा को स्वीकार करने वाले न्याय-वैशेषिक के मत में) सामान्यलक्षणा के द्वारा सारे धूमों की उपस्थिति होने पर कालान्तर और देशान्तर के धूम में वह्निव्याप्या होने का संदेह संभव हो सकता है। और यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि सामान्यलक्षणा के स्वीकार करने पर 'प्रमेयत्व रूप' सामान्य से सारे प्रमेयों का ज्ञान हो जाने पर सर्वज्ञता होगी, क्योंकि प्रमेयत्व रूप से सब प्रमेयों का ज्ञान हो जाने पर भी अपने-अपने विशेष रूप से सब पदार्थों के अज्ञात होने से सर्वज्ञता नहीं हो सकती।

व्याख्याः – यह बतलाया गया कि अलौकिक सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष

को न्याय-वैशेषिक ने क्यों माना है ? उसका उत्तर यही है कि सन्निकर्ष के विना प्रत्यक्ष हो नहीं सकता और जब हम एक जगह धूम का वह्नि के साथ सम्बन्ध देखते हैं तो अन्य जगह भी धूम का वह्नि से सम्बन्ध होगा या नहीं यह शंका भी तभी उत्पन्न हो सकती है जब अन्य जगह के और अन्य कालों के धूम भी उपस्थित हों, परन्तु अन्य जगह और अन्य कालों के धूम विना सन्निकर्ष के उपस्थित नहीं हो सकते और उनके साथ संयोग आदि लौकिक सन्निकर्ष संभव नहीं इसलिये सामान्यलक्षण नामक अलौकिक सन्निकर्ष मानना आवश्यक है कि जिससे सारे धूमों की और सारी वह्नियों की उपस्थिति हो सके जिससे कि उनकी व्याप्ति के विषय में संदेह होकर व्याप्ति का निश्चय हो सके।

फिर यहां यह शङ्का की गयी कि यदि धूमत्व रूप सामान्य से सारे धूमों का अलौकिक प्रत्यक्ष हो सकता है तो प्रमेयत्व रूप सामान्य से सारे प्रमेयों का भी अलौकिक प्रत्यक्ष हो जायगा और इस प्रकार मनुष्य सर्वज्ञ हो जायगा तो इसका उत्तर दिया कि प्रमेयत्व रूप से सारे पदार्थों का ज्ञान होने पर भी उनके विशेष विशेष रूप से उन पदार्थों का ज्ञान नहीं होगा और जब तक पदार्थों के विशेष रूप से उनका ज्ञान न हो तब तक सर्वज्ञता का प्रश्न नहीं उठ सकता।

अब इसके बाद ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष का प्रयोजन और स्वरूप बताया जाता है।

सि० मु०:— एवं ज्ञानलक्षणाया अस्वीकारे सुरभि चन्दनमिति ज्ञाने सौरभस्य भानं कथं स्यात्। यद्यपि सामान्यलक्षणयापि सौरभभानं संभवति तथापि सौरभत्वस्य भानं ज्ञानलक्षणया। एवं यत्र धूमत्वेन धूलीपटलं ज्ञातं तत्र धूलीपटलस्यानुव्यवसाये भानं ज्ञानलक्षणया।

अनु०:—इस प्रकार ज्ञानलक्षण के अस्वीकार करने पर 'चन्दन

सुगन्धयुक्त है' इस ज्ञान में सुगन्ध का बोध कैसे होगा, यद्यपि सामान्य-लक्षण से भी सुगन्ध का बोध हो सकता है परन्तु सुगन्ध में रहने वाली 'सुगन्धत्व' जाति का बोध ज्ञानलक्षण से ही होगा। इसी प्रकार जहां धूमत्व रूप से धूलिसमूह को जाना है वहां धूलिसमूह का अनुव्यवसाय (मानस ज्ञान) में भान ज्ञानलक्षणा से होगा।

व्याख्याः—जैसा कि इस अलौकिक सन्निकर्ष के प्रकरण के प्रारम्भ में बतलाया गया कि जब चन्दन को देखकर 'यह सुगन्धयुक्त चन्दन है' इस प्रकार का ज्ञान होता है जिसको न्याय-वैशेषिक प्रत्यक्षरूप मानता है। वहां पर न केवल 'चन्दन' अंश का प्रत्यक्ष है प्रत्युत 'सुगन्ध' अंश का भी न्याय-वैशेषिक के अनुसार प्रत्यक्ष ही है न कि स्मरण, तो ऐसी दशा में सुगन्ध के साथ चक्षु इन्द्रिय का कोई संयोग आदि लौकिक सन्निकर्ष सम्भव नहीं इसलिये उस प्रत्यक्ष ज्ञान को अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा ही माना जा सकता है। परन्तु जब चन्दन के सुगन्ध युक्त होने का ज्ञान होता है तो यह कहा जा सकता है कि 'सुगन्धत्व' (सौरभत्व) रूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से सुगन्ध का ज्ञान हो जायगा। उसके लिये ज्ञानलक्षण मानने की आवश्यकता नहीं। इसका उत्तर दिया कि यद्यपि 'सुगन्धत्व' रूप सामान्यलक्षण से सुगन्ध का भान होना संभव है परन्तु सुगन्धत्व रूप सामान्य का भान किस प्रकार होगा? उसके लिये 'ज्ञानलक्षणा' माननी आवश्यक है। अर्थात् जिस प्रकार घट के साथ चक्षुःसंयोग होने पर संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से 'घटत्व' का ज्ञान हो जाता है, उस प्रकार यहां पर चक्षु का सौरभ से तो किसी प्रकार का सन्निकर्ष सम्भव ही नहीं, इसलिये 'सौरभत्व' का ज्ञान किसी अलौकिक सन्निकर्ष से ही हो सकता है और वह अलौकिक सन्निकर्ष ही 'ज्ञानलक्षण' सन्निकर्ष है। इसके अतिरिक्त ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के लिये दूसरी युक्ति यह भी दी है कि धूलिसमूह का जहां धूमत्व रूप से ज्ञान होता है वहां 'पर इस पदार्थ को धूमत्व रूप से जाना' इस प्रकार के अनुव्यवसाय में धूलिसमूह का भी भान होता है। वह धूलिसमूह का अनुव्यवसाय में भान किसी लौकिक सन्निकर्ष से तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि इन्द्रिय का धूलिसमूह से सम्बन्ध ही नहीं

हुआ है। इसलिये अनुव्यवसाय में धूलिसमूह के भान को मानने के लिये ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष स्वीकार करना पड़ेगा। यह तो हुआ उदाहरण भ्रम स्थल का, किन्तु यथार्थ ज्ञान के स्थल में भी मैं घट को जानता हूँ इस प्रतीति में ज्ञान का प्रत्यक्ष तो 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष से हो सकता है। क्योंकि आत्मा मनस् से संयुक्त है और उसमें ज्ञान का समवाय है; परन्तु मानस प्रत्यक्ष रूप ज्ञान में घट भी भासता है। यह तो स्पष्ट ही है कि मानस ज्ञान में घट का भान लौकिक सन्निकर्ष से नहीं हो सकता क्योंकि लौकिक सन्निकर्ष से तो घट का भान चाक्षुष प्रत्यक्ष में ही होता है, परन्तु मानस प्रत्यक्ष में घट के भान के लिये अलौकिक ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष स्वीकार करना ही पड़ेगा। इन हेतुओं से दिखाया कि ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष का स्वीकार करना आवश्यक है। अब आगे योगज नामक अलौकिक सन्निकर्ष को दिखाते हैं।

का०: योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः॥६५

सि० मु०:— योगाभ्यासजनितो धर्मविशेषः श्रुतिपुराणादि-प्रतिपाद्य इत्यर्थः। युक्तयुञ्जानभेदत इति। युक्तयुञ्जानरूपयोगि-द्वैविध्याद्धर्मस्यापि द्वैविध्यमिति भावः।

का०:-युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः॥

युक्तस्य तावद्योगजधर्मसहायेन मनसा आकाशपरमाण्वा-दिनिखिलपदार्थगोचरं ज्ञानं सर्वदैव भवितुमर्हति। द्वितीयस्य चिन्ताविशेषोऽपि सहकारीति।

अनु०:— योगज सन्निकर्ष दो प्रकार का होता है 'युक्त' और 'युञ्जान' के भेद से।

योगाभ्यास से उत्पन्न हुआ धर्मविशेष श्रुति स्मृति पुराण इत्यादि से कहा गया है। 'युक्तयुञ्जानभेदतः' इस अंश की व्याख्या करते हैं। 'युक्त

और युञ्जान रूप से योगियों के दो प्रकार के होने से योगज धर्म भी दो प्रकार का होता है।

'युक्त' योगी को सर्वदा भान होता है, परन्तु दूसरा (अर्थात् युञ्जान योगी) चिन्ता (ध्यान) से सहकृत होता है (अर्थात् ध्यान के सहकार से वह पदार्थों का साक्षात्कार करता है।

युक्त का योग से उत्पन्न हुये धर्म की सहायता से मनस् के द्वारा आकाश परमाणु आदि निखिल पदार्थ गोचर ज्ञान सदा ही होता है परन्तु द्वितीय (अर्थात् युञ्जान) का चिन्ताविशेष (ध्यानविशेष) भी सहकारी होता है।

व्याख्याः— यहां पर योगज अलौकिक सन्निकर्ष बताया गया है जो कि सर्व साधारण को नहीं होता, प्रत्युत योगियों को ही होता है। योगियों के अन्दर योग से एक विशेष धर्म या शक्ति उत्पन्न होती है। योगी दो प्रकार के बताये गये हैं, एक 'युक्त' जो योग में परिपूर्ण हो चुके हों और दूसरे 'युन्जान' जो अभी योग का अभ्यास ही कर रहे हों। इनमें से युक्त योगियों को विना किसी प्रकार का ध्यानविशेष किये आकाश परमाणु आदि सब पदार्थों का ज्ञान सब समय रहता है, परन्तु युन्जान योगियों को अलौकिक ज्ञान चिन्ता अर्थात् ध्यानविशेष के करने पर ही होता है।

मुद्रक- पीयूष चन्द्र, व्यवस्थापक, सरस्वती प्रेस, मेरठ।

नामानुक्रमणी

अखण्डोपाधि ३०३, ३०६
अणु १७८, १८०, १८१
अणुपरिमाण ८६, ८६, १५२, १५३
अणुवाद १७७
अतिव्याप्ति ८३
अतिशय २५६, २५८
अतीन्द्रिय जाति ८६
अतीन्द्रिय सामान्य ८८
अत्यन्ताभाव ६, ११, १२, ६६, ६७, ७०, ७१, ७२
अदृष्ट ३०, ३१
अद्वैतवाद २५६
अधर्म ३०, ३१, २७५
अनुकूलतर्क १३, १७६
अनुमान १३, २८५
अनुमिति २८१, २८३, २८४ २८५, २६६
अनुयोगिता ३०६
अनुयोगी ६७
अनुव्यवसाय ३०२, ३०४, ३०५, ३४६
अनुष्णाशीत अपाकज स्पर्श २१४
अन्तरिन्द्रिय २८२
अन्त्यावयवी १३४, १३५, १७२, १८६, १८७, १८८, १८९
अन्नम्भट्ट ११०
अन्यथासिद्ध ६४, १११, ११२, ११८, १२०, १२१
अन्योन्याभाव १२, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९
अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष ३३०, ३३२
अन्वय ७८, ११२
अपकृष्ट महत्परिमाण १७६, १८१
अपर ३२, ४३
अपरत्व ३०, ३१, ४१, १२७, १५५
अपेक्षाबुद्धि १४१, १५१, १५२, १५४, २२७
अभाव ७, १७, १८, ६४, ६५, ७३, ७४, ७५, १७७
अभाव का ज्ञान ३३०
अभाव के प्रत्यक्ष ३२६, ३२९
अभास्वर १९६
अभिधा २६६
अभिघात १००, १०१

अभिधेयत्व ७७, ७८
अभ्युपगमसिद्धान्त २६६
अयोनिज १८३, २०१, २०५
अर्थक्रियाकारी २४८
अर्थक्रियाक्षमता २५८
अर्थवाद २६१
अर्थवादवाक्य २६२
अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष ३४२
अलौकिक प्रत्यक्ष ८९, १३१, ३३४, ३४३, ३४५
अलौकिक सन्निकर्ष ८९, ९१, १३१, १३२, ३३३, ३३४, ३४६, ३४८
अवच्छेदक १५९, ३०४
अवयविवाद १६९
अवयवी १६८, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७६, १८८, १८९, २४०
अवश्यक्लृप्त ११७, १२२
अविनाभाव १६
अव्यपदेश्य २८२
अव्यभिचारिन् २८२
अव्याप्ति ८३
असत्कार्यवाद ६२, ९६, १६९
असमवायिकारण ६३, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १२२, १२३, १२४, १६०
असम्बन्ध ४०
असाधारण निमित्तकारण २२८
अस्तित्व ४२, १२५
आकर २१८
आकाश २४, २१९, २२०, २२१
आकाशत्व ३०६
आत्मा २४, २३३, २३५, २३८, २४२, २६१, २६२, २६९, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७, २९६, २९९, ३००, ३२२, ३२३
आत्मा के विशेष गुण ३००
आरम्भवाद ६२, ९६, १६९
आलयविज्ञान २४४, २४७, २४८, २४९, २५०
आलयविज्ञानधारा २५२
'आवश्यक' ११९
आश्रितत्व १२५
इच्छा २०, ३१, २९९

इन्द्रिय ३०८, ३०९, ३१२, ३१३
इन्द्रिय से ग्राह्य २९९
इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणता ३२६
इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता सन्निकर्ष ३२७
ईश्वर १३, १४२, १५६, २३३, २३४, २३६, २४५, २४६, २६१, २६२, २६३, २६५, २६६, २८१, २८२
ईश्वर में प्रमाण १२
उदयनाचार्य १८, ३५, ३६, ६२
उदाहरण १३
उद्देश्य ३०३
उद्बोधक २३८
उद्भिज १८३
उद्भूतत्व ३१०, ३११, ३१२
उद्भूतरूप २८८, ३१७, ३१८, ३१९, ३२२
उपमान २८५
उपमिति २८३, २८५, २९६
उपराग २६८
उपलब्धि २७०, २७१
उपलम्भाभाव ३२९
उपादानकारण ११०, १३०, २०२, २५४
उपाधि २६, ३०६
उष्णस्पर्श २०५
कणाद ३१, ४२, ५१, ५२, ८६
करण ३१३, ३१५
कर्तृजन्यत्व १४, १५
कर्म २, १७
कर्मत्व जाति ३२
कर्मवत्त्व १२७
कर्मों का विभाग ३२
क्षणिक विज्ञानवाद २४९
क्षणिकविशेषगुणवत्त्व १४०, १४१
कारण का लक्षण ९३
कारणता ८५
कारणवाद ६५, ६६, १६०
कारिकावली ३
कारणैकार्थ-प्रत्यासत्ति १०३, १०४, १०६, १०७, १०८, १०९
कार्यकारणभाव १६, २३९
कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति १०३, १०४, १०५, १०७, १०८
कार्यकारणवाद १६६
काल २४, २२४, २२५, २२६, २२७
किरणावली ३६, ६२
कुमारिल १९, ४९, २८६
कुर्वद्रूपता २५५, २५७, २५८, २५९

केवलान्वयी ७८, १४८
केशवमिश्र ५५, १०६
गङ्गेश २८३
गन्ध ३०, ३१, १५८
गाढनिद्रा २४८
गीता २७४
गुण १७
गुणयोगिता १२६
गुणों २, ३०, १५०
गुरुत्व ३०, ३१, १५०
गौतम २८२
घ्राणसंयुक्तसमवायसम्बन्ध ३२३
घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष ३२३
घ्राणेन्द्रिय १९०, १९१, २८७
चक्षुष् २०८
चक्षुरिन्द्रिय २८७, २९१
चतुर्थ अन्यथासिद्ध ११६
चर्ममनःसंयोग २९६
चाक्षुषप्रत्यक्ष २८९, २९१, २९३, ३४२
चार्वाक २३९, २४०, २४१, २५७, २८५
छै प्रकार के प्रत्यक्ष में कारण ३०८
जन्यप्रत्यक्ष २८६
जरायुज १८३
जल २४, १९३, १९६, २०१
जलत्व १९४, १९५
जलीयशरीर २०२
जाति का ज्ञान ३०६
जातिबाधक ३५, ३६
जीव २६३
जीवात्मा १४२, २६५, २६६
ज्ञान २४६, २९९
ज्ञानलक्षण १३१, १३२, ३३३, ३३४, ३३६, ३४५, ३४६
ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष १२९, ३३५, ३४३, ३४७
ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति ३४२
ज्ञानसामान्य २९५, २९६
ज्ञानस्वरूप २६२
ज्ञानेन्द्रिय २८२
ज्ञेयत्व ७६, ७८
तत्त्वचिन्तामणि २०, २८३
तमस् २८, २७४
तर्कभाषा ५५
तेजस्त्व १५७
तेजस् २४, २०४
तेजस् के विषय २०९
तैजस २११, २१३
त्र्यणुक १७६, १७८, १८०, १८१
त्वक् २१७, २९८
त्वग् इन्द्रिय २९०, २९१

त्वङ्मनःसंयोग २६८, २६६
त्वक्संयुक्तसमवायसन्निकर्ष ३२३
त्वक्संयुक्तसमवेतसमवाय ३२३
त्वक् संयोग ३२३
त्वाच प्रत्यक्ष २६१, २६८
दिक् २४, २३०, २३१
दिङ्नाग ५०, ५१, २५४, २८३
दिङ्नागसम्प्रदाय ४६
दुःख ३०, ३१, २६६
दो प्रकार के ज्ञान ३०१
द्रवत्व ३०, ३१
द्रव्य २, १७, २४, २५
द्रव्यत्व २५, १२६, १६३
द्रव्यत्व का लक्षण २७
द्रव्यारम्भकता १३४
द्वित्व १५२
द्वितीय अन्यथासिद्ध ११२
द्वेष ३०, ३१, १५०, १५६, २६६, ३००
द्व्यणुक ६७, १३४, १८०, १८१
धर्म ३०, ३१, ६४, ७७, २७५
धर्मधर्मिभेद ६३, ६४
धर्मी ६४, ७७
ध्वंस ६६, ७०
ध्वंसाभाव १२
नवीन नैयायिक ८, २६२, २६३, २६४
नवीन मत ३१२
नव्यनैयायिक ५
निमित्तकारण १३, ६३, ६५, ६६, १००, ११०, १२४, १६०, २७५
निर्विकल्पक २६७, ३००
निर्विकल्पक ज्ञान ३००, ३०२, ३०३, ३०५
निर्विकल्पक प्रत्यक्ष २८३, ३०१
निष्प्रकारक ३०५
नृसिंह १८६
नेत्र का विषय २८८
नैमित्तिक द्रवत्व २०४, २०५, २०६
नैयायिक ३२७
नोदन १००
न्याय २८६
न्यायकारिकावली २८५
न्यायतत्त्वचिन्तामणि १६
न्याय-वैशेषिक २४०, २५६
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ३
न्याय-सूत्र २८२
पञ्चम अन्यथासिद्ध ११७, १२१
पञ्चमी अन्यथासिद्धि ११४, ११५

पदार्थधर्मसंग्रह ३६
पदार्थविभाजकोपाधि ७९, ८०, ८१, ८३, ८४
पर ३२, ४३
परत्व ३०, ३१, ४१, १२७, १५५
परममहत्परिमाण ८८, ८९, ९१, ९२, १२८, १५२, १८१
परमाणु ५१, १३०, १७४, १७६, १७७, १७८, १८१
परमाणुपरिमाण ९०
परापर ४३
परापर जाति ५१
परापर सामान्य ४५
परामर्श २८१, २८४
परिच्छिन्न परिमाण ८६
परिणामवाद ६२, ९५, ९६
परिमाण ३०, ३१
परिमाण्डल्य ८५, ८६
पांच कर्म ३२
पांच भूत १२९
पाश्चात्यदर्शन ३०१
पिठरपाक १६५
पीलुपाक १६४
पुरीतत् २९५
पुरुष २६८, २६९, २७३
पृथक्त्व ३०, ३१, १५३
पृथिवी २४, १५८, १६२, १६५, १६७, १६८, १८२
पौराणिक २८६
प्रकाशसंयोग ३२२
प्रकृति २६८, २६९, २७२
प्रतिज्ञा १३
प्रतियोगिता ६९, ३०६
प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनं-प्रसञ्जितप्रतियोगिकत्व ३३१
प्रतियोगी ६७
प्रतीत्यसमुत्पाद ६२
प्रत्यक्ष २८०, २८५, २८६, २९३, ३१५, ३३३
प्रत्यक्ष छै प्रकार का २८६
प्रत्यक्ष ज्ञान २९६, ३०१
प्रत्यक्ष में हेतु ३०७
प्रत्यभिज्ञा ३३६
प्रत्यासत्ति १०३, १०४, १०७, १०८, १०९
प्रत्यासन्न १०२
प्रभाकर १९, २०, ४९, ७४
प्रभाकरमीमांसा २८६
प्रमेय १८
प्रमेयत्व ७७, ७८
प्रयत्न ३०, ३१, २९९

प्रवृत्तिविज्ञान २४७, २४८
प्रशस्तपाद ३१, ३६, ४२, ४६, ५१, ५५, १५६
प्रशस्तपादभाष्य २१२, २१८
प्रागभाव २, १२, ६६, ६८, ७०
प्राचीननैयायिक ६, २६३
प्रायश्चित्त ६, ११
बर्कले २४५
बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्व १३२
बाह्यद्रव्य का प्रत्यक्ष ३२३
बाह्यपदार्थवादी २५३
बाह्यवस्तुवाद १७०
बाह्यवस्तुवादी २०
बाह्यार्थवाद ६३, ६४
बाह्यार्थवादी ६३
बुद्धि ३०, ३१, २६८, २७२, २७३
बौद्ध १७०, १७१, १७३, २४०, २५०, २५४, २८५
ब्रह्म २६१, २६२
भावना १५०
भावपदार्थ १७७
भाषापरिच्छेद १, ३
भास्वरशुक्ल २०४
भूतत्व का स्वरूप १३३
मङ्गल ४, ५, ६, ७, ८, १०, ११, १२
मङ्गलाचरण ६, ७, ८, १०
मनस् २४, २४३, २४५, २४६, २८२, २९९, ३२३
मनस् इन्द्रिय ३००
मनस् इन्द्रिय से ग्राह्य २६६
मनःसंयुक्तसमवायसन्निकर्ष ३२४
मनःसंयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष ३२४
मनःसंयोग ३२२, ३२४
मनोविज्ञान ३०१
महत्तत्त्व २६८, २६९
महत्परिमाण ८६, १३३, १५२, १७४, १८१, ३०७, ३१७, ३१८, ३१६, ३२२
महत्त्व ३०७
मानस प्रत्यक्ष २९७, ३०४, ३०५
मानस प्रत्यय १५२
मीमांसक ३३०
मूर्तपरिमाण १५३, १८१
युक्त ३४७, ३४८
युञ्जान ३४७, ३४८
योगज १३१, ३३३

योगजप्रत्यक्ष ३३४
योगज सन्निकर्ष ३४७
योगाचार २४५, २४६, २५१, २५४, २६०
योनिज १८३
रजस् २७४
रस ३०, ३१
रसना २०१
रसना इन्द्रिय २०२
राजीव १, ३
रसनासंयुक्तसमवाय ३२३
रसनासंयुक्तसमवेतसमवाय ३२४
रासन या चाक्षुषप्रत्यक्ष २९९
रूपहानि ४०
लक्षणा २६६
लक्षणावली १८
लिङ्ग का ज्ञान ९१
लौकिक प्रत्यक्ष १३१
लौकिक सन्निकर्ष १३१
वाक्य ३०३
वाचस्पतिमिश्र २८२
वात्स्यायन २८३
वात्स्यायनभाष्य १८
वायु २४, २१४, २१५, २१६
वायु के गुण १४९
विकारवाद ६६
विज्ञानवाद २४४, २४५, २४६, २४९
विधेय ३०३
विनिगमना २६०
विभाग ३०, ३१, १५४
विवर्तवाद ६२
विशिष्टवैशिष्ट्य ३०५
विशेष २, १७, ४४, ४५, ४६, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ८९, ११५
विशेषगुणवत्त्व १४८
विशेषणतावच्छेदक प्रकारक ३०५
विशेषणतासन्निकर्ष ३२६
विशेषणतासम्बन्ध ३१४, ३१६
विशेषपदार्थ ८८
विशेष्यविशेषणभाव ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४
वैशिष्ट्यानवगाहि ३०१
विश्वनाथ ३, ४, १०६, ११९
वेग १५०
वेगवत्त्व १२७
वेद ९, १०
वेदान्त १७०, २६०
वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली ३
वैधर्म्य ७६, १२३, १२४, १४८

वैशिष्ट्य ५८, ५९ ६०, ६१
वैशेषिक ५१, २८५, ३२५, ३२७
वैशेषिकसूत्र ४५, ५५
व्यक्ति का एकत्व ३६
व्यक्तियों की तुलना ३६
व्यतिरेक ७८, ११२
व्यभिचार १५
व्यवसायात्मक २८२
व्यापार ७, ३१५
व्यापार सन्निकर्ष ३१४
व्याप्तिज्ञान २८१, २९६, ३३५
व्यावर्तक ३०४
शक्ति १९, २२
शब्द ३०, ३१, २१९, २२०, २२१, २२२, २८५
शरीर २५८
शाब्दबोध २९६
शाब्दी २८३
शाब्दीप्रमा २८१, २८५
श्रीधर २४१
श्रोत्र २२३
श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवाय ३२४
संख्या ३०, ३१
संयुक्तविशेषणता ३१६
संयुक्तविशेषणाभावसन्निकर्ष ३१३
संयुक्तसमवायसन्निकर्ष ३१५, ३३७
संयुक्तसमवायसम्बन्ध ३१४
संयुक्तसमवेतसमवायसम्बन्ध ३१४, ३१६
संयोग ३०, ३१, ५३, १५४
संयोग सम्बन्ध ३१४
संवेदन ३०१
संसर्गाभाव ९, ११, १२, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९
संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष ३३०
संस्कार ३०, ३१, २३८, २३९, २५६
सङ्कर ३७, १८५
सत्कार्यवाद ६२, ९६, १६९
सत्ता ४१, ४२, ८२
सत्प्रतिपक्ष १४, १५
सत्त्व २७४
सन्तान २४८
सन्निकर्ष ३१९, ३२०, ३२२
समवाय २, १७, ५२, ५३, ५४, ६४, २८९, ३१४, ३१६, ३२४, ३२६, ३२७, ३३०
समवायिकारण १३, ९३, ९५, ९७, ९८, १००, १०१,

१०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १२२, १२३, १२४, १६०, १६१
समवायी ९५
समवेत ९५
समवेतसमवायसन्निकर्ष ३१६
समवेतसमवायसम्बन्ध ३१४
सम्वेदन ३०१
सर्वगतत्व १२८
सविकल्पक ज्ञान ३००
सविकल्पक प्रत्यक्ष २८३, ३०१, ३३६
सविषयकता २६०
सांख्य १६९, १७०, २७४, २८५
सात पदार्थ १७
सादृश्य १९, २१, २३, २४
साधर्म्य ७६, ७९, ८१, ८३, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३४, १४८
सामान्य २, ३, ३२, ४७, २२०
सामान्य का ज्ञान ९१
सामान्य का लक्षण ३३, १३१
सामान्य लक्षण अथवा
सामान्य लक्षण १३१, ३३३, ३३४, ३३६, ३३८, ३४०, ३४२, ३४३, ३४४, ३४६
सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति ३४१, ३४२
सामान्यलक्षण-सन्निकर्ष ९०, ३३५, ३३९, ३४०
सामान्यविशेष ४५, ४६, ५१
सामान्यविषयकज्ञान ३४०
साहचर्य नियम १६
सिद्धान्तमुक्तावली १, २, ३, १०९
सुख ३०, ३१, २९९
सुवर्ण २११, २१२
स्थितिस्थापक १५०
स्नेह ३०, ३१
स्पर्श ३०, ३१, २१४
स्पार्शन प्रत्यक्ष २९३, २९८, ३२३
स्मरण २५९
स्मृति २८१
स्वलक्षण ४९, ५०, ५१, १७०, १७१
स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध २८९, ३०७
स्वाश्रयसमवेतसमवाय-सम्बन्ध २९०, ३०७, ३०८
स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्वसम्बन्ध ३१९
स्वेदज १८३
हेतु १३
हेत्वाभास १३, १५

आदर्श प्रश्नावली

(१) न्याय-वैशेषिक के इतिहास में न्यायसिद्धान्तमुक्तावली का स्थान बताओ।*

(२) न्याय-वैशेषिक के पदार्थों का विभाग और स्वरूप निरूपण करो।

(३) शक्ति और सादृश्य को अलग पदार्थ क्यों नहीं माना गया ?

(४) 'सामान्य' के स्वरूप का निरूपण करो।

(५) सामान्य (जाति) के बाधकों का निरूपण करो।

(६) 'विशेष' पदार्थ का स्वरूप विशद रूप से समझाओ।

(७) 'विशेष' और बौद्धों के 'स्वलक्षण' की तुलना करो।

(८) 'समवाय' का मानना क्यों आवश्यक है ?

(९) न्याय-वैशेषिक में 'समवाय' सिद्धान्त का महत्त्व दिखाओ।

(१०) अभाव के विभाग तथा उनके अलग २ लक्षणों की व्याख्या करो।

(११) 'अभाव' की सिद्धि कर, 'भूतले घटाभावः' की नित्यता का निरूपण करो।

(१२) 'कारण' के लक्षण की व्याख्या करो।

(१३) असमवायिकारण का लक्षण दिखाते हुये स्वरूप निरूपण करो।

(१४) 'अन्यथासिद्ध' क्या है ? और कितने प्रकार का है ?

(१५) न्याय-वैशेषिक अवयवों से पृथक् अवयवी क्यों मानता है ?

(१६) परमाणुसिद्धान्त की स्थापना करो।

(१७) शरीर, इन्द्रिय और मनस् की चेतनता क्यों नहीं स्वीकार की जा सकती ?

---

* देखो 'भारतीय दर्शनशास्त्र— न्याय-वैशेषिक' इसी ग्रन्थ के लेखक द्वारा लिखित तथा इसी के प्रकाशक द्वारा प्रकाशित।

(१८) विज्ञानवाद का स्वरूप निरूपण करो।

(१९) न्याय-वैशेषिक के अनुसार विज्ञानवाद का खण्डन करो।

(२०) अद्वैतवाद का स्वरूप निरूपण कर उसका खण्डन करो।

(२१) सांख्य सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझाओ।

(२२) सांख्य सिद्धान्त का खण्डन किन युक्तियों के आधार पर किया गया है ?

(२३) ज्ञान के विभाग स्पष्ट रूप से दिखाओ तथा यह भी दिखाओ कि कौन २ दर्शन कितने २ प्रमाण मानता है।

(२४) प्रत्यक्ष के भेद दिखाते हुये यह बताओ कि किस किस पदार्थ का प्रत्यक्ष किस किस इन्द्रिय से होता है।

(२५) वहिरिन्द्रियजन्य द्रव्य प्रत्यक्ष मात्र में क्या कारण माना जाता है और क्यों ?

(२६) निर्विकल्पक ज्ञान का स्वरूप निरूपण करो।

(२७) लौकिक प्रत्यक्ष के छै सन्निकर्षों का वर्णन करो।

(२८) सामान्यलक्षण और ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष का लक्षण करते हुये उनका भेद दिखाओ।

———
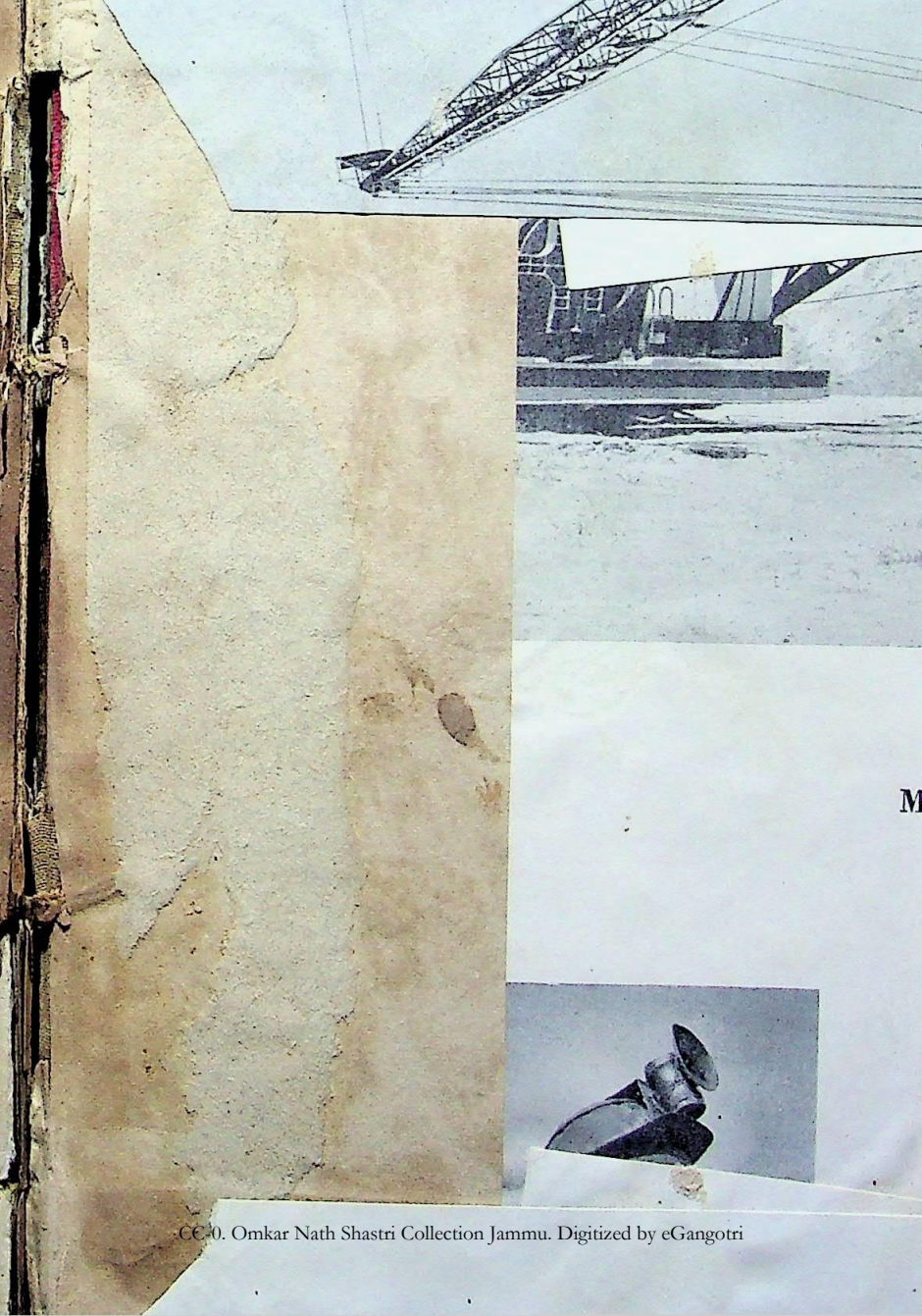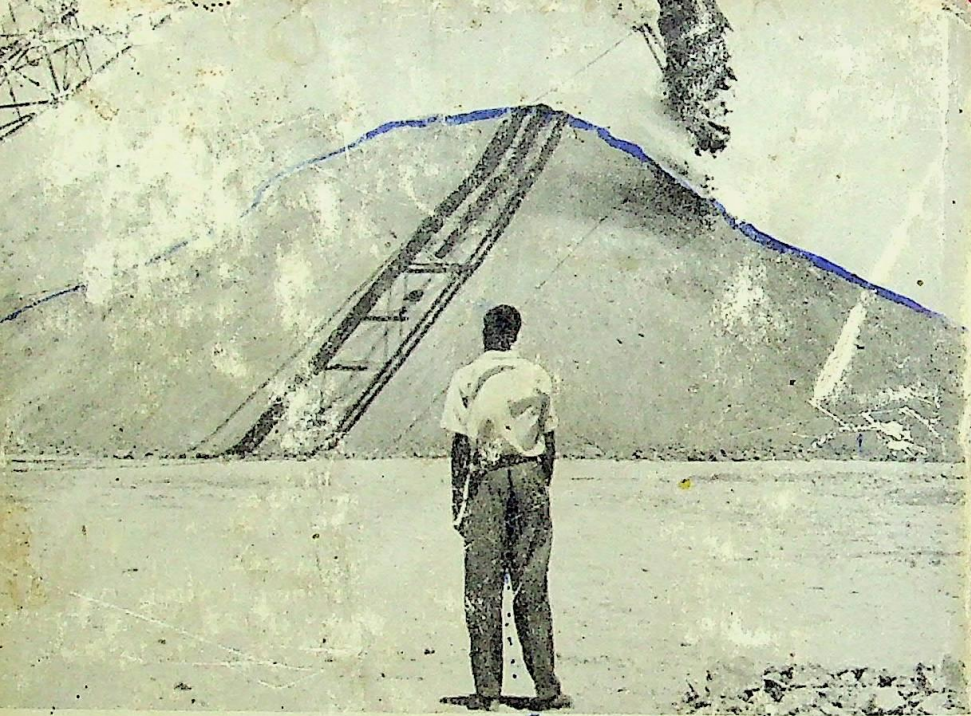
Drag-line excavator in a tin m

geria's few mi[illegible]s are all of importance to her economy. has been mined on the Jos Plateau in the north f[illegible] over 50 . In recent years about 11,500 tons have been exported annually t 5 per cent of to[illegible] world exports of tin). The quantity [illegible] limited for the last two years by a quota imposed under the national Tin Agreement. Columbite, which is found with the re, and was formerly thrown away as waste, has been dis- ed to be very valuable in toughening steel to resist the high ures and temperatures generated in jet aeroplane engines. nbite is therefore of great strategic importance and Nigeria ices 80 per cent of world supplies; however, demand uates widely and columbite cannot be accounted a constant y-sp[illegible].

al is mined at Enugu in the East. Production is about 850,000